ग्रंथ संख्या—८०
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
संवत्, १९९७
मू० ३)

मुद्रक
कृष्णाराम मेहता
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ऋग्वेद काल का भारत

दक्षिणीय समुद्र

पूर्वीय समुद्र

दक्षिण भारत

(जलमग्न)
गोंडवाना महाद्वीप
(?)

समुद्र
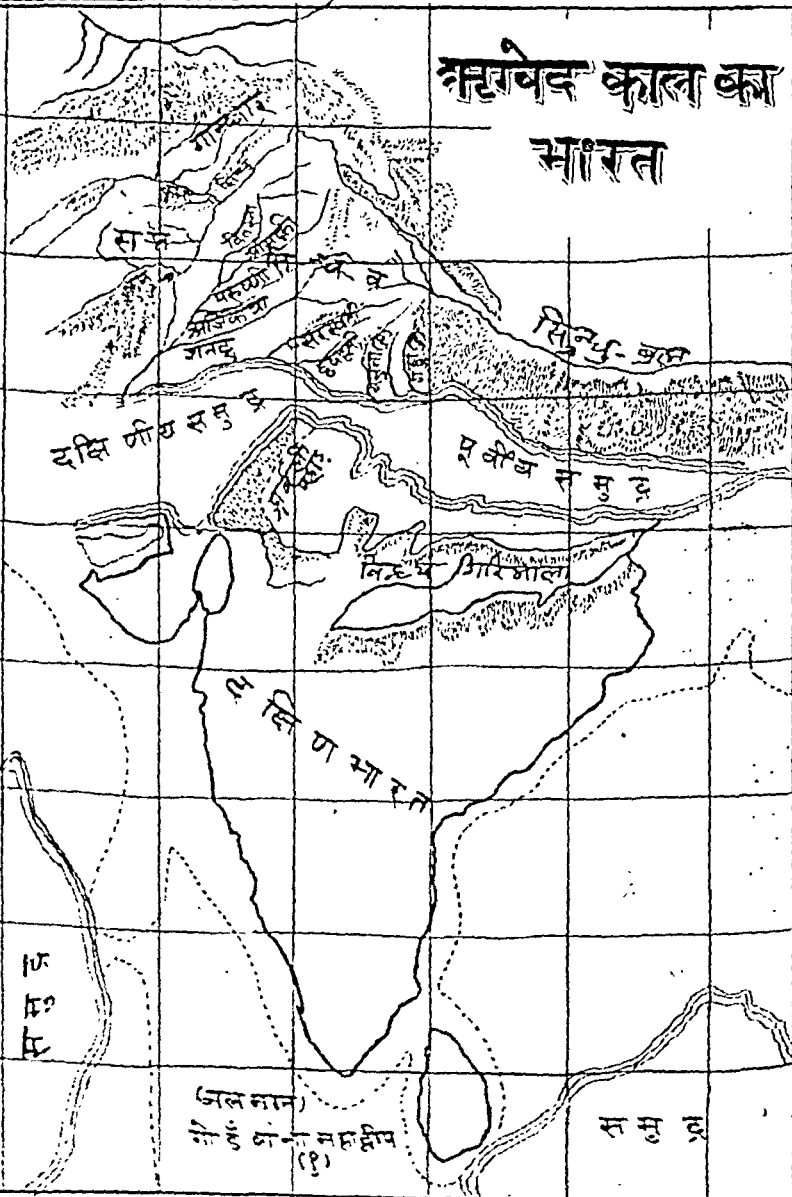
भूमिका

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥

आर्य्याय ब्रह्मसाराय, निधीनाम्पतये नमः ।

नमो आत्याय रुद्राय, विघ्नशूलविनाशिने ॥

इस पुस्तक का विषय नया नहीं है। एक ओर वह लोग हैं जिनको थोड़ी या बहुत आधुनिक शिक्षा मिली है। इनकी यह धारणा है कि आर्य्य लोग इस देश में आज से लगभग ३५००—४००० वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम की ओर से आये। इसके पहिले वह लोग मध्य एशिया में रहते थे। वहां संख्या की वृद्धि और खाद्य सामग्री की तज्जनित कमी के कारण सब आर्य्यों का रहना कठिन हो गया। इस लिये उनकी टोलियां इधर उधर जाने लगीं। जो टोलियां सुदूर पश्चिम की ओर गयीं उनके वंशज आज कल के यूरोपियन राष्ट्र हैं। जो लोग ईरान और भारत की ओर आये उनकी संतान ईरानी और भारतीय आर्य्य हुए। भारत की विशेष परिस्थिति में जिस संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ वही पीछे चलकर हिन्दू संस्कृति और सभ्यता कहलायी। इस भारतीय शाखा की सबसे बड़ी निधि वेद, विशेषतः ऋग्वेद, है। यह आर्य्यों का ही नहीं, पृथिवी का सबसे पुराना ग्रंथ है। इससे हमको प्राचीन आर्य्य समाज, अर्थात् आर्य्यों के आज से चार हज़ार वर्ष पुराने जीवन, के विषय में बहुत सी बातें अवगत होती हैं।

ग्रामीण पाठशालाओं से लेकर विश्व-विद्यालयों तक यही बात पढ़ायी जाती है। वेदों में क्या लिखा है इसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, वैदिक सभ्यता की प्राचीनता में दो चार सौ वर्ष घटाने बढ़ाने की बात सुन पड़ती है परन्तु आर्य्यों का बाहर से आकर भारत पर आक्रमण

करना और धीरे धीरे यहां के आदिम निवासियों को जीत कर स्वयं उन का स्थान ले लेना ध्रुवसत्य माने जाते हैं। आर्य्यों का मूल देश कौन था इस पर भी कुछ शास्त्रार्थ होता रहता है पर यह भी पाश्चात्य विद्वानों का ही वाग्विलास है। अधिक मत इस पक्ष में है—और हम भारतीयों को यही पढ़ाया जाता है—कि आर्य्यों का प्रवास मध्य एशिया से हुआ था। वर्तमान दूषित वातावरण में इस शिक्षा का कुपरिणाम राजनीतिक क्षेत्र में भी अवतरित हुआ है। हिन्दू समाज के उस अंग के, जो दलित या अस्पृश्य कहा जाता है, कुछ प्रमुख व्यक्ति इस बात पर ज़ोर देने लगे हैं कि द्विजों के पूर्वज बाहर से आये थे अतः ब्राह्मणादि उच्च वर्ण उसी प्रकार विदेशी हैं जिस प्रकार पठान या मुग़ल या अंग्रेज़। अपने को आदिवासी या आदि हिन्दू कहलाने का भी थोड़ा बहुत आन्दोलन है।

दूसरी ओर हमारा पण्डित समाज है। इसने कभी इस प्रश्न पर विचार करने का कष्ट ही नहीं किया कि सचमुच आर्य्यों का आदि निवास कहां था। यह धारणा तो दृढ़ है कि आर्य्य इसी भारत के रहने वाले थे परन्तु इस मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया जाता। जो प्रमाण दूसरे लोग अपने अपने मत के समर्थन में पेश करते हैं उनके खण्डन करने का भी कोई प्रयास नहीं किया जाता। इस लिये इस प्राचीन मत की जड़ खोखली होती जा रही है। हमारी बात सत्य है, इतने से ही काम नहीं चलता, यह भी आवश्यक है कि दूसरे लोग उस की सत्यता को स्वीकार करें। इस समय तो दशा यह है कि प्रमाण देना तो दूर रहा, पण्डित समाज कोई मत रखता भी है या नहीं, इसका भी किसी को पता नहीं है।

आधुनिक युग में एक ही भारतीय विद्वान् ने इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूपसे विचार किया है। वह थे लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक। उन्होंने प्राचीन भारतीय मत का समर्थन नहीं किया परन्तु प्रचलित पाश्चात्य मत का खण्डन किया। जिस मत का उन्होंने प्रतिपादन किया उसका सारांश यह है कि किसी समय पृथिवी का वह भाग जो उत्तरीय ध्रुव के पास है मनुष्यों के बसने योग्य था। आर्य्य लोगों का आदि देश वहीं

था। जब वहां हिम और सर्दी का प्रकोप बढ़ा तो आर्य्य लोगों को हटना पड़ा। कुछ यूरोप में बसे, कुछ ईरानी हुए, कुछ भारत में आये। उन्होंने यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया कि वैदिक सभ्यता की प्राचीनता लगभग दस हजार वर्ष तक जाती है।

यूरोपियन विद्वानों ने तिलक के प्रगाढ़ पाण्डित्य की श्लाघा तो की परन्तु उनके मत को प्रायः स्वीकार नहीं किया। यह कोई आश्चर्य्य और दुःख की बात नहीं थी। वादे वादे जायते तत्वबोधः। सत्य का निर्णय एक ही दिन में नहीं होता। दुःख की बात यह है कि भारतीय पण्डित समाज ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। तिलक ने क्या कहा यह समझने की न तो उसमें क्षमता थी, न उसने कोई प्रयास किया। मैंने ऐसा सुना है कि एक विद्वान् ने कहा था—बालसिद्धान्तस्तु बालसिद्धान्त एव—बाल (गङ्गाधर तिलक) का सिद्धान्त तो बालकों का ही सिद्धान्त है। यदि यह कथन सत्य भी हो तब भी शास्त्रीय ढंग से गम्भीरता के साथ समीक्षा करनी थी—हँसी उड़ाने से अपनी ही बात हल्की पड़ती है। इस पुस्तक में मुझे तिलक का कई अध्यायों में खण्डन करना पड़ा है। इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि मैं उनके पाण्डित्य की बराबरी करने का दुःसाहस करता हूँ। यदि उनके ही निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करके मैं उनसे भिन्न परिणाम पर पहुँचा हूँ तो इससे उनके प्रति जो मेरी श्रद्धा है उसमें कोई कमी नहीं होती।

तिलक के बाद जिन भारतीयों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, उनमें स्वर्गीय अविनाशचन्द्र दास का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। उन्होंने इस प्राचीन भारतीय मत का ही समर्थन किया है कि आर्य्य लोग भारत के ही निवासी थे। अपनी पुष्टि में उन्होंने भूगर्भ शास्त्र के अनुसन्धानों का अच्छा उपयोग किया है। प्रसङ्गतः उनको पाश्चात्य विद्वानों और तिलक का भी खण्डन करना पड़ा है।

दास के इस अनुशीलन का भारतीय, विशेषतः पण्डित, समाज में जो समादर होना चाहिये था वह न हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई इस प्रश्न के महत्त्व को समझता ही नहीं। पाश्चात्य विद्वानों

ने इसका प्रकृत्या विरोध किया। मुझे 'प्रकृत्या' कहते क्षोभ होता है पर विवश होकर ऐसा करता हूँ। यह एक कटु सत्य है। विद्वन्मण्डली में भी कई रूढ़ियों का दुर्भेद्य आधिपत्य है। इन्ही रूढ़ियों में यह भी है कि आर्य्य लोग भारत के बाहर से आकर यहां बसे। दूसरी रूढ़ि जो उतनी ही प्रबल है यह है कि भारतीय सभ्यता मिश्र या इराक़ की पुरानी सभ्यताओं की अपेक्षा पीछे की है। इन रूढ़ियों के विरुद्ध कोई तर्क पश्चिमवालों के मन में कम ही जमता है। आर्य्य लोग भारत के निवासी थे, ऐसा मानने में तो उन्हें और भी कठिनाई पड़ती है। सैकड़ों वर्षों के सांस्कृतिक, और राजनीतिक मूढ़ग्राह जो अन्तःकरण के अन्तस्तल में छिपे पड़े हैं ऐसा मानने से रोकते हैं। यदि यह बातें भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखतीं तो आक्षेप करने वाला प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा निरुत्तर किया जा सकता था परन्तु प्राचीन इतिहास के क्षेत्रों में जहां यूरोप के विद्वानों ने अपना कुछ मत बना लिया है किसी भारतीय का उनके विरुद्ध चल कर मान्यता प्राप्त करना इस समय तक असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य रहा है।

जो कुछ भी हो, मैंने इस पुस्तक में उसी प्राचीन मत का प्रतिपादन किया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अब तक एतद्विषयक जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है वह इसी पक्ष का समर्थन करती है कि आर्य्य सप्तसिन्धव के निवासी थे।

पुस्तक की शैली के विषय में मुझे दो एक बातें कहनी हैं। मध्य-एशियावाद के खण्डन में मैंने बहुत विस्तार नहीं किया है क्योंकि मुझे वह सब से दुर्बल और अल्पप्रमाण प्रतीत होता है। यदि उसके पक्ष में पुष्ट प्रमाण होते तो खण्डन भी उसी मात्रा में करना पड़ता। तिलक के मतका खण्डन कई अध्यायों में किया गया है। इस विषय में मैंने दास का अनुकरण किया है, जिनकी पुस्तक से मुझे पदे-पदे बड़ी सहायता मिली है। मैं उनका वस्तुतः ऋणी हूँ। यदि 'ऋग्वेदिक इण्डिया' मेरे सामने न होती तो मेरा श्रम दस गुना बढ़ जाता। अस्तु, तिलक के मत के विस्तृत विवेचन का एक कारण और है। वह एक ऐसे विद्वान हैं

जिन्होंने अपने मत के समर्थन में वेदों के विश्लेषण करने की आवश्यकता का अनुभव किया। हम उनकी व्याख्याओं से भले ही सहमत न हों पर उनकी निरुक्तिशैली की विशेषताओं को तो स्वीकार करना पड़ेगा। उनके मत की विवेचना करने में वेदमंत्रों के अर्थों पर विचार करने का अवसर मिलता है। सामान्यतः पढ़ी लिखी जनता भी यही समझती है कि वेदों में कर्म्मकाण्ड या पूजापाठ की ही बातें होंगी। ऐसे लोगों को वेद मंत्रों में से हजारों वर्ष पहिले का इतिहास निकलते देख कर आश्चर्य्य होगा। उनका कुछ-कुछ इस बात का भी परिचय मिलेगा कि पूजा पाठ और कर्म्मकाण्ड के सिवाय वेदों में और क्या क्या है।

वेदों में अगाध ज्ञानसामग्री भरी पड़ी है। उनमें हमारे धर्म्म का भण्डार तो है ही, अन्य विषयों पर भी जिनका ऐहिक जीवन से संबंध है, गहरा प्रकाश पड़ सकता है। खेद की बात है कि वेदों के पठन-पाठन का क्रम उठ सा गया है। विद्वत्समाज वेदों के स्वतःप्रामाण्य की दुहाई तो देता है पर उनको पढ़ता नहीं। मुँह से भले ही नाम लिया जाय परन्तु समाज में वेदों का आदर नहीं है। 'यह हीरा है इसे सबके सामने मत खोलो, पेटी में बन्द करके रक्खो' कहते-कहते हीरे के रक्षकों ने पेटी खोलना ही बन्द कर दिया। यदि यही दशा रही तो थोड़े दिनों में उन्हें हीरे की पहिचान ही न रह जायगी। यह कम ग्लानि की बात नहीं है कि अब भी हमको कई प्राचीन ग्रंथों के विदेशों में मुद्रित संस्करणों से सहायता लेनी पड़ती है। यदि इस पुस्तक के द्वारा मैं कुछ लोगों में वेदों के अध्ययन का प्रेम जगा सकूँ तो अपने को धन्य मानूंगा।

मेरा यह दावा नहीं है कि अब इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय हो गया। मैंने तो अपनी बुद्धिके अनुसार अब तक प्राप्य सामग्री की विश्लेषण किया है और इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आर्य्य लोग भारत के ही निवासी थे। इसमें मेरा कोई दुराग्रह नहीं है। हमको सदैव अनुसन्धान का स्वागत करना चाहिये।

ऋग्वेद से जो अवतरण लिये गये हैं उनमें सुविधा के लिये मण्डल, सूक्त और मंत्र की संख्या दे दी गयी है। जैसे ऋक १-१०,५ का अर्थ

हुआ ऋग्वेद प्रथम के मण्डल के दशम सूक्त का पांचवाँ मंत्र। इस पुस्तक में समयनिर्देश प्रायः विक्रम संवत् के अनुसार हुआ है। यदि अंग्रेज़ी सन् जानना हो तो दिये हुए अंक में से ५७ घटा लेना चाहिये। विक्रम संवत् के आरम्भ से पहिले का काल विक्रमपूर्व के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

मेरा ध्यान तो इस विषय की ओर उसी समय आकृष्ट हुआ जब मैं स्कूल में पढ़ता था। हमारी इतिहास की पोथी में हिन्दू काल समूचे आयतन का स्यात् दशांश भी न था। उसमें हमारे पूर्वजों के संबंध में इतना ही निश्चित रूप से बतलाया गया था कि वह लोग लगभग ३५०० वर्ष पूर्व मध्य एशिया से आये थे और आग, पानी, बिजली, बादल को पूजते थे। मुझे यह दोनों ही बातें निराधार जँचती थीं, यद्यपि अपनी धारणा के लिये उस समय मेरे पास कोई पुष्ट प्रमाण न था। कई वर्ष बाद लोकमान्य तिलक की 'ओरायन' और 'आर्क्टिक होम इन दि वेदज़' देखने में आयीं। इससे अभिरुचि और बढ़ी। तबसे यथावकाश इस विषय का अनुशीलन करता रहा हूँ और अपना मत निश्चित करने के उपरान्त हिन्दी में इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने के विचार से उपयुक्त सामग्री का भी संग्रह करता रहा हूँ। परन्तु अनेक बाधाएं पड़ती गयीं और पुस्तक आरम्भ न हो सकी। गत वर्ष कांग्रेस मंत्रिमंडल के त्यागपत्र देने पर कुछ अवकाश मिला तो मैंने इस काम में हाथ लगाया। परन्तु समुचित एकाग्रता फिर भी न मिल सकी। मेरी पत्नी का देहावसान हुए तीन चार मास ही हुए थे और मेरी बड़ी लड़की ऐसी रोगशय्या पर पड़ी थी जो उसकी मृत्युशय्या होकर ही रही। सत्याग्रह आन्दोलन का छिड़ना आसन्न था, इसलिये समाप्त करने की भी जल्दी थी। ऐसी अवस्था में बहुतसी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। प्रूफ़ देखने की व्यवस्था कर देने के लिये मैं जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट, डा० यशोदा नन्दन श्रीवास्तव्य, का आभारी हूँ। परन्तु जेल में सब आधार-पुस्तकें नहीं पहुँच सकती थीं। इसलिये बहुत सम्भव है कि

कुछ भूलें जो अन्यथा शुद्ध कर दी जातीं, यों ही रह गयी हों। आशा है विज्ञ पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

अन्तिम प्रूफ़ को देखने में मुझे डा० कैलासनाथ काटजू से बड़ी सहायता मिली है। इस कृपा के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

सेण्ट्रलप्रिज़न, फ़तहगढ़
१३ फाल्गुन (सौर),
१९९७

सम्पूर्णानन्द

समर्पण

अपनी स्वर्गीया पत्नी

सावित्री को,

जिनकी स्मृति पिछले चिन्ताव्याप्त

महीनों में मेरी सततसङ्गिनी रही है

और

अपनी स्वर्गीया पुत्री

मीनाक्षी को,

जिसकी रोगशय्या के पास बैठ कर

ही इसका अधिकांश लिखा गया है

मैं

यह पुस्तक समर्पित करता हूँ।

विषय-सूची

आधार पुस्तकों की सूची

इस पुस्तक का मुख्य आधार ऋग्वेद है। उसके सिवाय स्थल-स्थल पर यजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, शतपथ ब्राह्मण, ब्रह्मसूत्र, मनुस्मृति आश्वलायन श्रौत सूत्र तथा अन्य श्रौत स्मार्त ग्रंथों से भी सहायता ली गयी है। इसका यथास्थान परिचय दे दिया गया है। इनके अतिरिक्त निम्न-लिखित पुस्तकों का भी विशेष उपयोग किया गया है:

ई० बी० टेलर कृत ऐन्थोपॉलोजी

बी० सी० चाइल्ड ,, दि आर्य्यंस

एच० रिज्ली ,, दि पीपुल आव इण्डिया

इहेरिंग ,, दि ईवोल्यूशन आव दि आर्य्यंस

ऐण्डर्सन ,, दि स्टोरी आव एक्स्टिंक्ट सिविलाइज़ेशंस आव दि ईस्ट

ई० ओ० जेम्स ,, ऐन इण्ट्रोडक्शन टु ऐन्थ्रोपॉलोजी

डार्मेस्टेटर (अनूदित) दि ज़ेन्द अवेस्ता

हचिंसन कृत हिस्टरी आव दि नेशंस

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन (प्रकाशित) भारतीय अनुशीलन

बालगङ्गाधर तिलक कृत दि आर्क्टिक होम इन दि वेदज़

ए० सी० दास ,, ऋग्वेदिक इण्डिया

सर जॉन मारशल ,, महेञ्जोदरो ऐण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन

एल० ए० वेडेल ,, इण्डो-सुमेरिअन सील्स डेसाइफर्ड

आर्यों का आदि देश

सुमेर के विकशन (विष्णु ?) नामक देव का चित्र

महेञ्जोदरो में प्राप्त महादेव की मूर्ति

पहिला अध्याय

मनुष्य की उप-जातियाँ

हमारी भाषा में जाति भी एक विचित्र शब्द है। यह इतने विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है कि इसके लिये विदेशी भाषाओं में कोई एक पर्य्याय मिल ही नहीं सकता। हम अंग्रेज़ जाति, हिन्दू जाति, राजपूत जाति, ब्राह्मण जाति आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन प्रसङ्गों में 'जाति' का अर्थ एक नहीं है। अंग्रेज़ जाति, जर्मन जाति कहते समय हमारा तात्पर्य्य 'राष्ट्र' से रहता है, जो अंग्रेज़ी के 'नेशन' का पर्य्याय है। हिन्दू और मुस्लिम, इसाई और बौद्ध सम्प्रदाय हैं। अतः इस प्रकरण में 'जाति' का प्रयोग एक सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों के लिये होता है। राजपूत या जाट कुछ ऐसे मनुष्य हैं जिनमें खान पान आचार आदि में बहुत कुछ समता है, जो आपस में विशेष नियमों के अनुसार वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं और जो अपने को एक या एक से अधिक विशिष्ट व्यक्तियों के वंशज मानते हैं। इस प्रकार यह शब्द अंग्रेज़ी के 'ट्राइब' या 'क्लैन' का समानार्थक हुआ। ब्राह्मण, कायस्थ आदि वर्ण या उपवर्ण हैं। इन नामों के साथ मिलनेपर जाति शब्द अंग्रेज़ी के 'कास्ट' के अर्थ का बोध कराता है। यहाँ पर इस शब्द के अंग्रेज़ी पर्य्यायों के देने का इनता ही अभिप्राय है कि यह बात स्पष्ट हो जाय कि जहाँ विदेशी भाषाओं में कई शब्दों से काम लिया जाता है वहाँ हम लोग असावधानी से एक ही शब्द का व्यवहार कर दिया करते हैं। इससे इसकी परिभाषा करना कठिन हो जाता है।

न्याय के आचार्य्यों ने कहा है 'समान-प्रसवात्मिका जातिः'—जाति समानप्रसवात्मा है, अर्थात् जिन जिन का प्रसव—जन्म—

समान है, एक प्रकार से होता है, वह एक जाति के हैं। यहाँ सब कुछ 'प्रसव' और 'समान प्रसव' के अर्थ पर निर्भर है। बनस्पति और पशु दोनों प्रकार के प्राणी किसी न किसी प्रकार से अपने पूर्वज के शरीर से उत्पन्न होते हैं। अतः सब की जाति एक है। माता के डिम्माणु और पिता के शुक्रकीट के संयोग से उत्पन्न होने वाले तो सभी जीव—मनुष्य, सिंह, साँप, कौआ—एकजातीय माने जाने चाहियें। इससे भी संकीर्ण क्षेत्र में देखा जाय तो माँ का दूध पीने वालों में, चाहे वह मनुष्य हों या कुत्ते, चूहे हों या ऊँट, किसी भी प्रकार का प्रसवभेद नहीं देख पड़ता। इसलिये इस दृष्टि से तो इन सब को एक ही जाति में परिगणित करना चाहिये। पर यह अर्थ भी बहुत व्यापक है। इसके अनुसार तो मनुष्य की भी कोई पृथक जाति नहीं रह जाती।

यदि 'जाति' को अंग्रेज़ी के 'स्पीशीज़' का समानार्थक मान लें तो प्राणिशास्त्र में इसका एक ऐसा लक्षण मिलता है जो व्यवहार की दृष्टि से उपयोगी है। यदि यह निर्णय करना हो कि दो प्रकार के जीव एक जाति के हैं या भिन्न जातियों के तो यह देखना चाहिये कि इनमें यौन सम्बन्ध होता है या नहीं। यदि नहीं होता तो उनकी जातियाँ भिन्न हैं। यदि होता है तो यह देखना होगा कि इस सम्बन्ध से सन्तान होती है या नहीं। यदि सन्तान नहीं होती तो भी उनकी जातियाँ भिन्न हैं। यदि सन्तान होती है तो यह देखना चाहिये कि सन्तान को सन्तान होती है या नहीं। यदि नहीं होती तो उनकी जातियाँ अवश्य भिन्न हैं। इसका एक उदाहरण ऐसा है जिससे सभी परिचित हैं। घोड़ों और गधों में यौन सम्बन्ध भी होता है और सन्तति भी होती है पर इस सन्तति—खच्चर—को सन्तान नहीं होती। इसलिये घोड़े और गधे भिन्नजातीय हैं। पर किसी भी दो प्रकार के घोड़े हों उनकी वंश परम्परा बराबर चलती रहेगी। अतः सब घोड़े समजातीय हैं। इस कसौटी पर रखने से मनुष्य की दूसरे प्रकार के प्राणियों से विषम-जातीयता तत्काल प्रमाणित हो जाती है। मनुष्य मनुष्य के साथ ही यौन संबंध द्वारा वंशोत्पादन कर सकता है।

इस परख से एक बात और भी सिद्ध हुई जो बड़े महत्त्व की है। सभी मनुष्य एक जाति के हैं। रंग, रूप, वर्ण, विद्या, धन, बल, अधिकार आदि में लाख भेद हों परन्तु सभी प्रकार के स्त्री पुरुषों में यौन सम्बन्ध हो सकता है और स्थायी वंश परम्परा चलायी जा सकती है। समाज ने चाहे जितने भेद मान रक्खे हों पर प्रकृति को इन भेदों का पता नहीं है। उसकी दृष्टि में सब मनुष्यों की एक जाति है। विज्ञान भी ऐसा ही कहता है।

ऐसा अनादि काल से चला आता है, ऐसा कोई नहीं कहता। प्राणि-शास्त्र के विद्वानों का मत है कि मनुष्य को उत्पन्न हुए तीन लाख वर्ष या इससे कुछ थोड़ा अधिक हुआ। तीन लाख नहीं पाँच लाख या दस लाख सही, आरम्भ में सम्भवतः भिन्न भिन्न स्थानों में मनुष्य या उससे मिलती जुलती भिन्न भिन्न प्राणि-जातियाँ उत्पन्न हुईं। भूगर्भ के अध्ययन से ऐसा ही अनुमान होता है। प्रकृति ऐसे प्रयोग करती ही रहती है। न जाने कितने खिलौने बनाती है और बिगाड़ती है तब जाकर कोई एक स्थिर जाति बना पाती है। आज कल की सभी पशु पक्षि जातियों का ऐसा ही इतिहास है। अस्तु, यह कई मनुष्यसम—पुराने शब्दों में, किम्पुरुष, किन्नर—जातियाँ उत्पन्न हुईं और फैलीं परन्तु प्रकृति को उनमें से अधिकांश पसन्द न आयीं। वह तत्कालीन जीवन संग्राम का सामना करने में असमर्थ रहीं अतः नष्ट हो गयीं। केवल एक वह जाति बच रही जो परिस्थिति के पूर्णतया अनुकूल थी। उसी के वंशज मनुष्य हैं। एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी मनुष्य एक ही पूर्वजों की संतान हैं या भिन्न भिन्न? इस प्रश्न का अर्थ यह है कि आरम्भ में मनुष्य जाति पृथ्वी के किसी एक देश में पैदा होकर वहाँ से सारे भूमण्डल पर फैल गयी या एक ही साथ पृथ्वी के विभिन्न प्रदेशों में मनुष्य पैदा हुए? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। पशुओं की तो कई जातियों के विषय में यह ज्ञात है कि यह अमुक प्रदेश से दूसरे देशों में फैली परन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है। यह भी एक प्रश्न है कि यदि सब मनुष्य एक ही पूर्वजों के वंशज हैं तो वह

कौ सा भाग्यशाली भू-भाग था जहाँ मनुष्य का पहिले पहिले अवतार हुआ। यह सब रोचक प्रश्न हैं। अपना लाखों वर्ष का इतिहास रोचक होना ही चाहिये। परन्तु कोई निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य किसी एक जगह से चारों ओर छिटके हैं तो उनको एक दूसरे से पृथक् हुए लाखों नहीं तो पचासों हज़ार वर्ष तो अवश्य ही हो गये। इस समय इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूल में. चाहे जैसे उत्पत्ति हुई हो मनुष्यमात्र की एक जाति है।

परन्तु ऐसा होते हुए भी मनुष्य मनुष्य में कई प्रकार के भेद हैं। कुछ प्रत्यक्ष हैं, कुछ परोक्ष, कुछ एक ही शरीर में मिट जाते हैं, कुछ दो तीन पीढ़ी में दूर होते हैं; कुछ के दूर होने की सम्भावना में भी सन्देह है। कुछ भेद व्यक्ति व्यक्ति के विभाजक हैं, कुछ समुदाय समुदाय के। आपस में विद्या, बुद्धि, धन आदि अनेक प्रकार के भेद होते हुए भी सब अंग्रेज़सब जर्मनों से भिन्न हैं। यहाँ जो वस्तु विभाजक है उसका नाम पृथक् राष्ट्रीयता है। इसी प्रकार और बातों के साथ राष्ट्र-भेद होते हुए भी सब मुसल्मान सब ईसाइयों से भिन्न हैं क्योंकि दोनो समुदायों में सम्प्रदाय भेद है।

राष्ट्र और सम्प्रदाय की ही भाँति एक और विभाजक भी है जो इन दोनों से भी अधिक व्यापक है। जब एक अंग्रेज़ और एक हबशी से भेंट होती है, जब एक भारतीय और चीनी से सामना होता है, भारत में ही जब एक भारतीय ब्राह्मण या राजपूत किसी डोम या भील गोंड से मिलता है, तो दोनों के चित्त में एक विचित्र भाव उठता है। एक प्रकार के अजनबीपन का अनुभव होता है। दोनों ही एक से शिक्षित, एक से सम्पन्न, एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी, एक ही राज के नागरिक हों, उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार मिलते हों, फिर भी यह भाव नहीं जाता। यह बात केवल रंग के भेद से ही नहीं होती। अमेरिका में ऐसे हबशी हैं जिनके कुल वहाँ आज १५०-२०० वर्ष से रह रहे हैं। उनके और अमेरिका के अंग्रेज़ों के रंग में बहुत

कम भेद है। भारत के बहुत से ब्राह्मण क्षत्रियों का रंग गोंड भील के रंग से अधिक गोरा नहीं होता। फिर भी भेद का अनुभव होता है और खिंचाव होता है।

इस अनुभूति के कुछ कारण तो प्रत्यक्ष हैं। इनमें सब से पहिला स्थान रंग का है। कुछ मनुष्य—व्यक्ति ही नहीं वरन् लाखों व्यक्तियों के समुदाय—गोरे होते हैं, कुछ गेहुँआँ, कुछ पीले, कुछ ताँबे के रंग के, कुछ काले। यह ठीक है कि रंग का बहुत बड़ा सम्बन्ध देश के जल वायु से है। ठंडे देश में जाकर कालों का रंग भी कुछ खिल जाता है और उनकी सन्तान धीरे धीरे गोरी हो चलती है; गरम देश में आकर गोरों का रंग भी सांवला हो जाता है और उनकी सन्तान भी धीरे धीरे काली होने लगती है। फिर भी रंग की ओर सब से पहिले दृष्टि जाती है। यूरोप के गोरे मनुष्य सभी रंगीन मनुष्यों को अपने से भिन्न और छोटा मानते हैं। इसका राजनीतिक कारण भी है। आज यूरोप वालों का एशिया और अफ्रीका पर आधिपत्य है। उनको डर है कि एक दिन इन महाद्वीपों के पीले गेहुआँ बादामी और काले आदमी स्वतंत्र हो जायंगे और गोरों से बदला लेंगे। पर इस राजनीतिक डर के साथ ही रंग-द्वेष स्वतंत्र रूप से भी वर्तमान है। अफ्रीका में बादामी रंग के अरबों को काले रंग के हब-शियों के प्रति ऐसा ही भाव होता है। यह बात हम भारत में भी देखते हैं। जो लोग प्रायः गोरे होते हैं वह उनके साथ जो प्रायः काले होतेहैं मेल नहीं खाते। बादमी या गेहुँआँ या साँवला रंग तो गोरे रंग के उपभेद मान लिये जाते हैं परन्तु काला रंग तो नितान्त भिन्न समझा जाता है। काले रंग के साथ एक और बात हो गयी है। जिन लोगों ने संस्कृति और सभ्यता की उन्नति में भाग लिया है; जो दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रों में अपनी कृतियाँ छोड़ गये हैं; जिन्होंने जगद्व्यापी सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया है; जिनके हाथों स्थापित सम्राज्यों की गाथाओं से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं; जिनकी गोद में वह प्रसिद्ध महापुरुष पले जिनका प्रभाव करोड़ों मनुष्यों के जीवन पर पड़ा है, वह सब गोरे या

पीले या बादामी रंग के थे। भारतीय आर्य्य, चीनी, मिश्री, यहूदी, अरब यूनानी, जापानी, ईरानी, रोमन, तुर्क, अंग्रेज़, जर्मन, फ्रांसीसी सभी प्राचीन, अर्वाचीन और अधुनिक उन्नत राष्ट्र जिनका इतिहास मानव सभ्यता का इतिहास है इन्हीं रंगों के भीतर आते हैं। यदि शुद्ध काले लोगों ने स्वतंत्र रूप से कभी उन्नति की थी तो इतिहास का वह अध्याय लुप्त है; कम से कम उसका प्रभाव उनके पड़ोसियों पर नहीं पड़ा। अमेरिका के ताम्रवर्ण वालों ने भी एक प्रकार की सभ्यता का विकास किया था। उनका देश छीन लेने पर भी यूरोपियनों को उनके लिए कुछ हद तक आदर था परन्तु कालों की किसी सभ्यता का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। वह या तो जंगली अवस्था में पाये गये या दूसरे रंग वालों के अधीन। इन बातों का ऐसा परिणाम निकला कि काला रंग अवनति, अप्रगति, संकीर्णता आदि का द्योतक हो गया और घृणास्पद हो गया। लोग काले रंग वालों को छोटा और अपने से सर्वथा भिन्न समझने लगे हैं।

परन्तु रंग अकेला नहीं रहता। उसके साथ और भी कई बाहरी विशेषताएं पायी जाती हैं। कुछ लोगों की नाक चपटी होती है, कुछ की आँखें छोटी और तिरछी होती हैं, कुछ के होठ मोटे होते हैं, कुछ के बाल ऊन जैसे होते हैं। हबशियों, अर्थात् शुद्ध काले रंग वालों, के होंठ मोटे और बाल ऊन जैसे होते हैं। पीले रंग वालों की नाक चपटी, आँख छोटी और तिरछी और गाल पर की हड्डी उभरी होती है। जल वायु के प्रभाव से रंग बदल जाने पर भी यह बातें रह जाती हैं। इस लिये पहिचान हो जाती है। हमारे देश में भोटियों का रंग अब पीला नहीं रहा है परन्तु और बातों में, अर्थात् नाक आंख की बनावट तथा गाल की हड्डी के उभार में वह अब भी चीनियों से मिलते हैं।

और भी कई भेद हैं जिनका नरदेह शास्त्र में विस्तार से अध्ययन होता है। यहां हम उनमें से कुछ का उल्लेख कर सकते हैं। एक प्रमुख भेद का नाम है शिरोनाप। यदि किसी के सिर की लम्बाई क और

उसकी चौड़ाई ख है तो उसका शिरोनाप $\frac{ख}{क} \times १००$ हुआ। कुछ प्रदेशों के निवासियों के सिर की लंबाई अधिक होती है, कुछ की चौड़ाई। एक ही देश में पहाड़ों में रहने वाले प्रायः चौड़े सिर वाले और नगरों में बसने वाले प्रायः लम्बे सिर वाले होते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रदेशों के निवासियों के मस्तिष्क के आयतन और तौल में भी भेद होता है। किसी का मस्तिष्क बड़ा और भारी, किसी का छोटा और हल्का, किसी का बड़ा और हल्का और किसी का छोटा और भारी होता है। नरदेह शास्त्रियों ने इन सब चीज़ों की तथा इनके अतिरिक्त और कई चीज़ों की जैसे उस कोण को जो नाक चेहरे के साथ बनाती है, पूरी पूरी नाप तौल कर रक्खी है। इस प्रकार के भेदों के अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। बहुत से विद्वानों ने इनके आधार पर मनुष्य जाति को कई टुकड़ों में बाँट दिया है। इन टुकड़ों को उपजातियां (अंग्रेज़ी में रेसेज़) कहते हैं। प्रत्येक उपजाति के शिरोनाप, मस्तिष्क आयतन, मस्तिष्क तौल, आँखों की बनावट इत्यादि का पूरा पूरा ब्योरा गिनाया जाता है। उपजातियां कितनी हैं, इसके विषय में मतभेद है। क्यूविअर और क्वात्रफ़ाज़ ने ३, लिनियस और हक्सलेने ११, ब्लुमेनबाख़ ने ५, बफ़ॉनने ६, प्रिचर्ड, हण्टर और पेशोलने ७, अगासिज ने ८, देसमूलाँ और पिकरिंग ने ११, हैकेल और म्युलर ने १२, सेण्ट विंसेण्ट ने १५, ब्रुं ने १६, टोपिनार्ड ने १८, मार्टन ने ३२, क्रॉफ़ोर्ड ने ६०, बर्क ने ६२ और ग्लिडन ने १५० उपजातियां गिनायी हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि यह विभाजन बहुत सुकर नहीं है। जिन गुणों को एक पण्डित एक उपजाति का लक्षण मानता है उसी को दूसरा दूसरी उपजाति का लिंग मानता है। फिर भी कुछ उपजातियों के नामों को सभी लेते हैं। आर्य्य, सेमेटिक, मङ्गोल और हबशी पृथक् उपजातियां हैं ऐसी धारणा व्यापक है। यह धारणा केवल विद्वानों में नहीं, उनसे भी बढ़कर साधारण जनता में फैली हुई है। प्रभावशाली

राजपुरुष इस धारणा को पुष्ट करते हैं और अपनी नीति का अंग बनाते हैं। ऐसा माना जाता है कि

(क) उपजातियों के शारीरिक भेद इतने दृढ़ और अमिट हैं कि वस्तुतः ऐसा माना जा सकता है कि यह मनुष्य की पृथक् जातियां हैं। यदि यह उपजातियां पृथक् पूर्वजों से नहीं भी उत्पन्न हुई हैं तो भी लाखों वर्षों तक पृथक् रहते रहते इनके पारस्परिक भेद स्थायी हो हो गये हैं।

(ख) उपजातियों में शारीरिक भेदों के साथ मानस भेद भी हैं। सब की बौद्धिक शक्ति न तो एक प्रकार की है न बराबर है।

(ग) उपजातियों की संकरता से वंशलोप, पतन और सभ्यता का ह्रास होता है।

(घ) एक उपजाति में दूसरी के गुण नहीं आ सकते और न कोई उपजाति अपने सहज गुणों का अतिरोहण कर सकती है।

(ङ) निकृष्ट उपजातियों की संख्या बहुत है अतः सदैव इस बात का डर रहता है कि वह उत्कृष्ट उपजातियों को दबा लेंगी। सभ्य राष्ट्रों का यह कर्तव्य है कि उपजातिसंकरता को रोकें, उपजात्यन्तर विवाह न होने द, निकृष्ट उपजातियों को दबा कर रक्खें और राष्ट्र के भीतर ऐसा शासन विधान रक्खें जिससे वह लोग जो निकृष्ट उपजातियों के हैं अधिकारारूढ़ न हो जायं। यह बातें उन लोगों को भी भली लगती हैं हैं जो इनके वैज्ञानिक आधारों को समझने की क्षमता नहीं रखते। इससे उनके अभिमान को सहायता मिलती है और स्वार्थ की भी सिद्धि होती है। आज अमेरिका के संयुक्त राज की सभ्य देशों में गणना है। धन है, विद्या है, लोकतंत्रात्मक शासन है परन्तु यह सब होते हुए भी लोग उन हबशियों के साथ जो वहाँ आज सौ-डेढ़ सौ वर्ष से रह रहे हैं बराबरी का बर्ताव करने को तैयार नहीं है। ज़रा ज़रा सी बात पर हबशी मारे जाते हैं, अदालतों में उनके साथ न्याय नहीं होता। और इन सब बातों का एक मात्र कारण यह धारणा है कि हबशी उपजाति

निकृष्ट है, यदि वह दवाकर न रक्खी गयी तो थोड़े दिनों में इतना फले फूलेगी कि गोरों को दवा लेगी, यदि गोरों के साथ यौन सम्बन्ध की अनुमति दी गयी तो गोरों का पवित्र रक्त दूषित हो जायगा। रक्तसंकरता को वचाने के नाम पर ही भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से दूर रक्खा जाता है। जर्मनी के नाज़ी शासकों ने इस प्रकार के विचारों को अपनी राजनीति का मुख्य अंग वना कर जो विभीषिका मचा रक्खी है वह हमारे सामने है। यहूदी होना जर्मनी में महापाप है। जिन लोगों के शरीर में दो या तीन पीढ़ी पहले का भी यहूदी रक्त बह रहा है वह वेचारे सभी नागरिक अधिकारों से वञ्चित कर दिये गये हैं। लाखों नर नारी दाने विना मर रहे हैं। न जर्मनी में रहने पाते हैं, न विदेश जा सकते हैं। उनका केवल यही अपराध है कि वह यहूदी हैं और उनके अस्तित्व से जर्मनों के पवित्र नॉर्डिक* रक्त के दूषित होने की सम्भावना है, और शुद्ध जर्मन आर्य्य सभ्यता लाञ्छित होती है। स्वार्थ, मूढ़ग्राह और राजशक्ति का यह संमिश्रण आजकल का एक भयावह दृग्विषय है।

यह उपजाति-विद्वेष वहुत पुराने समय से चला आता है। जव वैदिक काल के आर्य्यों का सप्तसिन्धव (पञ्जाव) देश के वाहर अनार्य्यों से सामना हुआ तो उन्होंने भी वैसा ही अनुभव किया जैसा आज यहूदी को देख कर जर्मन करता है। लड़ाई में अनार्य्यों को नष्ट करने का प्रयत्न किया, उनके ऊपर सव प्रकार के अपशव्दों की वौछार की गयी। फिर भी उनकी संख्या इतनी थी और ज्यों-ज्यों आर्य्य लोग पूर्व और दक्षिण की ओर वढ़े त्यों-त्यों इतनी वढ़ती गयी कि न तो उनको आमूल नष्ट करना सम्भव था न उनको देश से निकाला जा सकता था। इसलिये आर्य्यों ने अपने लिये ही वन्धन वनाये। सहनिवास, सहभोज, विवाह सभी वातों में अनार्य्यों का सम्पर्क सीमित

---

* ऐसा यह मत है कि सव उपजातियों में आर्य्य उपजाति श्रेष्ठ है और नॉर्डिक उसकी सव से शुद्ध शाखा है। जर्मनी, नार्वे, स्वीडेन और डेन्मार्क के रहने वाले नॉर्डिक माने जाते हैं।

और यथा-सम्भव निषिद्ध ठहरा दिया गया। इन बातों का एक मात्र उद्देश्य यह था कि आर्य्य रक्त पवित्र बना रहे और बहु संख्यक अनार्य्यों से मिल कर आर्य्यों का व्यक्तित्व नष्ट न हो जाय। अव्यवस्थित ढंग से रहने वाले आर्य्य जो व्रात्य कहलाते थे स्यात् वह भी नगरवासी अनार्य्यों से अच्छे समझे जाते थे। त्रेता काल में जब विन्ध्य को पार कर आर्य्य लोग दक्षिण की ओर बढ़े तो वहाँ भी उन्हें अनार्य्य मिले। यह लोग सभ्य थे, नगरों में रहते थे, इन पर आर्य्य सभ्यता की भी कुछ छाप पड़ चुकी थी। फिर भी आर्य्य लोग इनको अपने जैसा मनुष्य मानने को तैयार न थे। जिन्होंने साथ दिया वह वानर (मनुष्य की भांति के प्राणी) कहलाये, जिनसे शत्रुता थी वह राक्षस कहे गये। यदि वानर और राक्षस केवल राष्ट्रों के नाम होते तो कोई बात न थी पर इन लोगों का जो वर्णन किया गया वह ऐसा था कि उससे इनके मनुष्य होने पर पर्दा पड़ गया। आज तक करोड़ों हिन्दू ऐसा ही मानते हैं कि किष्किन्धा निवासी वन्दर भालू थे और लंका के रहने वाले विलक्षण प्रकार के प्राणी थे जिनके राजा के दस सिर और बीस हाथ थे! आज भी कोल, भील, गोंड आदि के प्रति आर्य्याभिमानी ब्राह्मणादि के मन में जो पृथक्ता और अजनबी-पन का भाव उठता है उसकी तह में यही उपजाति विद्वेष है।

जो भाव इतना व्यापक है उसके वैज्ञानिक आधारों पर थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है वैज्ञानिक आधार मुख्यतः शारीरिक बनावट का भेद है। बनावट में भेद अवश्य है परन्तु उस भेद की वैसी व्याख्या नहीं की जा सकती जैसी कि अपनी अपनी उपजाति की प्रशस्ति गाने वाले करना चाहते हैं।

यूरोप के कुछ भागों के लोगों के सिर लंबे होते हैं। उनकी लंबाई चौड़ाई से अधिक होती है। इन प्रदेशों में यह बात उठी कि उन्नत उपजातियों के सिर लंबे होते हैं। इससे एक पग आगे बढ़ कर यह बात निकली कि जिन लोगों के सिर लंबे होते हैं वह उत्कृष्ट और जिनके

सिर चौड़े होते हैं वह निकृष्ट उपजातियों के होते हैं। बस यहीं कठिनाई पड़ती है। कुछ उन्नत लोगों के सिर निःसन्देह लंबे होते हैं परन्तु सब लंबे सिर वाले उन्नत नहीं हैं। इसके विरुद्ध यह भी देखा जाता है कि कई चौड़े सिर वाले समुदायों का भी सभ्यता के इतिहास में ऊँचा स्थान है। नगरों के निवासी प्रायः लम्बे सिर वाले होते हैं परन्तु कहीं कहीं इसके विपरीत भी पाया जाता है। यह भी देखा गया है कि जल-वायु के प्रभाव से दो चार सौ वर्षों में सिर की लंबाई चौड़ाई में अन्तर पड़ जाता है। गाल की उभरी हड्डी जहाँ कुछ असभ्य या अर्धसभ्य लोगों में पायी जाती है वहाँ डच जैसे आर्य्य माने जाने वालों में भी मिलती है। कुछ दिनों तक यूरोप में बसने पर चीनियों की और चीन में बसने पर यूरोप वालों की आँखों में अन्तर पड़ जाता है। मस्तिष्क बुद्धि का स्थान है अतः मस्तिष्क के नाप तौल का बहुत बड़ा महत्त्व होना चाहिये पर यहाँ भी कोई सन्तोषजनक बात नहीं मिलती। यूरोपियन और हवशी के मस्तिष्कों के आयतनों में ६ से १० घन इंच का अंतर होता है पर इससे यह नहीं कह सकते कि कम आयतनवाला छोटी उपजाति का है क्योंकि यूरोपियनों में ही पुरुष और स्त्री के मस्तिष्कों के आयतन में १२ से १३ वर्ग इंच का अंतर होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यूरोप में पुरुष एक और स्त्री दूसरी उपजाति की होती है। मस्तिष्क के तौल से भी कुछ ठीक बात नहीं निकलती। लंगूरों में ओराङ्ग ओटांग का मस्तिष्क सबसे भारी होता है। इसका तौल लगभग ७००-८०० ग्राम (२८००-३२०० रत्ती) होता है। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों का मस्तिष्क इससे कुछ ही भारी, ९००-१००० ग्राम (३६००-४००० रत्ती) होता है। उधर नार्डिक यूरोपियन या उत्तर भारत के ब्राह्मणादि के मस्तिष्क का तौल लगभग १५०० ग्राम (६००० रत्ती) होता है। इससे तो यह अनुमान होता है कि आस्ट्रेलिया के निवासी सब से निकृष्ट और ६००० रत्ती वाले सबसे उत्कृष्ट हैं। परन्तु चीन का औसत मस्तिष्क तौल यूरोप के औसत मस्तिष्क तौल से अधिक है और उत्तरी ध्रुव प्रदेश के रहने वाले

अर्ध सभ्य एस्किमो का मस्तिष्क किसी से भी कम नहीं है। लंबाई और उन्नति में भी कोई संबंध नहीं मिलता। लंबे मनुष्य भी जंगली होते हैं और नाटे मनुष्य भी सभ्य होते हैं।

जो लोग उपजाति भेद पर ज़ोर देते हैं वह केवल शारीरिक भेदों को ही नहीं, बौद्धिक भेदों के अस्तित्व को भी मानते हैं। इस क्षेत्र में लिखने पढ़ने वाले गोरे हो रहे हैं अतः उनको ऐसा ही जँचा कि प्रायः सारे उदात्त गुण उनमें और प्रायः सारे दुर्गुण दूसरों में हैं। जो गोरे हैं वह प्रतिभाशाली, विचारशील, सच्चरित्र, दयालु होते हैं, पीलों का मुख्य गुण क्रूरता है, यद्यपि कुछ हद तक बुद्धिमान् वह भी होते हैं। कालों में यदि कोई गुण है तो एक, उनकी कल्पना शक्ति तीव्र होती है और उनको संगीत से प्रेम होता है। यह उदाहरण मात्र हैं। यही और इससे मिलती जुलती बातें बड़े विस्तार के साथ बड़ी बड़ी पोथियों में लिखी पड़ी हैं और आज भी लिखी जा रही हैं। यह प्रबल धारणा है—और इसका जोरों से प्रचार किया जाता है—कि अनार्य्य लोगों की बौद्धिक सम्पत्ति कम होती है। यदि आर्य्य और अनार्य्य लड़कों को एक साथ पढ़ाया जायगा तो साधारण चलते ज्ञान का तो अनार्य्य बहुत जल्दी संग्रह कर लेंगे और इस प्रकार आर्य्यों को पीछे धकेल कर उनकी जीविका भी छीन लेंगे परन्तु गणित, विज्ञान, दर्शन आदि गम्भीर विषयों में वह आगे न बढ़ सकेंगे। अतः एक ओर तो ऐसे लड़कों की सुविधा के लिये शिक्षा की मर्य्यादा कम करनी होगी, दूसरी ओर विद्या और सभ्यता की प्रगति रुक जायगी। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिणी अमेरिका में स्पेन और पुर्तगाल से आये हुए आर्य्य कम हैं और आदिम निवासी तथा हबशी बहुत। इसीलिये उत्तरी अमेरिका के बराबर ही लंबा चौड़ा और भौतिक सम्पत्ति से परिपूर्ण होते हुए भी दक्षिण अमेरिका प्रगति शील नहीं है। यही भाव अव्यक्तरूप से भारत में देखा जाता है। जो लोग वर्णव्यवस्था के अनुयायी हैं उनका यह दृढ़ विश्वास है कि यदि अन्त्यजों या अनार्य्यों को ऊँची शिक्षा दी भी जाय तो भी वह उन्नत नहीं हो सकते। उनके द्वारा संस्कृति और

सभ्यता को तो क्षति पहुँच सकती है पर वास्तविक कल्याण न उनका होगा न दूसरों का।

यह बातें भी अपरिपक्व विकारों और मूढ़ग्राहों का परिणाम हैं। जो लोग आज उन्नत हैं वह कल बर्बर थे, जो कल बर्बर थे वह आज उन्नत हैं। यूरोप में सब से पहिले यूनान ने आगे पाँव बढ़ाया और अमर कीर्ति स्थापित कर गया। उन दिनों शेष यूरोप जंगली था। आज उन्हीं जंगलियों के वंशज प्रगति में अग्रगण्य हैं, यूनान का इस क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। भारत और मिश्र पीछे पड़ गये हैं, जिनको इन्होंने सभ्य बनाया वह आगे निकल गये हैं। आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व अरबों को कोई जानता न था; मुहम्मद के उदय के थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने संस्कृति के एक नये अध्याय की रचना की। शिवाजी के पहिले महाराष्ट्र और गुरुगोविन्द सिंह के पहिले पंजाब के जाटों के गुणों को कौन जानता था? अतः ऐसा मानने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि कुछ लोगों में उदात्त और कुछ में हीन बौद्धिक और अध्यात्मिक गुण अमिट रूप से वर्तमान हैं और एक के गुण दूसरे में नहीं आ सकते।

यदि ऊपर की विवेचना ठीक है तो यह बात तो स्पष्ट हुई कि मनुष्यों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न शारीरिक बनावट तथा मानस शक्तियों वाली उपजातियां नहीं हैं। उपजातियाँ हैं ही नहीं, आर्य्य मंगोल, हबशी आदि विभाजन सर्वथा कृत्रिम है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यह भी प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि सब मनुष्यों की सांस्कृतिक अवस्था एक सी नहीं है। और एक दूसरी बात और भी देख पड़ती है, यद्यपि अभिमान के मारे लोग उसे मानना नहीं चाहते। वह यह है कि यद्यपि कुछ भूभागों के निवासी प्रधानतया आर्य्य या प्रधानतया मंगोल या प्रधानतया हबशी या प्रधानतया सेमेटिक हैं परन्तु बहुत से सभ्य देशों में सैकड़ों वर्षों के भीतर उपजातियों में सांकर्य्य आ गया है। विशेषतः उन देशों के निवासी जहां कई बार विदेशी आक्रमण हुए हैं इस बात का दावा नहीं कर सकते कि उनमें किसी एक ही उपजाति की रक्तधारा बह रही है। भारत की तथोक्त ऊँची जातियाँ

चाहे कितना भी अभिमान करें पर उनको आकृतियां और इतिहास पुकार पुकार कर कहते हैं कि वह सांकर्य्यदोष से बची नहीं हैं।

उपजातियों में जो प्रत्यक्ष भेद हैं उनका कारण भी कुछ होना चाहिये। जब यह बात निश्चित है कि मनुष्यमात्र की जाति एक है तो फिर उपजातियों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई होगी कि लोग एक दूसरे से बहुत प्राचीन काल में पृथक् हो गये। सब के पूर्वज एक रहे हों या अनेक और सब आदिम मनुष्यों का जन्म किसी एक प्रदेश विशेष में हुआ हो या युगपत् कई प्रदेशों में परन्तु बहुत दिन हुए मनुष्य अलग अलग टोलियों में बँट गया। यह बँटवारा कब हुआ ठीक नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी पर कई बार भौगर्भिक उपद्रव हुए हैं, ऋतुविपर्य्यय हुआ है। जहाँ आज ठंड पड़ती है, वहाँ कभी गर्मी पड़ती थी; जहाँ आज गर्मी है कभी वहाँ बर्फ़ बिछी थी। जहाँ समुद्र है वहाँ स्थल था, जहाँ स्थल है वहाँ समुद्र था। फिर भी अलग हुए ४०-५० हजार वर्ष तो हुए ही होंगे, क्योंकि १०-१२ हज़ार वर्ष पहिले तो पृथक् उपजातियाँ बन चुकी थीं।

कुछ लोग बर्फ़ीले प्रदेशों में जा पड़े, कुछ मरुभूमि में बसे, कुछ भूमध्यरेखा के पार्श्ववर्ती गर्म प्रदेश में रहने लगे, कुछ को घास वाले लंबे लंबे मैदान मिले, कुछ ने अपने को समुद्र से घिरा पाया। इन सब जगहों में एक सी परिस्थिति न थी—जीवन संग्राम का स्वरूप अलग अलग था। प्रकृति से तो सर्वत्र ही लड़कर रोटी छीननी थी परन्तु प्रकृति का चेहरा सर्वत्र एक सा न था। जंगल, मैदान, बर्फ़, मरुस्थली समुद्रतट में अलग अलग प्रकार के शत्रुओं का सामना करना पड़ता था, परिस्थितियों के अनुकूल ही मनुष्यों की शारीरिक और मानस शक्तियों का विकास हुआ। किसी को शारीरिक श्रम अधिक करना पड़ता था, किसी को शरीर के साथ बुद्धि से भी अधिक काम लेना पड़ता था। कोई धूप से झुलस कर अकर्मण्य हो गया, किसी का बर्फ़ और ठंडी हवा के मारे नाकों दम था। जो लोग भाग्य से ऐसी जगह पड़े जहाँ ऋतु भी उग्र न था और भोजन भी सुप्राप्य था उनको यह

नक्षत्र की क्रीड़ा देखने का भी अवसर था और जगत् के रहस्यों के विषय में सोचने की भी प्रवृत्ति होती थी। इस प्रकार परिस्थितियों ने हज़ारों वर्ष में इन पृथक् टोलियों के कुछ गुणों को जगा और कुछ को दबाकर तथा इनके अवयवों के गठन में अपने अनुकूल परिवर्त्तन करके इनको पृथक् उपजातियों का रूप दे दिया। बीजरूप से सब में सभी गुण होते हुए भी, कुछ ऐसे गुण सुप्त हो गये जिनकी उस परिस्थिति में कोई उपयोगिता न थी। इन्हीं बातों ने उपजातियों के इतिहासों को विभिन्न बना दिया। हिमाच्छन्न उत्तरीय ध्रुव प्रदेश या अफ़्रीका के तप्त-बालुकामय प्रान्तों में किसी उच्चकोटि की सभ्यता का उदय होना आश्चर्य्य की बात होती। यह ऐसे भूभाग हैं ही नहीं जहाँ दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, के लिये चित्त को स्फूर्ति मिल सके। मनुष्य अपने को जीवित रख ले यही बहुत है। यहाँ बड़े बड़े राज्य या साम्राज्य भी नहीं स्थापित हो सकते थे। यही सब बातें हैं जिन्होंने हज़ारों वर्षों में उपजातियों को एक दूसरे से नितान्त भिन्न बना दिया। किसी उपजाति का जीवन देवलोक से टक्कर लेने लगा, किसी का शिकारी पशुओं से थोड़ा ही ऊपर उठ पाया।

अब इनमें से किसी को उत्कृष्ट और किसी को निकृष्ट कहने के पहिले उत्कर्ष का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन अच्छी चीज़ें हैं। यह जीवन को सुन्दर, सुखद बनाती हैं, इनकी सहायता से हम कम से कम कुछ देर के लिये अपने दुःखों को भूल जाते हैं और विराट् के साथ अपने एकात्म्य का अनुभव करते हैं। ज्ञान में स्वयं एक प्रकार का आनन्द है, फिर वह हमें परिस्थितियों को, वातावरण को, जीतने में सहायता देता है। इसलिये आज मनुष्य भूगर्भ में, समुद्र के जल के नीचे, आकाश में, ठंडे देशों में, गरम देशों में, स्वच्छन्दता से आता जाता है और प्रकृति के ऊपर विजयी होता है। यहाँ बैठे बैठे करोड़ों कोस दूर की बातें जान लेता है, कई हज़ार कोस पर रहने वालों से बात कर लेता है। यह बातें निःसन्देह उपादेय हैं और उत्कर्ष की बोधक हैं। जिन लोगों में यह पायी जाती हैं,

जिन्होंने इनके आविष्कार और प्रचार में सहायता दिया है, वह निःसन्देह उत्कृष्ट हैं। पर एक और बात है। जो प्राणी अपने वातावरण के अनकूल नहीं होता वह उस वातावरण के लिये निकृष्ट है। समुद्र की मछली मीठे जल के लिये और नदी की मछली समुद्र के लिये निकृष्ट है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रत्येक उपजाति उस वातावरण के लिये जिसमें उसको जीवन निर्वाह करना था ठीक थी। यदि ऐसा न होता तो वह कब की नष्ट हो गयी होती। एक वातावरण में रहने वाले दूसरे वातावरण में कष्ट पाते, रह ही न पाते। इस दृष्टि से तो वह वहाँ के लिये निकृष्ट थे। गरम अफ्रीका का रहने वाला ध्रुव प्रदेश के लिये निकृष्ट, ध्रुव प्रदेश का निवासी अफ्रीका के लिये निकृष्ट था। हजार वैज्ञानिक साधनों के होते हुए भी ठंडे यूरोप के रहने वाले गरम देशों में नहीं पनपते। उनको बहुत से रोग घेर लेते हैं, शरीर और मस्तिष्क की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, बहुधा तो दो तीन पीढ़ियों में वंश का लोप हो जाता है। इसी प्रकार वह उपजातियाँ जो जंगल पहाड़ों में बढ़ी थीं सभ्य वातावरण के लिये अनुकूल न थीं या यों कहिये कि सभ्य वातावरण उनके अनूकूल न था। उनमें से कुछ तो नष्ट ही हो गयीं, उनमें एक आदमी भी न बचा। कइयों का शारीरिक और नैतिक पतन हो गया। हम लोग जो हजारों वर्ष से सभ्य वातावरण में रहते आये हैं उनको अपनी तुलना में निकृष्ट भले ही कहें परन्तु यह उनके साथ एक प्रकार का अन्याय है। यदि उनको भी अवसर मिले तो उनके भी वह गुण जो हज़ारों वर्षों से काम में न आने के कारण प्रसुप्त हो गये हैं जागरित हो उठें और वह भी सभ्य और संस्कृत कहलाने के अधिकारी बन जायं। परन्तु यदि हम उनको यकायक अपने मुक़ाबिले में ला खड़ा करेंगे तब तो वह नहीं ठहर सकते। बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से वह निकृष्ट पाये जायंगे। हज़ारों वर्ष की मैल एक दिन में नहीं धुल सकती परन्तु जीवन संघर्ष में कितनों को धोने का अवकाश ही नहीं मिलता।

संकरता के दोष भी इसी कारण होते हैं। जिनकी सांस्कृतिक

अवस्था एक सी है, जिनके शरीर और मस्तिष्क मिलती जुलती परिस्थितियों में काम करने के अभ्यस्त हैं, उनमें विवाह होने से कोई हानि न होगी, चाहे वह किसी देश के रहने वाले हों और किसी उपजाति के हों। परन्तु जिनकी सांस्कृतिक अवस्थाओं में बहुत अन्तर है उनका विवाह सचमुच अनमेल विवाह है। प्राचीन काल में जैसे विवाह प्रतिलोम* कहलाते थे वह अनमेल विवाह की पराकाष्ठा रहे हों परन्तु आज भी ब्राह्मण और गोंड भील डोम का विवाह, कुलीन भारतीय या यूरोपियन और हब्शी का विवाह, कम अनमेल नहीं हैं। ऐसे विवाह अच्छे नहीं होते। इनसे जो सन्तान होती है वह या तो दो तीन पीढ़ियों में निर्वंश हो जाती है या दुर्वल और रोगी होती है। ऐसा न भी हुआ तो उसमें संस्कृत पूर्वज के गुण दब जाते हैं निकृष्ट पूर्वज के गुण ऊपर आ जाते हैं। यदि ऐसे बहुत से विवाह हो जायं तो सभ्यता और संस्कृति को क्षति पहुँचने की काफ़ी सम्भावना है। ऐसे विवाहों से जो सन्तान होगी उसमें अपने असभ्य पूर्वजों से क्रूरता, भौतिकता, रूढ़िपरता और अपने सभ्य पूर्वजों से कुटिलता, चातुर्य्य और स्वार्थपरता आ जायगी: न उसमें असभ्य पूर्वजों की सादगी रह जायगी, न सभ्य पूर्वजों की विचारशीलता और धर्म्मबुद्धि। अतः ऐसे विवाह कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकते। इस कहने का यह

*प्रसङ्गतः इस बात को फिर दुहराता हूँ कि उपजातिद्वेष बड़ा भयावह भाव है। आज कल इसमें झूठे विज्ञान की पुट मिल गयी है। यदि यह प्राकृतिक हो तो भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि इसका होना श्रेयस्कर है। मनुष्य ने अपनी प्रकृति को, अपने स्वभाव को, दबा कर ही उन्नति की है। इसी का नाम संयम है। उपजातियों के अनावश्यक भेदों को मिटना है, उनको एक सांस्कृतिक स्तर पर ले आना है। नाक आंख की आकृति में भेद रहे तो उससे कोई हानि नहीं होती। जब तक यह भाव रहेगा कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से प्रकृत्या ऊंचा है तब तक संघर्ष रहेगा, अशांति रहेगी। आर्य्य, सेमेटिक, मंगोल, हवशी सब ही मनुष्य जाति के अंग हैं और इनको एक दूसरे के निकट लाने में ही जगत का कल्याण है। इस सम्बन्ध में उनका ही जो आज सभ्य और संस्कृत हैं दायित्व है। यदि अभिमान में पड़ कर उन्होंने दूसरों को कुचलने का प्रयास किया, जैसा कि हो रहा है, तो घोर अनर्थ होगा।

तात्पर्य्य नहीं है कि कोई सदा के लिये उत्कृष्ट है; अभिप्राय केवल इतना है कि जब तक संस्कृति भेद है तब तक सांकर्य्य बचाना चाहिये और सब को ऊपर उठाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। आज से कई हज़ार वर्ष पहिले यह अदेश दिया गया था कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम्—विश्व को आर्य्य बनाओ।

दूसरा अध्याय

आर्य्य उपजाति

जैसा कि मैं पहिले अध्याय में लिख चुका हूँ, उपजातियों की कोई एक प्रामाणिक और निश्चित सूची नहीं है। विविध विद्वानों ने विविध तालिकाएं तैयार की हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उपजाति की कोई ठीक परिभाषा ही नहीं है जिसको कसौटी मान कर मनुष्यों का विभाजन किया जा सके। यदि किसी एक रंग के साथ एक प्रकार की आँख और नाक और मस्तिष्क का नित्य सम्बन्ध होता तब तो बात सरल होती पर ऐसा होता नहीं। गाल की उभरी हड्डी कई प्रकार के मस्तिष्कों के साथ पायी जाती है; एक ही शिरोनाप वालों में कई प्रकार की आँखें और नाकें मिलती हैं। कोई विद्वान एक अंग को महत्ता देता है, दूसरा उसको गौण मानता है। इसी लिए भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजन हुआ है। पर चाहे कोई तालिका ली जाय उसमें आर्य्य उपजाति का उल्लेख अवश्य मिलेगा।

नाम तो आता है परन्तु आर्य्य किसे कहना चाहिये इस सम्बन्ध में मतभेद रहा है और है। सचमुच कोई आर्य्य उपजाति है इस ओर पहिले पहिले आज से लगभग १५० वर्ष पहिले ध्यान गया। उन दिनों कलकत्ते में सर विलियम जोन्स संस्कृत पढ़ रहे थे। उनको पढ़ते पढ़ते यह देख पड़ा कि संस्कृत कई बातों में ग्रीक, लैटिन, जर्मन और केल्टिक से मिलती है। यह विलक्षण बात थी। हीगेल के अनुसार एक नयी दुनिया मिल गयी। इस भाषासाम्य का एक ही कारण समझ में आता था। अति प्राचीन काल में कोई भाषा रही होगी जो अब कहीं बोली नहीं जाती। उसी से यह सब विभिन्न भाषाएँ निकली होंगी, जैसे संस्कृत या प्राकृत से हिन्दी, मराठी गुजराती आदि

आधुनिक भारतीय भाषाएँ निकली हैं । सर विलियम जोन्स ने तीन ही चार भाषाओं के साम्य पर खियाल किया परन्तु वाद में देखा गया तो वीसों भाषाएं संस्कृत से मिलती पायी गयीं। यदि हम भारत से पश्चिम चलें तो पहिले पश्तो फिर वलूची फिर ईरानी (फ़ारसी) मिलेगी। यह तीनों प्राचीन ज़ेन्द से निकली हैं। ज़ेन्द संस्कृत से विल्कुल ही मिलती है। फिर रूस और वल्गारिया की स्लाव भाषायें, आधुनिक यूनानी और इटालियन, जर्मन, फ्रेञ्च, अंग्रेज़ी, डच, डेनिश, पुर्तगाली आदि यूरोप की प्रायः सभी प्रचलित भाषाएं है। 'प्रायः' इस लिये कहता हूँ कि तुर्की, फ़िनी और हंगरी की मग्यार भाषाएं इस सूची के वाहर हैं । इसका तात्पर्य्य यह निकला कि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में संस्कृत, ज़ेन्द, ग्रीक और लैटिन और आजकल की प्रचलित भाषाओं में इन्हीं चारों से निकली वंगला, गुजराती, हिन्दी, मराठी, पश्तो, ईरानी, रूसी, जर्मन, फ्रेञ्च, अंग्रेज़ी, इटालियन, स्पैनिश, पुर्तगाली, डच, आफ़्रिकान एक दूसरे से मिलती हैं और मिलने का एक ही अर्थ हो सकता है कि इनका उद्गम एक ही जगह से हुआ है। हमारे देश में तो लोग यही समझते हैं कि संस्कृत ही सव का स्रोत है परन्तु ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। संस्कृत अपने समय की सदृश भाषाओं की माता नहीं, वहिन ही होगी। यह हो सकता है कि चूँकि उसका साहित्य सवसे पुराना है इस लिये वह व्याकरण के नियमों में जल्दी वँध गयी और इसी लिये उसका रूप आदि भाषा से औरों की अपेक्षा अधिक मिलता है।

ऊपर भाषा की जिस समता का उल्लेख किया गया है वह इतना स्पष्ट है कि जो इनमें से दो तीन भाषाओं को पढ़ेगा उसका ही ध्यान उधर जायगा। वहुत से संज्ञा शब्द सव में हैं, कई धातु और सर्वनाम भी थोड़े ही उलट फेर के साथ मिलते हैं। वीच की भाषाओं को छोड़ दीजिये, संस्कृत, ईरानी और अंग्रेज़ी को ही लीजिये । नमूने के तौर पर थोड़े ही उदाहरण पर्य्याप्त होंगे:—

संस्कृत	ईरानी	अंग्रेज़ी
पितृ	पिदर	फ़ादर
मातृ	मादर	मदर
भ्रातृ	बिरादर	ब्रदर
दुहितृ	दुख़्तर	डाटर
पद	पा	फ़ुट
गो	गाव	काउ
भ्रू	अब्रू	ब्राउ
भू	बू (दन)	बी
अस्	अस्-हस् (तन	[शुद्ध रूप नहीं मिलता इज़ (है) में विद्यमान है]

यह तो बहुत थोड़े से शब्द हैं। ऐसे सैकड़ों शब्दों की सूची बन सकती है। शब्दों के अतिरिक्त ग्रीक, लैटिन, ज़ेन्द और संस्कृत का व्याकरण भी समान था। आजकल तो इनसे निकली हुई भाषाओं का व्याकरण सर्वत्र सरल हो गया है।

परन्तु यदि उत्तर भारत से लेकर बीच के कुछ भागों को छोड़कर पश्चिमी यूरोप तक के निवासी ऐसी भाषाओं को बोलते हैं जो किसी समय किसी एक ही भाषा से निकली थीं तो यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि ऐसा कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्वाभाविक रीति पर एक ही हो सकता था और वही उत्तर दिया भी गया। यही समझ में आया कि भाषा साम्य का कारण यह है कि किसी समय में इनके पूर्वज एक थे। कई विद्वानों ने इस मत को पुष्ट किया। प्रोफ़ेसर मैक्सम्युलर के शब्दों में, एक ऐसा समय था जब कि भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, केल्टों (वेल्स और पश्चिमी फ्रांस के निवासी) और जर्मनों के पूर्वज एक ही बाड़ों में ही नहीं, एक ही छत के नीचे रहते थे। उनको यह बात पूर्णरूपेण प्रमाणित प्रतीत होती थी कि अंग्रेज़ सिपाहियों की धमनियों में वही रक्त

बहता है जो साँवले बँगालियों के शरीर में बह रहा है। उनकी राय में कोई भी निष्पक्ष जूरी यह निर्णय दे देगा कि हिन्दू, यूनानी और जर्मन एक ही वंश में उत्पन्न हुए हैं। मैक्सम्युलर बहुत बड़े विद्वान थे। उनके पीछे जो लोग इस क्षेत्र में आये उनकी विद्वत्ता की भी प्रतिष्ठा थी। भाषा साम्य ऐसी प्रत्यक्ष बात थी कि उससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता था। फलतः यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया कि यह लोग जिनकी भाषाएँ संस्कृत-ईरानी-ग्रीक-लैटिन की मातृ स्वरूपा पुरानी अज्ञात भाषा से निकली हैं किसी समय एक ही जगह रहते थे अर्थात् इनके पूर्वज एक थे। जब यह लोग दूसरे देशों में फैले तो काल के प्रभाव से, जलवायु के प्रभाव से तथा दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने के कारण भाषाओं में अंतर पड़ गया और बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि उसने साम्य को दबा दिया है। इसको दूसरे शब्दों में यों कहेंगे कि यह लोग एक ही उपजाति के हैं। पहिले पहिले यह विचारधारा जर्मनी-इंगलैण्ड से फैली। वहाँ के लोग लंबे और गोरे होते हैं, आँखें बड़ी होती हैं, नाक सुन्दर होती है। पुरानी मूर्तियों के देखने से प्रतीत होता है कि पुराने यूनानी भी लंबे और सुन्दर होते थे। वैदिक काल के आर्य्यों का जो वर्णन मिलता है उससे विदित होता है कि वह भी लंबे, गोरे, सुडौल शरीर वाले थे। बस इन्हीं आधारों पर इस उपजाति की शारीरिक बनावट का एक चित्र बना लिया गया। भारत, यूनान, रोम, वर्तमान यूरोप सभी सभ्य हैं, और अपने को दूसरों की अपेक्षा संयमी, सुशील, सदाचारी समझते हैं। इससे यह भी तय हो गया कि इस उपजाति ने पृथ्वी पर सभ्यता और संस्कृति फैलायी और जो लोग इसमें उत्पन्न होते हैं वह दूसरों की अपेक्षा नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणों में अच्छे होते हैं। विद्वानों का यह मत सामान्य जनता को भी बहुत भाया। यूरोप के लोग आज तो जगद्विजयी, जगद्गुरु हैं ही; उनको यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ कि उनका यह उत्कर्ष आकस्मिक नहीं वरन् नैसर्गिक है और उन्नति उनकी नसों में बहती है। भारत के पण्डितों को तो यह बात कुछ पसन्द नहीं

आयी कि उनकी और यूरोप के म्लेच्छों की वंशपरम्परा एक ही है। उन्होंने इस ओर विशेष ध्यान भी नहीं दिया। परन्तु साधारण पठित हिन्दुओं को यह बात अच्छी लगी। राजनीतिक दृष्टि से अंगरेज़ों के दास होने के कारण उनको इसीमें सन्तोष हुआ कि वंशदृष्ट्या हम अपने प्रभुओं से अभिन्न हैं। अंग्रेज़ सिपाही की ठोकरों से घायल साँवले बंगाली के लिये यही धन्यमान्यता का विषय था कि वह अपने एक निकट सम्बन्धी के हाथों पिटा था। इस प्रकार लोकाश्रय पाकर यह मत खूब फैला।

दो बातें रह गयीं। एक तो इस उपजाति के लिये ठीक नाम देना, दूसरे यह निश्चय करना कि यह पहिले कहाँ रहती थी और वहाँ से कब उसके टुकड़े अलग अलग हुए। भाषा के नाम पर ही उपजाति का नामकरण किया गया। आदि भाषा को कुछ लोगों ने पहिले इण्डो-यूरोपियन (भारत-यूरोपीय) कहा। यह नाम बहुत व्यापक था। दूसरा नाम इण्डो-जर्मन (भारत-जर्मन) सोचा गया, इसलिये कि यह सब खोज जर्मनी से ही आरम्भ हुई और जर्मन विद्वान् अपनी भाषा को प्रधानता देना चाहते थे। परन्तु इसी कारण से यह नाम दूसरों को नापसन्द हुआ। इसके पहिले इस भाषा के लिये संस्कृतिक नाम भी सोचा गया था पर यह भी बहुत ही संकीर्ण प्रतीत हुआ। क्योंकि इससे दूसरी शाखाओं की अपेक्षा संस्कृत का महत्त्व बढ़ गया। अन्त में आर्य्य (यूरोप में, आर्य्यन) नाम प्रचलित हुआ। आरम्भ में यह नाम संस्कृत-ज़ेन्द और इनसे निकली भाषाओं के लिये रक्खा गया था पर अब यह पुरानी मातृ भाषा के लिये प्रयुक्त हो गया। इसी प्रकार उपजाति भी इण्डो-यूरोपियन, इण्डो-जर्मेनिक, कोकेशियन आदि नामों को धीरे धीरे छोड़ती हुई अब आर्य्य कहलाती है।

आर्य्य उपजाति के आदिम निवास स्थान के बारे में भी बड़ा शास्त्रार्थ रहा। भारतीय पण्डित तो यही मानते हैं कि आर्य्यों का घर अनादि काल से भारतवर्ष का उत्तरीय भाग, हिमालय और विन्ध्य तथा पूरब पच्छिम के समुद्रों के बीच का भूभाग कि जिसमें ब्रह्मावर्त

और आर्य्यावर्त आ जाते हैं, रहा है। यूरोपीय विद्वानों में से अधिकांश ने मध्य एशिया को यह महत्त्व दिया। उनकी राय में यहीं से आर्य्य उपजाति की टुकड़ियाँ दक्षिण, दक्षिण-पूर्व और पच्छिम की ओर फैलीं। कुछ लोगों ने यूरोप में ही उस स्थान को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया परन्तु मध्य एशिया-वाद के आगे यह लोग ठहर न सके। लोकमान्य तिलक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि आर्य्यों का मूल निवास आज से लगभग दस हज़ार वर्ष पहिले उत्तरीय ध्रुव प्रदेश में था। आज कल कुछ लोगों का मत है कि आर्य्य लोग इराक़-बैबिलन से चारों ओर फैले। यही इस पुस्तक का मूल विषय है, अतः आगे के अध्यायों में हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

भाषा की सहायता से आर्य्य उपजाति के तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ अटकल लगाया जा सकता है। विद्वानों ने इस ओर काफ़ी विचार किया और बहुत सी रोचक बातें निकालीं। हम यहाँ दो तीन उदाहरण ही दे सकते हैं। इन सभी भाषाओं में लड़की के लिये जो शब्द आया है वह संस्कृत के दुहितृ (दुहिता) से मिलता है। दुहितृ दुह् धातु से निकला है। इसका अर्थ है दूहने वाली। इससे यह अनुमान होता है कि उन दिनो गऊ दूहने का काम लड़की के सपुर्द था। गऊ के लिये सब में मिलते हुए शब्दों का पाया जाना यह बतलाता है कि वह लोग गाय पालते थे। द्यौस् (द्यौः, द्यावा) दिव् धातु से निकलता है। इस धातु का अर्थ है चमकना। इसी धातु से देव निकला है। द्यौस् ग्रीक में ज्यूस रूप से पाया जाता है और इन सभी भाषाओं में दिव, द्यूस, दियस्, देव आदि मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं। द्यौः पितर ज्युपिटर हो गया। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्य्य लोग अपने उपास्यों को चमकते शरीरों वाला मानते थे। द्वार, दर, डोर बतलाते हैं कि उनके घरों में दरवाजे होते थे। बैलों के कन्धों पर जो जुआ रक्खा जाता है उसे संस्कृत में युग कहते हैं। वह शब्द युग, जुग, योक आदि रूपों में बराबर मिलता है और यह बतलाता है कि उन दिनों भी जानवर जोते जाते थे। जानवर को पशु कहते हैं। पशु वह

है जो पाश से बाँधा गया हो, यह पशु शब्द पेकस, पेसस, फ़ैहू, फेहू आदि रूपों में पाया जाता है और यह बतलाता है उन दिन पशु पाले जाते थे, सम्भवतः जंगली जानवर फँसा कर बाँधे जाते थे। लोगों की सम्पत्ति का अनुमान उनके पशुओं की संख्या से होता था। ऋषिमुनियों का ऐसा ही वर्णन मिलता है। लैटिन में भी यही पेसन-पेकस धन का पर्य्याय हो गया। जिसके पास जितने पशु, उसके पास उतना ही धन, यही भाव था। संस्कृत का नौ शब्द नाव रूप में मिलता है और यह बतलाता है कि वह लोग पानी में नाव चलाते थे। नाव खेने के डाँडे को संस्कृत में अरित्र कहते हैं। यह शब्द भी अरु, ओर आदि रूपों में मिलकर इस मत को पुष्ट करता है कि जहाँ वह लोग रहते थे वहाँ जल था और नाव चलती थी। कपड़ा बुनने को संस्कृत में वय् कहते हैं। यही शब्द वाफ़, वीव आदि रूपों में मिलता है और यह बतलाता है कि उस समय कपड़ा बुना जाता था।

जैसे कुछ शब्दों के अस्तित्व से कुछ बातों का अनुमान किया जाता है वैसे ही दूसरे शब्दों के अभाव से भी कुछ अटकल लगाया जा सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अभाव के आधार पर जो तर्क खड़ा होता है वह अस्तित्वमूलक तर्क के बराबर पुष्ट नहीं होता। यदि पेट के लिये इन सब भाषाओं में समान शब्द न मिलें तो इससे यह अनुमान तो नहीं किया जा सकता कि उन प्राचीन आर्य्यों के शरीर में पेट होता ही न था। फिर भी यदि शेर या हाथी के लिये समान नाम नहीं मिलते या पत्थर के लिये एक शब्द नहीं मिलता तो ऐसा अनुमान करने का अवसर है कि सम्भवतः उस प्रदेश में यह पशु न होते थे और आर्य्य लोग पत्थर के घरों में न रहते थे। इसी प्रकार के और बहुत से अनुमानों से बड़ी बड़ी पुस्तकें भरी पड़ी हैं। विषय बड़ा ही रोचक है और अभी इस दिशा में बहुत खोज का अवकाश है।

परन्तु इस सारी इमारत की नींव में जो कल्पना है वही विवाद का विषय है। भाषाओं के साम्य को देखकर यह मान लिया गया कि उन

भाषाओं के बोलने वालों में भी साम्य रहा होगा और फिर साम्य के परिचायक लिंग ढूँढ़े जाने लगे। पर यह बात कैसे मान ली जाय कि जिन लोगों की भाषा एक है उनके पूर्वज भी एक थे ? आज जो लोग हिन्दी बोलते हैं उनकी विषमता प्रत्यक्ष है। धीरे धीरे हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा तो बन ही रही है, करोड़ों मनुष्यों की मातृभाषा होती जा रही है। उसमें कोल भील गोंड आदि जंगली और अर्ध-जंगली लोगों की बोलियों के शब्द भले ही मिल जायँ पर उन बोलियों को उसने दबा दिया है। अरबी के बहुत से शब्द तुर्की, ईरानी और भारतीय भाषाओं में मिल गये हैं पर इन भाषाओं के बोलने वाले अरब नहीं हैं। सबसे बड़ा उदाहरण तो अँग्रेज़ी का है। आज इस भाषा को केवल अंग्रेज़ ही नहीं वरन पृथ्वी के अनेक प्रदेशों के निवासी बोलते हैं जिनकी भाषा के सिवाय अंग्रेज़ों से कोई भी समता नहीं है। भाषा के साथ साथ अंग्रेज़ों के खानपान, वेष-भूषा आदि की भी नक़ल की जाती है पर नक़ल करने वाले अंग्रेज़ों से सर्वथा भिन्न हैं। यदि भाषा मात्र की समता देखकर कोई इन सबको एक मान ले और फिर इनमें एकता के लक्षण ढूँढ़ने लगे तो उसे कुछ बातें तो मिल ही जायंगी पर उसका विभाजन निराधार और कृत्रिम होगा। भाषा और सभ्यता के बाहरी आडम्बर के एक होने से वंश की एकता सिद्ध नहीं होती।

इससे यह बात निकली कि जब तक दूसरे पुष्ट प्रमाण न मिलें तब तक यह बात नहीं कही जा सकती कि उत्तरी भारत से लेकर पश्चिमी यूरोप तक प्रायः एक ही उपजाति के लोग बसे हैं। और सच तो यह है कि कोई दूसरे पुष्ट प्रमाण मिलते भी नहीं। जो मिलते हैं वह इसके कुछ विरुद्ध ही जाते हैं। यह बात प्रायः निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि पश्चिमी यूरोप में रहने वालों का एक बड़ा भाग किसी ऐसी उपजाति का वंशज है जो वहाँ उत्तर अफ्रीका से गयी थी। अतः अब ऐसा तो माना नहीं जाता कि कोई एक उपजाति थी जिसकी सन्तान इतनी फैल गयी है। जर्मनी के शासक दुराग्रह वश अपने को भले ही आर्य्य कहें परन्तु विद्वानों का बहुमत यही है कि आर्य्य नाम उन्हीं

लोगों के लिये उपयुक्त है जो भारत के वैदिक काल के आर्य्यों तथा प्राचीन पारसियों (ईरानियों) के पूर्वज थे। जो आर्य्य उपजाति थी उसकी दो ही निश्चित शाखाएं हुईं। एक वह जिसका सम्बन्ध भारत से हुआ, दूसरा वह जिसका सम्बन्ध ईरान से हुआ। पहिले की भाषा संस्कृत, दूसरे की जेन्द या पहलवी थी। पहिले का धर्म्मग्रंथ वेद, दूसरे का अवेस्ता है। किसी समय यह दोनों एक थे इसके तो शतशत प्रमाण हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख आगे के अध्यायों में होगा।

परन्तु कोई बहुप्रसवा आर्य्य उपजाति रही हो या न रही हो, एक ही उपजाति के वंशज हज़ारों कोस में फैले हों या न फैले हों, यह तो स्पष्ट है कि वह भाषा जिसे सुविधा की दृष्टि से मूल आर्य्य भाषा कहना ठीक होगा, इतने विस्तृत प्रदेश में फैली। संस्कृत, ज़ेन्द, ग्रीक और लैटिन इसकी साहित्यिक लड़कियाँ हैं और आज यह किंचित विकृत रूपों में मद्रास। छोड़कर प्रायः समस्त भारत, अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान, ईरान तथा प्रायः समस्त यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में बोली जा रही है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया में तो यह पिछले तीन चार सौ वर्षों में पहुँची है परन्तु यूरोप में तो यह कई हज़ार वर्ष पहिले पहुँच गयी थी। यह बात कैसे हुई, इसका कोई उत्तर होना चाहिये।

एक भाषा दूसरे देश में या तो उपनिवेश बसाने से जाती है या जीतकर राज्य स्थापित करने से। व्यापार के द्वारा भी भाषा का प्रचार हो सकता है। अब यदि यह सिद्ध है कि बहुत बड़ी संख्या में आर्य्य लोग जाकर सारे यूरोप में नहीं बसे तो उनकी भाषा कैसे फैली? इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि किसी समय बलवान और चिर-स्थायी आर्य्य साम्राज्य यूरोप में स्थापित हुए। बहुत से हिन्दू तो ऐसा मानते हैं कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहिले अर्जुनादि ने दिग्विजय करके सारे भूमण्डल को जीत लिया था। अब इसका कोई प्रमाण तो हमारी जनश्रुतियों के सिवाय कहीं मिलता नहीं। फिर यदि यह बात सच भी हो तो महाभारत को ५ हज़ार वर्ष हुए और यूरोप में आर्य्य

भाषा स्यात् इसके पहिले पहुँच चुकी होगी। कम से कम पाण्डवों के दिग्विजय का कोई स्थायी प्रभाव तो नहीं ही पड़ा। महाभारत के युद्ध में जो नरेश सम्मिलित हुए थे उन सबके राज्य भारत में ही थे। अतः यदि भारत के बाहर के देश जीते भी गये तो उनसे जो संबंध स्थापित हुआ वह तत्काल टूट गया। इतने से यहाँ की भाषा विजित देशों में नहीं फैल सकती थी।

पर यह भी निश्चित है कि प्राचीन काल में भी भारत का सम्बन्ध दूर दूर के देशों से था। यहाँ के व्यापारी दूर दूर तक जाते थे। ईरान का तो सम्बन्ध और भी विस्तृत था। ईरानी व्यापारी भूमार्ग से भी दूर दूर तक आ जा सकते थे और अपना माल दूर दूर तक पहुँचा सकते थे। कुछ तो आर्य्य भाषा इस प्रकार जा सकती थी और गयी भी होगी।

सम्भावना इस बात की है कि आर्य्यों की कुछ टुकड़ियाँ अवश्य इधर उधर फैलीं। उनका आदिम स्थान चाहे जहाँ रहा हो वहाँ से समय समय पर कुछ लोग निकले और इधर उधर फैले। वह जिस देश में गये वहाँ उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसायीं। कहीं तो उन्होंने अवसर पाकर आदिम निवासियों को अपना दास बना लिया, कहीं उनमें धीरे धीरे मिल गये। किसी जगह उनकी संख्या मूल निवासियों से अधिक रही होगी, बहुधा कम। वह अपने मूल निवास से पृथक् होने के पहिले ही सभ्यता की ओर बढ़ चुके थे। पशुओं को पालते थे, घर बनाते थे, कपड़े बिनते थे और सीते थे, धातुओं से काम लेते थे। इसलिये वह अपने पास पड़ोस के बर्बरों से अधिक सभ्य ही नहीं जीवन संग्राम के लिये अधिक सन्नद्ध थे। जहाँ उनकी संख्या कम थी वहाँ भी उनकी संस्कृति की धाक बैठ गयी। इसलिये आर्य्य भाषा सर्वत्र फैल गयी। परिस्थिति के अनुसार कहीं उसका रूप प्रायः शुद्ध रहा, कहीं उसमें न्यूनाधिक पूर्वप्रचलित भाषाओं के शब्द मिले।

आर्य्य लोग अपनी भाषा ही नहीं, अपनी संस्कृति भी ले गये। उनकी विचारशैली भी फैल गयी। उनकी देवसूची में विजितों के

स्थानीय देव देवी भी आ मिले और जितना ही आर्य्य लोग अपने मूल स्रोत से दूर पड़ते गये उतना ही अधिक संमिश्रण होना स्वाभाविक भी था परन्तु उनकी अपनी कथाओं, गाथाओं और देवमालाओं को ही प्रधानता मिली। यह बात हम भारत में ही देखते हैं। प्राचीन वैदिक धर्म्म के साथ कई प्रकार के भूत, भैरव, शीतला, विनायक, पिशाच, पशु, पक्षी, पेड़, नदी आदि की पूजा इस भांति मिल गयी है कि यदि उसको निकालने का प्रयास किया जाय तो लोगों को प्रतीत होगा कि सनातन धर्म्म का ही मूलोच्छेद किया जा रहा है। परन्तु इन सब पूजाओं पर वैदिक उपासना को ही प्रधानता है और सब पर वैदिक आर्य्य संस्कृति की छाप है। इसी तरह दूसरे देशों में भी आर्य्यों ने यथासम्भव अपनी चीजों की रक्षा की पर उनमें बहुत कुछ संमिश्रण होना अनिवार्य्य था।

यदि इस दृष्टिकोण को सामने रक्खा जाय तो जिसे हम आर्य्य उपजाति का इतिहास कहते हैं वह वस्तुतः आर्य्य संस्कृति का इतिहास है और जब हम इस बात का अन्वेषण करते हैं कि आर्य्य उपजाति का मूलनिवास कहाँ था और वह वहाँ से कब निकली तो वस्तुतः हम यह जानना चाहते हैं कि आर्य्य संस्कृति का मूलनिवास कहाँ था और कब था। यह असम्भव नहीं है कि विशेष परिस्थितियों ने ऐसे लोगों को जो आज कल की अर्धवैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार भिन्न उपजातियों के व्यक्ति होंगे एक जगह ला रक्खा और उन्होंने मिलकर उस संस्कृति को विकसित किया जिसे आर्य्य संस्कृति कहते हैं। पीछे से इसके आधार पर आर्य्य उपजाति की कल्पना की गयी।

तीसरा अध्याय

मध्य-एशियावाद

जैसा कि मैं पहिले अध्याय में लिख चुका हूँ आर्य्यों के आदिम निवास के विषय में कई मत हैं। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि यह स्थान यूरोप में था। उनकी राय है कि यूरोप के उत्तर में यूराल पहाड़ से लेकर अतलान्तिक महासागर तक जो लंबा मैदान है उसी में आर्य्य उपजाति और उसकी भाषाओं का विकास हुआ। इसमें न बहुत गर्मी है न सर्दी है, न बीच में ऊंचे पहाड़ हैं, न मरुभूमि है, न अभेद्य जंगल हैं। यहीं से शाखाएं निकल निकल कर चारों ओर फैलीं। इस मत की पुष्टि में यह बात भी कही जाती है कि यह यूरोप के आर्य्यों की कई शाखाओं के बहुत निकट है और चूंकि एशिया की अपेक्षा यूरोप में अधिक आर्य्य बसते हैं इसलिये सम्भावना यह है कि वह लोग यहीं से पूर्व की ओर गये होंगे।

इस मत के प्रवर्तक क्यूनो थे। कुछ और लोगों ने भी इसका समर्थन किया। यूरोप में आर्य्यों का जन्म मानना यूरोपवालों के भौगोलिक अभिमान की दृष्टि से भी लोगों को जँचने की बात थी पर यह बहुत चला नहीं। अधिकांश यूरोपियन विद्वानों ने यही माना कि आर्य्य लोगों का घर मध्य एशिया में था। आज भी जब कि दूर तक फैली हुई आर्य्य उपजाति का अस्तित्व अमान्य हो गया है, पश्चिम में मध्य एशियावाद का ही बोलबाला है। भारत में भी सर्कारी तौर पर इसे ही स्वीकार कर लिया गया है और पाठशालाओं में इसी की शिक्षा दी जाती है। इसका प्रतिपादन मैक्सम्युलर तथा भाषा विज्ञान के अन्य कई पण्डितों ने किया था।

इस मत का मूल आधार यह है कि चूँकि आर्य्य उपजाति (या आर्य्य संस्कृति) का सबसे अधिक परिचय हमको वेद और अवेस्ता

से मिलता है और चूंकि इन दोनों ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि जिन लोगों के यह ग्रंथ हैं उनका बहुत दिनों तक साथ रहा है और एक ही इतिहास रहा है अतः आदिम स्थान किसी ऐसी जगह रहा होगा जो वेद और अवेस्ता की भाषा बोलने वालों अर्थात् संस्कृत और ज़ेन्द बोलने वालों के निकट पड़ता हो। यहीं से एक शाखा ईरान गयी होगी, दूसरी भारत आयी होगी। तीसरी शाखा पश्चिम की ओर निकल पड़ी होगी और शुद्ध रूप में या मार्ग में अनार्य्यों से मिलती मिलाती यूरोप पहुँची होगी।

अब उनको इस जगह की खोज हुई। प्राचीन आर्य्य गऊ पालते थे, पशु चराते थे, खेती कम करते थे, ऐसा इन पण्डितों को वेदादि से तथा समान शब्दों को मिलाने से प्रतीत हुआ था। इसलिये वह आदिम स्थान लंबा मैदान होना चाहिये था। ऐसा विदित होता है कि उन दिनों वर्ष की गणना हिमों से होती थी। हिम नाम जाड़े का है। यह शब्द ग्रीक आदि में भी मिलता है। यदि सौ वर्ष कहना हुआ तो सौ हिम कहा जाता था। पीछे से शरद्‌ऋतु के द्वारा गणना होने लगी। सौ वर्ष को शरदः शतम् कहने लगे। संध्या करते समय लोग नित्य ही शरदः शतम् के लिये स्वस्थ और सुखी होने की प्रार्थना करते हैं। ऋग्वेद में, जो वेद का प्राचीनतम भाग है, हिम का ही प्रयोग प्रायः आता है। उदाहरण के लिये यह मंत्र देखिये :—

तद्वो यामि द्रविणं सद्य ऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।
इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः॥

(ऋक् ५—५४, १५)

इस मंत्र में 'शतं हिमाः तरेम' कहा गया है। इसका भाष्य है 'शत संवत्सरम् जीवेम'—सौ बरस जियें। इसका अर्थ यह है कि उन दिनों एक जाड़े से दूसरे जाड़े तक के काल को साधारण बोलचाल में एक वर्ष कहते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि वहाँ सर्दी बहुत पड़ती थी। पीछे से जब वह कम ठण्डे प्रदेश में आये तो हिम की जगह शरत् से

साल गिनने लगे। आज कल कभी कभी बरसात से साल गिनने का दस्तूर है।

चूँकि नावों का ज़िक्र है इस लिये वहां ऐसा पानी भी रहा होगा जिसमें नाव चल सके। घोड़ों का बार बार ज़िक्र आता है। लोग घोड़ों पर सवारी भी करते थे और रथ में भी जोतते थे। ऋग्वेद १-१६२, १२ में पक्वं वाजिनम्, पके घोड़े, के खाये जाने का भी संकेत है। यज्ञ में अश्व मार कर देवों को अर्पित किया जाता था और फिर खाया जाता था। पेड़ों में अश्वत्थ (पीपल) का ज़िक्र है परन्तु वट का नहीं। आम का भी नाम नहीं आता। ओषधियों में यव (जव) का ज़िक्र है और सोम की प्रशस्ति में तो सैकड़ों मंत्र और गाथाएं भरी पड़ी हैं।

इन बातों को सामने रखकर यूरोपियन विद्वानों की समझ में यह आया कि मध्य एशिया में ही यह सब बातें मिलती हैं। हिन्दूकुश पहाड़ के उस पार कास्पियन समुद्र के नीचे पामीर पर्वत की उपत्यका है। वहां सर्दी भी पड़ती है, यह सब पशु भी मिलते हैं और पाले जा सकते हैं। ऐतिहासिक काल में यहाँ से निकल कर शक आदि कई उपजातियों ने दूसरे देशों पर आक्रमण किया भी है। यह प्रान्त भारत और ईरान दोनों ओर जाने के लिये सुविधा देता है और यहां से योरोप भी जाया जा सकता है। अतः यही प्रदेश आर्य्यों का मूल स्थान मान लिया गया।

इस कल्पना में एक बात से सहायता मिली। पारसियों के धर्मग्रंथों से कुछ लोग ऐसा संकेत निकालते हैं कि अहुरमज्द (असुर महत्=महा असुर=ईश्वर) ने पहिली मानवसृष्टि वाल्हीक प्रदेश में की। यह बैक्ट्रिया प्रान्त वक्षु नदी के तट का प्रदेश है और फ़रात नदी तक चला जाता है। इस प्रकार यह मध्य एशिया में ही है। परन्तु इसके विपरीत यह बात पड़ती है कि वेदों में इस प्रदेश का कहीं उल्लेख नहीं है। वेदों में तो सप्तसिन्धव देश की ही महिमा गायी है। यह देश सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती तक था। इन दोनों नदियों के बीच में कश्मीर और पञ्जाब आ गये। कुभा नदी का भी ज़िक्र आता है। इसका

नाम आज कल काबुल है। इससे यह प्रतीत होता है कि अफ़ग़ानिस्तान का वह भाग जिसमें से काबुल नदी बहती है आर्य्यों के देश में था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि गान्धार का भी उल्लेख है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२६ वें सूक्त का सातवां मंत्र, 'रोमशा गन्धारीणामिवाविका: 'गन्धार की भेड़ों की भाँति रोयें वाला उपमा देकर यह बतलाता है कि आर्य्य लोग गन्धार की बड़ी बालों वाली—लंबे ऊन वाली—भेड़ों का उपयोग करते थे। वेदों में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि आर्य्य लोग सप्त सिन्धव में कहीं बाहर से आकर बसे थे। सप्तसिंधव के मुख्य भाग को ही उस समय ब्रह्मर्षिदेश नाम दिया गया जब आर्य्य लोग और पूर्व और दक्षिण की ओर अर्थात् गंगा-यमुना के अन्तर्वेद में बढ़े। परन्तु वेदों में, विशेषत: ऋग्वेद में, तो यही सप्तसिन्धव उनका घर प्रतीत होता है, वह इसके बाहर न तो कहीं बसे जान पड़ते हैं, न कहीं बाहर से आये प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में अवेस्ता की केवल एक गाथा के संदिग्ध अर्थ के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य ही उस गाथा का कुछ अर्थ होना चाहिये—हम इस प्रश्न पर आगे विचार करेंगे—परन्तु वेदों में बाहर से आने का उल्लेख न होना उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

एक और विचारणीय बात है। यदि यह मान लिया जाय कि सब आर्य्य मध्य एशिया में रहते थे तो वह उसे छोड़ कर इतस्तत: क्यों चले गये ? इसका कोई कारण नहीं बतलाया जाता। कहा यह जाता है कि उनके मन में ऐसी ही प्रवृत्ति उठी। यह कोई उत्तर नहीं है। यदि संख्या बढ़ जाने और खाद्य वस्तु कम हो जाने से उनकी टोलियां बाहर निकलतीं तो कुछ तो घर पर रह ही जाते। यह आश्चर्य्य की बात है कि वह प्रदेश जो आर्य्यों का आदिम निवास बतलाया जाता है स्वत: पूर्णतया आर्य्यशून्य हो गया।

देखना यह है कि कोई और भी ऐसा भूभाग है या नहीं जहां वह सब बातें मिलती हों जिनका वेद और अवेस्ता में समान रूप से वर्णन है

चौथा अध्याय

सप्तसिन्धव देश

इस प्रश्न पर और विचार करने के पहिले उचित प्रतीत होता है कि उस देश का जिसको वैदिक आर्य्य अपना घर समझते थे कुछ वर्णन कर दिया जाय। वर्णन भी उन्हीं के, अर्थात् वेद के, शब्दों में होना चाहिये। जब भारतीय आर्य्य लोग अपने ग्रंथों में कहीं और से आने की ओर संकेत नहीं करते—और यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद पृथ्वी की सब से पुरानी पुस्तक है—तो फिर जो कोई भी मत स्थापित किया जाय उसको यह देखना पड़ेगा कि वह वेदों के साथ भी सामञ्जस्य कायम कर सकता है या नहीं।

सप्तसिन्धव आर्य्यों को बहुत ही प्यारा था। यहां ही उनकी संस्कृति का विकास हुआ। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ३२ वें सूक्त में कहा गया है,

इन्द्रस्यानुवीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री

अर्थात् मैं उन पराक्रमशील कार्यों का वर्णन करूँगा जिनको इन्द्र ने सब से पहिले किया। इसके पीछे के २४ मंत्रों में यह वर्णन है। संक्षेप में यह बतलाया गया है कि इन्द्र ने अहि को मारा। अहि कहते तो हैं सर्प को। इस अहि का नाम भी दिया है। यह वही वृत्र है जिसकी पुराणों में वृत्रासुर के नाम से लम्बी कथा आयी है। विलक्षण बात यह है कि यहां उसके लिये 'देव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे यह प्रतीत हुआ कि वह इन्द्रादि का सजातीय था और प्रकाशमान शरीर वाला था। उसका एक विशेषण आया है प्रथमजामहीनाम्—जो अहियों में सब से पहिले पैदा हुआ। इन्द्र ने इस अहि को अपने वज्र से मारा।

अहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् (पंक्ति का पूर्व भाग: *असायकं मघवा दत्त वज्रम*)

(ऋक् १—३२, ३)।

वृत्र के मरने पर क्या हुआः

दास पत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपास् विलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अपतद्ववार॥
अश्व्योवारो अभवस्तदिन्द्र सृकेयन्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयोगा अजयः शूर सोमसवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥

(ऋक् १—३२—११,१२),

अर्थात्, उसके द्वारा रक्षित जो उसकी पत्नियां, जलधारें, थीं उनका द्वार जिसको उसने वन्द कर रक्खा था खुल गया और वह मुक्त हो गयीं। इन्द्र ने गौओं को जीता, सोम को जीता और सप्तसिन्धुओं के प्रवाह को मुक्त कर दिया।

इस गाथा में, निरुक्त के अनुसार, जल से भरे हुए बादलों का गरजना, उन पर विजली का कड़कना, उनसे जल धारा का फूट पड़ना और फिर उस जल का सप्तसिन्धुओं (सातों नदियों) में प्रवाह रूप से गिरना—यही दृग्विषय वर्णित है। अहि शब्द बादल के लिये प्रयुक्त हुआ है। यहां पर दो बातें विचारणीय हैं। बादल से निकली हुई जलधारा से नदियों का सर्वत्र ही पोषण होता है परन्तु मंत्र ने सप्तसिन्धु (सात नदियों) का ही नाम लिया है। उसकी दृष्टि में इनका ही महत्त्व है। दूसरी बात यह है कि सूक्त के प्रथम मंत्र के अनुसार यह इन्द्र का प्रथम पराक्रम है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहां तक आर्य्यों की स्मृति काम करती थी, जहां तक उनकी जनश्रुतियां थीं, वहां तक यह इन्द्र के वीर्य्य का पहिला निदर्शन था। आर्य्यों की स्मृति बहुत पुरानी थी इसमें कोई सन्देह नहीं। ऋग्वेद की भाषा की प्रौढ़ता यह बतलाती है कि वह गंवारों की बोली न थी वरन् कई हज़ार वर्षों के परिष्कार के बाद अपने तत्कालीन रूप को पहुँची थी। फिर जब वैदिक ऋषि अपने से भी पहिले काल की ओर संकेत करते हैं तो निःसन्देह ही वह हमको बहुत पीछे की ओर ले जा रहे हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त का दूसरा मंत्र कहता है :

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत

अग्नि की उपासना नूतन ऋषि भी करते हैं और पूर्व ऋषि भी करते थे। ऐसे ही और भी कई मंत्रों में अपने से पहिले के ऋषियों का ज़िक्र है। अतः यह संकेत बहुत काफ़ी पुराने काल की ओर होगा, दो चार सौ वर्ष तो 'नूतन' के ही अन्तर्गत हो सकता है। तो उन पूर्व ऋषियों को भी इन्द्र का कोई इस वृत्रवध से पुराना विक्रम ज्ञात न था।

वेदमंत्रों का समय क्या है इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा है। यूरोपियन विद्वान तो आज से प्रायः ३५००—४००० वर्ष से पीछे जाने को तैयार नहीं थे। अब भी उनमें से कई इसी के लगभग या कुछ थोड़ा सा और पीछे जाते हैं। बहुत पहिले तो एक कठिनाई यह थी कि बाइबिल के अनुसार सृष्टि को कोई ८५०० वर्ष हुए। फिर तो मनुष्य के विकास का सारा इतिहास इसी काल के भीतर घटाना था। अब यह आपत् तो टल गयी। भूगर्भवेत्ता करोड़ों वर्ष की बात करते हैं पर यूरोप वालों ने अपने लिये कुछ दीवारें खड़ी कर ली हैं, उनके बाहर निकलने में उनको कठिनाई होती है। एक दीवार मिश्र की सभ्यता है जिसके अवशेष हमको विशालकाय इमारतों के रूप में मिलते हैं। इसका इतिहास अब से लगभग ६००० वर्ष के भीतर का है। कोई दूसरा देश अपने इतिहास को इससे भी पीछे ले जा सकता है यह मानने में जो आयास पड़ता है उसको कुछ यूरोपियन विद्वान नहीं सह पाते। लोकमान्य तिलक ने यह दिखलाया है कि वेदों के कुछ मंत्रों में ऐसे संकेत हैं जिनसे वह लगभग १०,००० वर्ष पुराने प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर हम उनके तर्क का दिग्दर्शन मात्र करा सकते हैं। भगवद्-गीता के दशम अध्याय में जहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन से अपनी विभूतियाँ बतलायी हैं यह श्लोकार्ध आता है:—

मासानाम् मार्गशीर्षोऽहम्, ऋतूणां कुसुमाकरः।

मैं महीनों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त।

वसन्त को तो ऋतुराज कहते हैं। उसका विभूतियों में गिना जाना तो स्वाभाविक है परन्तु मार्गशीर्ष की कोई विशेषता समझ में नहीं

आती। किसी टीकाकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। लोकमान्य तिलक तथा कुछ और विद्वानों का ख़ियाल इस ओर गया और बहुत खोज के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे कि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों की रचना* ऐसे समय में हुई थी जब वसन्त सम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। यह आज से लगभग ६,५०० वर्ष की बात है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ३९ वें सूक्त के २ रे मंत्र का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है :—

दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना विजागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्याधीः॥

अर्थात् वेद के मंत्रों को बहुत प्राचीन काल में पूर्वज लोग गाया करते थे और वह तभी से चले आ रहे हैं। इससे यह बात निकली कि यदि कुछ मंत्र ६,५०० वर्ष पुराने हैं तो कुछ इससे बहुत पुराने हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल के ८६ वें सूक्त को वृषाकपि सूक्त कहते हैं। कुछ लोग उसको १८,००० वर्ष पुराना मानते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद, दशम मण्डल के ८५ वें सूक्त का १३ वाँ मंत्र १७,००० वर्ष का पुराना माना जाता है। इन मंत्रों का पुरानापन इनमें दिये हुए ज्यौतिष संकेतों से निश्चित किया जाता है। जैसे ऋक् १०-८५,१३ इस प्रकार है :—

सूर्याया वहतुः प्रागात्सवितायमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥

पिछली पंक्ति का अर्थ है मघा नक्षत्र में सूर्य्य की दी हुई गौएँ सोमगृह ले जाने के लिये फाल्गुनियों में (पूर्वा तथा उत्तरा फाल्गुनि में) दण्डों से प्रताड़ित होती हैं। बस यही ज्यौतिष आधार इस मंत्र के रचनाकाल का पता देता है।

---

* हिन्दू लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं अर्थात उनका कर्ता कोई मनुष्य नहीं है। वह ईश्वर कृत और अनादि हैं। फिर भी यह तो वेदमंत्रों के देखने से ही स्पष्ट है कि सब मंत्र एक ही समय के नहीं हैं। ऐसी दशा में 'रचना काल' से तात्पर्य उस काल से होगा जब वह मंत्र पहिले पहिले किसी ऋषि के द्वारा आविर्भूत हुआ।

इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदों के रचयिताओं की जनश्रुति तथा स्मृति काफ़ी लंबी थी फिर भी उनका यह कहना था कि वृत्र को मार कर सप्त सिन्धुओं में जल को प्रवाहित कराना इन्द्र का प्रथम पराक्रम था। इससे यह स्पष्ट है कि इनको किसी भी दूसरे देश की स्मृति नहीं थी।

सप्तसिन्धव देश की सातों नदियों के नाम थे सिन्धु, विपाशा (व्यास), शुतुद्रि या शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), असिक्री (चनाव), परुष्णी (रावी) और सरस्वती। इन्हीं सात नदियों के कारण इस प्रदेश का नाम सप्तसिन्धव पड़ा था। इसके अतिरिक्त और भी नदियाँ थीं। सरस्वती के पास ही दृषद्वती थी। सिन्धु में तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा. गोमती, मेहत्नु और क्रुमु गिरती थीं। सिन्धु का नाम सुषोमा और विपाशका आर्जिकीया भी था। ऋक् १०-७५,५ में गंगा यमुना का नाम भी आया है पर यह नामोद्देश मात्र है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि मंत्रकार को इनका पता था। यों यह सप्तसिन्धव के बाहर थीं।

आज कल हिन्दुओं में गङ्गा और यमुना का महत्त्व है। गंगा का माहात्म्य अन्य सभी नदियों से बढ़ा चढ़ा है। गंगा इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष देती हैं। गंगा, गंगा ऐसा कहने से ही सद्गति प्राप्त होती है। गंगातट से सौ योजन, चार सौ कोस, पर पड़ा हुआ व्यक्ति भी गंगा को पुकारने से विष्णुलोक को जाता है। वैदिक काल में यह बात न थी। उन दिनों सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्य्यों की बस्तियां थीं और ऋषियों के तपोवन थे। सिन्धु और सरस्वती ही ऐहिक तथा आमुष्मिक उन्नति की सोपान थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ७५ वां सूक्त सिन्धु की महिमा गाता है। इसके पहिले ही मंत्र में कहा है :—

प्रसृत्वरीणामतिसिन्धुरोजसा

सिन्धु नदियों में सबसे ओजस्वती है। दूसरे मंत्र में कहते हैं :—

प्रतेरदद्वरुणो यातवे पथःसिन्धो :—

हे सिन्धु आरम्भ में वरुण ने तुम्हारे गमन के लिये मार्ग खोदकर बनाया। सातवें मंत्र में कहते हैं :—

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता॥

सिन्धु सीधे बहने वाली श्वेत वर्ण दीप्यमाना वेगवती अहिंसिता नदियों में अपस्तमा (श्रेष्ठ नदी) है। वह घोड़ी की भांति चित्रा (प्रशंसनीया) और सुन्दर स्त्री की भांति दर्शनीया है।

सरस्वती की प्रशंसा में तो क़लम ही तोड़ दिया है। जो वेद मंत्र इस सम्बन्ध में मिलते हैं वह काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उदाहरण के लिये इन अवतरणों को देखिये :—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्तीसुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती

(ऋक् १-३,११)

सरस्वती ने जो सूनृतों (सत्य बातों) की प्रेरिका है और सुमतिमान मुनुष्यों की शिक्षिका है, हमारे यज्ञ को धारण कर लिया है (स्वीकार कर लिया है)

इयम् शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वती मा विवासेम धीतिभि

(ऋक् ६-६१,२)

नदी के रूप में प्रकट होकर सरस्वती ने ऊँचे पहाड़ों को अपनी वेगवान् विशाल लहरों से इस प्रकार तोड़ फोड़ डाला है जैसे जड़ों को खोदने वाले मिट्टी के ढेरों या टीलों को तोड़ डालते हैं। आवो हम लोग इन किनारों को तोड़ डालने वाली की अर्चा करें और अपनी रक्षा के लिये स्तुतियों और यज्ञों से इसको तुष्ट करें।

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्चजाता वर्धयन्ती। वाजे वाजे हव्यानृत

(ऋक् ६-६१,१२)

को यों सन्तोष दे लेते हैं कि सरस्वती की गुप्त धारा प्रयाग में त्रिवेणी संगम में विद्यमान है। उत्तर का समुद्र भी अब सूख गया। उसकी यादगार कास्पियन सागर, अरल सागर तथा उस प्रदेश की दूसरी बड़ी बड़ी झीलों की बदौलत बनी हुई है। जहाँ पश्चिम का समुद्र सुलेमान पहाड़ तक जाता था वहाँ आज सिन्ध प्रान्त का एक भाग बस गया है। इस संबंध में प्रथम परिशिष्ट अवश्य देखना चाहिये।

भूगर्भ शास्त्र के अनुसार यह परिवर्तन पिछले २५ से ५० हज़ार वर्ष के भीतर हुए हैं। देखना यह चाहिये कि वेदों में इन बातों की ओर कहीं संकेत है या नहीं। यूरोपियन विद्वानों ने इन संकेतों को ढूंढना अनावश्यक समझा। किसी ने प्रमाण उनके सामने रखने का प्रयत्न किया भी तो उन्होंने अपना अस्वारस्य दिखलाया। इसका कारण यह था कि एक तो वह वेदमंत्रों को इतना पुराना मानने को ही तैयार नहीं होते थे, दूसरे यह बातें उनके मध्य एशिया वाले मत के विरुद्ध जाती थीं।

वह तो यहाँ तक मानने को तैयार नहीं थे कि वैदिक आर्य्यों को समुद्र का प्रत्यक्ष ज्ञान था। उनका यह कहना था कि या तो वेदों में समुद्र का कहीं उल्लेख नहीं है, या यदि है तो वह सुनी सुनायी बातों के आधार पर। स्वयं आर्य्यों के देश में समुद्र नहीं था। उनको ऐसा कहने का अवसर यों मिल जाता है कि सिन्धु शब्द समुद्रवाची होने के साथ ही सिन्धु नदी का नाम है और सामान्य नदी के भी अर्थ में आता है। इसलिये प्रसङ्ग के अनुसार टीका करनी होगी। ऋग्वेद के १ ले मंडल के ४६ वें सूक्त का दूसरा मंत्र अश्विनों को सिन्धुमातरा कहता है। यहाँ सिन्धु का अर्थ समुद्र ही हो सकता है, क्योंकि सूर्य्योदय के पहिले दोनों अश्विन पूर्व समुद्र से उसी प्रकार निकलते हैं जैसे बच्चा माता के गर्भ से निकलता है। यहाँ समुद्रमातरा का अर्थ है 'समुद्र है माता जिनकी'। परन्तु ३ रे मंडल के ३६ वें सूक्त के ७ वें मंत्र में स्पष्ट ही इस शब्द का प्रयोग नदी के अर्थ में हुआ है। 'समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः' जैसे समुद्र से संगति की याचना

करने वाली सिन्धुएं उसको जल से भरती हैं, वैसे ही अध्वर्यु आदि यज्ञ करने वाले इन्द्र को सोम से तुष्ट करते हैं। ऋक्, मं० ५, सूक्त ८५ का ६ वां मंत्र कहता है :—

इमामूनु कवितमस्य मायां महीं देवस्य न किरादधर्ष ।

एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरा सिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥

यह महाप्रज्ञ देव वरुण की महती माया है कि इतनी वेगवती नदियां मिलकर भी समुद्र को जल से नहीं भर सकतीं।

ऋक् ७—८८,३ में वशिष्ट कहते हैं :—

आयद्रुहाव वरुणश्च नावं प्रयत्समुद्रमरियाव मध्यम् ।

अधियदपांस्नुभिश्चराव प्रेंख ईखयावहै शुभेकम् ॥

जब वरुण के प्रसन्न होने पर मैं उनके साथ नाव में समुद्र के मध्य में गया तो वहाँ और भी नावें चल रही थीं उनके साथ हम चले और समुद्र की लहरों में झूले का सा सुख मिल रहा था।

प्रथम मण्डल के ११६ वें सूक्त के ४ थे और ५ वें मंत्र में यह कथा है कि भुज्यु अपने साथियों के साथ समुद्र में तीन दिन रात तक इधर उधर भटकता रहा। उसको अश्विनों ने वहाँ से बचाया। वहाँ पर समुद्र के विशेषणों में आलंवन रहित, भूप्रदेश रहित, सहारे के लिये पकड़ने योग्य शाखा आदि से रहित ऐसे शब्द आये हैं। अश्विनों की नौका को शतपद कहा है। सौपद का अर्थ सम्भवतः सौ डांडों से खेयी जाने वाली होगा। कम से कम यह बड़ी नाव, जहाज़ का सूचक है।

इन अवतरणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इन आर्य्यों को समुद्र का परिचय था और ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है कि यह बातें सुनी सुनायी कहानियों के आधार पर कही गयी हैं। अब यह देखना है कि जिन समुद्रों का उनको पता था वह उनके देश के किस ओर थे। दशम मण्डल के १३६ वें सूक्त का ५ वां मंत्र कहता है :—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।

उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥

वायुभोक्ता, द्योतमान सूर्य्य जैसे रूपवाले, वायु के सखा मुनि (करिक्रत नाम के ऋषि) दोनों समुद्रों के पास जाते हैं। कौन दोनों समुद्र, वह जो पूर्व में है और दूसरा जो पश्चिम में है।

यह स्पष्ट है कि पश्चिम का समुद्र वही होगा जिसमें सिन्धु गिरती थी और पूर्व का समुद्र वह जिसमें उन दिनों गंगा यमुना गिरती थीं। यह शब्द बंगाल की खाड़ी के लिये नहीं आ सकता। ऋग्वेद में गंगा की पूर्व की न तो किसी नदी का नाम है न किसी स्थान का। पूर्वी समुद्र तो उन दिनों वहाँ था जहाँ आज युक्तप्रान्त बसा है। कहीं कहीं पर चारों ओर के समुद्रों का भी उल्लेख है। उदाहरण के लिये :—

रायः समुद्राँश्चतुरोस्मभ्यं सोमविश्वतः। आपवस्व सहस्त्रिणः

(ऋक् ९—३४,६)

हे सोम धनपूर्ण चारों समुद्र तथा सहस्रों (अर्थात् अपरिमित) कामनायें हमको पूर्णतया दो।

जहाँ जहाँ सरस्वती के समुद्र में गिरने का जिक्र आया है वहाँ वहाँ दक्षिणस्थ समुद्र की ओर तो साफ़ ही संकेत है। पर्वत का कितना अच्छा वर्णन है :—

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः॥

(ऋक् १०—९४,१२)

युग युग यह पहाड़ ध्रुव अचल खड़े हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी सभी इच्छाएं परिपूर्ण हो गयी हैं और इन्हें कहीं आने जाने की आवश्यकता नहीं है। इन्होंने सोम का भोग किया है, जराहीन हैं। हरियाली से भरे हुए हैं और पृथिवी को मधुर रव से (चिड़ियों के कलगान या पेड़ों में से बहने वाली हवा की आवाज़ से) परिपूर्ण करते हैं।

उस समय भौगर्भिक उपद्रव भी हुये थे, उनकी ओर इस प्रकार संकेत है :—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥

(ऋक २—१२,२)

हे लोगो, इन्द्र वह है जिसने व्यथित (हिलती डोलती) पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने कुपित (इतस्ततः चंचल) पर्वतों को शान्त किया, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को फैलाया, जिसने आकाश को स्थिर किया।

उसी प्रकार २ रे मंडल के १७ सूक्त का ५ वां मंत्र कहता है:—

स प्राचीनान्पर्वतान् दृंहदोजसा धराचीनमकृणोदपामपः ।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः ॥

उसने प्राचीन इधर उधर चलनेवाले पर्वतों को अपने बल से दृढ़ किया, बादलों के जलको नीचे गिराया, विश्वधारिणी पृथ्वी को स्थिर किया और द्युलोक, आकाश, का स्तम्भन किया।

प्रत्यक्ष ही इन मंत्रों में उस काल की स्मृति है जब कि हिमालयादि पर्वत भूगर्भ से ऊपर उठ रहे थे, भूकम्प बराबर आते थे, ज्वालामुख विस्फोट होता था। भूगर्भ शास्त्र के अनुसार उस समय पृथ्वी पर यही सब परिवर्तन हो रहे थे।

सप्तसिन्धव के सम्बन्ध में यह तो लिखा जा ही चुका है कि वह शीतप्रधान था। सर्दी कड़ी पड़ती थी इसका बड़ा प्रमाण यह है कि साल की गणना हिमों से करते थे। साथ ही वर्षा भी खूब होती थी। एक अवतरण हम दे चुके हैं। दो एक और देना पर्य्याप्त है:—

अदर्दरुत्समसृजो विखानित्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः ।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वियद्वः सृजोविधारा अवदानवं हन् ॥

(ऋक् ५-३२,१)

हे इन्द्र तुमने बादलों को फाड़ डाला, तुमने जल के प्रवाह के द्वार खोल दिये, तुमने अवरुद्ध धाराओं को मुक्त कर दिया और दानव (वृत्र) को मार कर जल को गिराया।

इसी प्रकार प्रथम मण्डल के ५४वें सूक्त का १०वां मंत्र कहता है:—

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः ।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते ॥

जल की धारा को अँधेरे ने रोक लिया था। वृत्र ने अपने पेट में बादल रख लिया था। इन्द्र ने उसको मार कर जल को पृथ्वी के नीचे से नीचे भागों पर गिरा दिया।

इस प्रकार के मंत्र यह दिखलाते हैं कि वर्षा—सामान्य वर्षा नहीं, वरन् गहिरा जलपात—उन लोगों का बहुत ही परिचित दृग्विषय था जिसका वर्णन वह लोग बारंबार उसी प्रकार करते हैं जैसे पीछे के कवि वर्षा के वर्णन में मुग्ध हो जाते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि ग्रीष्म का इस प्रकार उल्लेख नहीं आता। इससे यह अनुमान होता है कि वहाँ बहुत गर्मी नहीं पड़ती थी। आज उस प्रदेश में यह बात नहीं है। पंजाब में जाड़ों में तो कड़ी सर्दी पड़ती है परन्तु गर्मियों में गर्मी भी उतनी ही कड़ी पड़ती है। वर्षा साधारण होती है। इस ऋतु परिवर्तन का कारण यह है कि इस प्रान्त के चारों ओर का समुद्र सूख गया और एक ओर पानी की जगह विस्तृत मरुभूमि ने ले ली है। इन समुद्रों से भाप बनकर वर्षा भी होती थी और पहाड़ों पर वर्फ़ भी जमा होती थी। अब दोनों बातों में कमी हो गयी है। इसलिये जलवायु सूखा हो गया और नदियों में भी उतना जल नहीं रह गया।

यही वह प्रदेश था जिसमें वेदों के अनुसार आर्य्य लोग रहते थे। इसको देवकृतयोनि—ईश्वरनिर्मित देश मानते थे। इसके पहाड़, इसकी भूमि, इसकी नदियां, उनको प्यारी थीं। यहीं उनकी संस्कृति का उदय और विकास हुआ। यहीं उनका अभ्युदय हुआ और यहीं उनको निःश्रेयस की दीक्षा मिली। यह पुनः पुनः स्मरण रखने की बात है कि वेद कहीं इस बात का संकेत भी नहीं करते कि इस प्रदेश में बसने के पूर्व आर्य्यों के पूर्वज कहीं अन्यत्र बसते थे। उनको न तो गंगा से पूर्व के भूभाग का पता था न अफ़गानिस्तान के पश्चिम के किसी देश का परिचय था। अतः वह इसी को अपना आदि निवास ;मानते थे और आज तक भी हिन्दू लोग परम्परया ऐसा ही मानते आये हैं।

पाँचवाँ अध्याय

अवेस्ता मे संकेत

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं पारसियों, अर्थात् प्राचीन ईरानी आर्य्यों, के धर्म्म ग्रंथ का नाम अवेस्ता है। वह जेन्द अर्थात् पुरानी ईरानी (फ़ारसी) भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। उदाहरण के लिये इन वाक्यों को देखिये:—

यत ता उर्वाता सशया या मज़दाओ ददाता खीति चा अनीति चा...अत ऐपि ताईश अंघहती ऊश्ता (गाथा)

मज़्द ने हमको जो यह दो स्व (आत्माएं दीं) इनमें से जो ऊंची है वह धर्म्म की ओर संकेत करती है और नीची अनीति की ओर ले जाती है। हमारे सब काम इन्हीं दोनों के द्वारा होते हैं।

कत वे चथ्रेम मज़दा, यथा वाओ हख्मी....पर वस्खेमा...यथा ......ऊवैंघास.....अपेनी पैति (गाथा)

ऐ मज़्द, हमको सिखाओ कि वह कौन सा उत्सर्ग, कौनसा धैर्य्य, कौन सा वैराग्य है जो हमको तुमसे मिला दे और आत्मज्ञान करा दे।

अवेस्ता के अनुसार जगत का रचयिता, धारयिता, धर्म्मतत्व अहुर मज्द [असुरमहत्—महा असुर या महत् (पराबुद्धि) सम्पन्न असुर या असुर मेधा (मेधा देनेवाला) असुर] है। स्मरण रहे कि वेदों में भी देव या ईश्वर के लिये असुर शब्द का प्रयोग हुआ है और वृत्रासुर दैत्य को देव कहा गया है। इनका नाम वरन (वरुण) भी है। यह असुर विश्ववेदा (सर्वज्ञ असुर) भी कहलाते हैं। इनके साथ ही जगत् में एक अधर्म्म भी है। उसका नाम अंग्रमैन्यु है। वह असुर महत् के कामों में विघ्न डाला करता है और उसको सफलता भी होती है पर अन्त में उसकी हार होगी।

इस धर्म्म की मुख्य बातें अवेस्ता में ऐसे उपदेशों के रूप में दिखलायी गयी हैं जो समय समय पर असुर महत्‌ने जरथुश्त्र को दीं। जरथुश्त्र को अवेस्ता का ऋषि कहना चाहिये। उन्होंने धर्म्म का प्रवर्तन किया इसलिये कुछ लोग इसको जरथुश्त्री धर्म्म कहते हैं।

अवेस्ता की पहिली पुस्तक वेन्दिदाद के प्रथम फ़र्गर्द (अध्याय) में कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनसे आर्य्यों के आदिम निवास की ओर कुछ संकेत होता है। उनका आगे काम पड़ेगा। इस लिये हम उस फ़र्गर्द का अनुवाद दिये देते हैं:—

१. अहुरमज़्द ने स्पितम[1] ज़रथुश्त्र से यों कहा:

२. मैंने प्रत्येक देश को उसके निवासियों की दृष्टि में प्यारा बना दिया है, चाहे उसमें कोई गुण न हो। यदि मैं ऐसा न करता कि हर देश के रहने वाले अपने गुणरहित देश से भी प्यार करें, तो सारी पृथ्वी के मनुष्य ऐर्य्यन वेइजो पर ही आक्रमण कर बैठते।

३. मैं, अहुरमज़्द, ने जिन अच्छे देशों की सृष्टि की उनमें सर्वप्रथम ऐर्य्यन वेइजो[2] है, जो शुभ नदी दैत्य[3] के किनारे है।

तब वहां अंग्र मैन्यु आया। वह मृत्युस्वरूप है। उसने अपनी माया से नदी में सर्प[4] उत्पन्न किया और जाड़े का ऋतु उत्पन्न किया। यह देवों[5] का काम है।

---

१ स्पितम—सबसे बड़ा धर्म्मात्मा, उदार, उपकारी।

२ ऐर्य्यन वेइजो—आर्य्यों का बीज। इस देश का जो वर्णन दिया गया है उससे अनुमान किया जाता है कि यह स्थान कहीं ध्रुवप्रदेश में है। कुछ लोग समझते हैं कि यह स्थान ईरान के उत्तर में कहीं है।

३ अरक्सीज़ नदी को ही दैत्या समझते हैं। पर वहां दस महीने के जाड़े वाली बात नहीं घटती। इस शब्द का उच्चारण प्रायः ईरान वैज होता है। यह भी कहना आवश्यक है कि स्वतंत्र रूप से वेइजो या वैज जैसा कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ बीज हो।

४ अरक्सीज़ नदी के किनारे सर्प मिलते हैं। परन्तु मूल में अहि शब्द आया है। अहि का अर्थ सर्प भी है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वृत्रासुरवध की कथा में वेद में वृत्रासुर को अहि कहा गया है।

५ वेदों में कहीं कहीं असुर उसी अर्थ में आया है जो उसका ज़ेन्द में है। यह

४. वहाँ जाड़े के दस महीने हैं, गर्मी के दो महीने हैं। यह दो महीने भी जल के लिये, पृथ्वी के लिये और वृक्षों के लिये ठंडे हैं। वहाँ अपनी सारी बुराइयों के साथ जाड़ा पड़ता है।

५. मैंने जो दूसरा अच्छा देश बनाया वह सुग्ध[1] में का मैदान था।

तब वहाँ अंग्र मैन्यु आया, जो मृत्युस्वरूप है। उसने अपनी माया से स्कैत्य मक्खी उत्पन्न की जो गाय बैलों को मार डालती है।

३. मैंने जो तीसरा अच्छा देश बनाया वह बलवान, पवित्र मोउरु[2] था।

तब मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने आकर अपनी माया से पापात्मक वासनाओं को उत्पन्न किया।

७. मैंने जिस चौथे अच्छे देश की सृष्टि की वह ऊंचे झंडोंवाला सुन्दर बरिव्ध[3] था।

तब अंग्रमैन्यु ने, जो मृत्युरूपी है, आकर अपनी माया से ब्रवट उत्पन्न किया।

८. मैंने जिस पाँचवें अच्छे देश की सृष्टि की वह निशाय[4] है जो मोउरु और बरिव्ध के बीच में है।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने आकर अपनी माया से अश्रद्धा का पाप उत्पन्न किया।

९. मैंने जिस छठे अच्छे देश की सृष्टि की वह हरोयु[5] और उसकी झील है।

वहां मृत्युरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से रंगीन (छींटेदार) मच्छर उत्पन्न किया।

वही अर्थ है जो पीछे से सुर शब्द का हुआ। सुर का अर्थ है देव। अवेस्ता में देव शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में वेदों में दैत्य शब्द आता है। यही बात आज तक फ़ारसी में देव शब्द में चली आयी है।

१ सुग्ध सम्भवतः समरक़न्द, मध्य एशिया में

२ मोउरु—सम्भवतः दक्षिणी रूस में मर्व

३ बरिव्ध—सम्भवतः बल्ख़ (बोख़ारा के पास, तुर्किस्तान में)

४ निशाय—ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाम के कई नगर थे पर मोउरु और बरिव्ध के बीच में किसी का पता नहीं चलता।

५ हरोयु=हेरात। यहां किसी झील का ठीक पता नहीं चलता।

१०. जिस सातवें अच्छे देश की मैंने सृष्टि की वह दुष्ट छायाओं वाला वैकरेत[1] था।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने आकर अपनी माया से पैरिक ज्ञाथैति[2] को उत्पन्न किया जो करशस्प[3] से चिपक गया।

११. मैंने जिस आठवें अच्छे देश की सृष्टि की वह अच्छी गोचरभूमि वाला उर्व[4] था।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से अभिमान का पाप उत्पन्न किया।

१२. नवां अच्छा देश जिसकी मैंने सृष्टि की वह वेह्कन में रन्नेन्त[5] था।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से उस पाप को उत्पन्न किया जिसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है अर्थात् अप्राकृतिक पाप।

१३. जिस दसवें अच्छे देश की मैंने सृष्टि की वह सुन्दर हरह्वैति[6] है।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से उस पाप को उत्पन्न किया जिसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है, अर्थात् मुरदों को गाड़ने का पाप[7]।

---

१ वैकरेत—कुछ लोगों का ख़याल है कि यह कापुल (कावुल) का नाम है।

२ अवेस्ता में एक प्रकार की देवकन्याओं का ज़िक्र आता है जिनको कभी कभी तो दुष्ट देवगण (अर्थात वैदिक शब्दों में दैत्यगण) उठा ले जाते हैं और फिर उनका उद्धार होता है; कभी कभी वह देवों से मिलकर अच्छे लोगों को छलती हैं। उनका स्वरूप अप्सराओं जैसा हुआ। यही पैरिक शब्द पीछे से परी हो गया।

३ करशास्प एक वीरात्मा थे। उन्होंने कई अच्छे और उल्लेख्य काम किये। अन्त में वह ज्ञाथैति नामी पैरिक के वश में आगये। उसने उन्हें निद्रावस्था में अंग्रमैन्यु को सौंप दिया। अभी वह सोते पड़े हुए हैं पर एक दिन उनका भी छुटकारा होगा।

४ उर्व—कुछ ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोगों का ख़याल है कि यह जगह कहीं खुरासान में है। सम्भवतः इस्फ़हान के आसपास की भूमि उर्व रही होगी। [संस्कृत उर्वर—हराभरा]

५ वेह्कन—सम्भवतः जार्जन (जार्जिया ?)। रन्नेन्त उस प्रदेश की एक नदी (जार्जन) का नाम है।

६ हरह्वैति—हरत्त

७ तृतीय फ़र्गद में अहुरमज्द कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य मुरदे को पृथ्वी में गाड़कर दो वर्ष के भीतर न निकाल ले तो उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

१४. जिस ग्यारहवें देश की मैंने सृष्टि की वह तेजःपूर्ण प्रकाशमान हैतुमन्त[1] था।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से यतुओं के जादू[2] को उत्पन्न किया।

१५. यतुओं का स्वभाव इस प्रकार अपने को प्रकट करता है; यह उनकी कुदृष्टि से प्रकट होता है और जब जादूगर अपने मंत्र पढ़ता है तो भयानक प्रकार के जादू के काम होते हैं।

१६. जिस बारहवें देश की मैंने सृष्टि की वह तीनों उपजातियों वाला रघ[3] था।

वहां अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से पूर्ण अविश्वास (अश्रद्धा) का पाप उत्पन्न किया।

१७. जिस तेरहवें अच्छे देश की मैंने सृष्टि की वह बलवान, पवित्र चख[4] था।

वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से उस पाप को उत्पन्न किया जिसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है, अर्थात् मुर्दों को जलाने का पाप[5]।

१८. जिस चौदहवें अच्छे देश की मैंने सृष्टि की वह चतुष्कोण वरेन[6] था जिसके लिये थ्रैतौन[7] ने जन्म लिया जिन्होंने दाहक[8] नाम के अहि को मारा।

---

१ हैतुमन्त=हेल्मण्ड

२ यतुओं का जादू—वेदों में भी यतुओं का उल्लेख है। यह एक प्रकार के मायावी प्राणी थे जो भांति भांति के रूप धारण करते और दूसरे प्रकारों से लोगों को तंग करते थे। कुछ मनुष्य भी यतुओं की भांति जादूगर होते थे। यह लोग मंत्र पढ़कर भांति भांति के दुष्ट चमत्कार दिखलाते थे।

३ रघ=रई (एक मत के अनुसार जरथुश्त्र का जन्मस्थान)

४ चख—अज्ञात। ख़ोरासान में चर्ख़ नाम का एक नगर था। कुछ लोग समझते हैं कि यह वही स्थान है।

५ आठवें फ़र्गर्द में अहुरमज्द कहते हैं कि यदि मज्द के उपासक किसी को मुर्दा जलाते देख लें तो उसे मार डालें।

६ वरेन—पृथ्वी पर कहां है, इसका पता नहीं। कथा यह है कि चतुष्कोण वरेन (संस्कृत वरुण=आकाश, स्वर्ग) में   ७ थ्रैतौन आप्त्य ने अहि दाहक को मारा जिसके ३ मुँह, ३ सिर, ६ आँखें थीं। ८ ऋग्वेद के अनुसार त्रैतन या त्रित आप्त्य ने अहि को मारा जिसके ३ सिर और ६ आँखें थीं।

तब वहां मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से स्त्रियों में असाधारण रक्तस्राव[1] और विदेशी नरेशों का अत्याचार उत्पन्न किया।

१९. जिस पन्द्रहवे अच्छे देश को मैंने उत्पन्न किया वह हस हिन्दु[2] था।

तब मृत्यु स्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से स्त्रियों में असाधारण प्रसव और भीषण गरमी उत्पन्न की।

२०. जिस सोलहवें अच्छे देश की मैंने सृष्टि की वह रंघ[3] के किनारे की भूमि थी, जहां लोग बिना सिर[4] के रहते हैं।

तब मृत्युस्वरूपी अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से जाड़ा उत्पन्न किया, जो देवों का काम है।

२१. और भी कई देश हैं जो सुन्दर, गम्भीर, प्रकाशमान, सम्पन्न और उपादेय हैं।

कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि इस फर्गर्द में उन देशों का उल्लेख है जिनमें ईरानी आर्य्यों ने अपने आदिम स्थान से चल कर यात्रा की। यह बात ठीक नहीं जँचती। यदि यह मान लिया जाय कि ऐर्य्यन वेइजो उनका मूलस्थान था तो रंघ (इराक़) उनका अन्तिम स्थान हुआ। पर उनका अन्तिम घर तो ईरान था, उसका ज़िक्र ही नहीं है। आदि में ऐर्य्यन वेइजो और अन्त में रंघ देने का एक कारण यह प्रतीत होता है कि उन लोगों की एक कथा है कि स्वर्ग से दो नदियाँ, वंगुही और रंघ, निकली थीं, जिन्होंने सारी पृथ्वी का वेष्टन कर लिया था। इसलिये इस सूची में वंगुही के किनारे के एक नगर से आरम्भ किया और रंघ के किनारे आकर समाप्त किया।

---

१ यदि किसी स्त्री को रजोदर्शन के समय या दूसरे समय रक्तस्राव हो तो उसके लिये १६ वें फ़र्गर्द में लंबा चौड़ा विधान दिया है।

२ हप्तहिन्दु—सप्तसिन्धव

३ रंघ के किनारे की भूमि – अरबिस्ताने रूम–इराक़

४ बिना सिर के लोग–पृथ्वी पर तो ऐसा कोई देश हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका अर्थ किया जाता है 'जो लोग अपने सर्दार को सर्दार नहीं मानते—उद्दण्ड' दूसरा अर्थ है 'जो लोग धर्म्म के प्रति विद्रोह करते हैं' अर्थात् जो लोग इस सद्धर्म्म के अनुयायी नहीं हैं।

फिर इन देशों में कोई क्रम नहीं है। यात्रा यदि इस प्रकार हुई तो इसका अर्थ यह हुआ कि आर्य्य लोग कभी पूरब से पच्छिम गये, कभी पच्छिम से पूरब गये, कभी उत्तर पहुँचे तो कभी दक्खिन लौटे। यह विचित्र ढंग से मारे मारे फिरना हुआ। इन देशों को छोड़ने के कारण भी असाधारण हैं। जहाँ अंग्रमैन्यु ने गर्मी या सर्दी या कोई दुःख दायी जीव जन्तु उत्पन्न कर दिया वहाँ से चले जाना तो समझ में आता है परन्तु अभिमान या मुर्दों का गाड़ा जाना कैसे देशत्याग का कारण हुआ यह ठीक ठीक समझ में नहीं आता। अस्तु, इस फ़र्गर्द से आर्य्यों के निवास के संबंध में विद्वानों को कुछ संकेत मिलता है।

छठवां अध्याय

देवासुर संग्राम

देव शब्द दिव् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। अतः जो चमकता है, प्रकाशमान है, वह देव है। इन्द्र, वरुण अग्नि, सूर्य्य आदि के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है। असुर वह है जो असु वाला है, जिसमें प्राण शक्ति है, जो बलवान् है। यह शब्द भी देवों के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] परन्तु पीछे से व्यवहार में अन्तर पड़ा। यों तो जैसा हम दिखला चुके हैं वृत्र को भी देव की उपाधि दी गयी परन्तु ऋग्वैदिक काल में ही धीरे धीरे देव शब्द तो इन्द्रादि के लिये और असुर शब्द उनके बलवान शत्रुओं, दैत्यों, के लिये व्यवहृत होने लगा। इसके बाद न तो कोई दैत्य देव कहलाया न कोई देव असुर कह कर पुकारा गया। साधारण हिन्दू की तो यही धारणा है कि जो सुर (देव) नहीं हैं वह असुर है।

परन्तु आर्य्यों की सभी शाखाओं में यह परिवर्तन नहीं हुआ। एक शाखा ने असुर शब्द का प्रयोग पुराने अर्थ में जारी रक्खा। उसने देवाधिदेव को उसी पुरानी उपाधि असुर महन् (अहुर मज़्द) से पुकारने की परम्परा बना रक्खी। परिणाम यह हुआ कि एक शाखा असुरोपासक, दूसरी देवोपासक हो गयी। पहिली शाखा के लिये असुर शब्द बुरा, देव शब्द अच्छा, दूसरी के लिये असुर शब्द अच्छा देव शब्द बुरा हो गया। एक ने दूसरे को असुर पूजक या देवपूजक कह कर निंद्य ठहराया। यह बात आज तक चली आती है। उनके वंशजों में इन शब्दों का इन्हीं उलटे अर्थों में चलन है। हिन्दू देवों को पूजता

---

१ जैसे, त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः। (ऋक् १-१७४,१)
इसमें इंद्र को असुर कह कर संबोधित किया है।

और असुरों को कोसता है, पारसी असुरों को पूजता और देवों को गाली देता है।

यह विचित्र बात है पर सत्य है। दोनों शब्द प्राचीन हैं, एक ही भाषा के भण्डार के हैं, किसी समय में इनके प्रयोग के विषय में कोई मतभेद नहीं था। परन्तु पीछे से इस मतभेद ने गहिरे द्वेष का रूप पकड़ा। अवश्य ही असुर और देव शब्द झगड़े के कारणों के प्रतीक बन गये होंगे। और बातों में भी दो रायें रही होंगी। वह बातें क्या थीं इसका इस समय ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ का अनुमान हो सकता है। क्रमशः एक मत के अनुयायी देवों के झंडे के नीचे आ खड़े हुए, दूसरे पक्ष के मानने वाले असुर सेना में भरती हो गये। दो दल बन जाने के बाद तो छोटी छोटी बातों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है और आपस में विरोध कराने वाली हजार बातें मिल जाती हैं। एक ही उदाहरण लीजिये। वैदिक आर्य्य और उनके वंशज आज तक मुर्दों को जलाते हैं परन्तु पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि अवेस्ता में इसको ऐसा पाप माना है जिसके लिये कोई प्रायश्चित्त का विधान ही नहीं है। पारसी लोग कहते हैं कि मुर्दा जलाना अग्नि को, जिसकी पूजा की जाती है, अपवित्र करना है। सम्भवतः ऐसे ही विचार आज से कई हजार वर्ष पहिले उनके पूर्वजों के मन में उठे होंगे और इस बात पर आपस में विवाद हुआ होगा परन्तु यह झगड़ा बढ़ते बढ़ते ऐसा हो गया कि उसका निपटारा असम्भव हो गया।

तमाशे की बात तो यह है कि यह निर्विवाद है कि दोनों सम्प्रदायों का मूल एक है। वैदिक उपासना में मित्र और वरुण का बड़ा महत्त्व है। बहुत स्थलों में तो इनका मित्रावरुण के नाम से एक साथ आह्वान होता है। मित्र सूर्य्य का नाम है। सूर्य्य प्रकाशमान दिन के स्वामी हैं। वरुण रात्रि के स्वामी हैं। चंद्र-तारादि से सुशोभित आकाश का नाम वरुण है। आकाश नीलवर्ण है, महान् विस्तार वाला है। इन गुणों के कारण उसका समुद्र से लगता है। अतः वरुण का राज्य समुद्र में पहुँचा। उनको जल के अधिपति का पद प्राप्त हुआ। आज कल मित्र

नाम से तो कोई पूजा करता नहीं, सूर्य्य के नामों का स्तवपाठ करते हुए सविता, भग, आदित्य के साथ मित्र शब्द भी आ जाता है। वरुण का भी पद गिर गया है। हिन्दू देवसूची में उनका अतिप्राचीन वैदिककाल जैसा महत्त्व नहीं है परन्तु जल के अधिष्ठाता देवता माने जाते हैं।

अवेस्ता में मित्र का अब भी वही स्थान है। उनका नाम मिथ्र है। वह ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति हैं। उनके द्वारा ही आज भी पारसी लोग भगवदुपासना करते हैं। वरुण भी वरन नाम से वर्तमान हैं।

तीसरे देव जिनका वैदिक उपासना में महत्व है अग्नि हैं। ऋग्वेद का पहिला मंत्र अग्नि की अर्चा करता है।

अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्यदेवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

अग्नि देवों के पुरोहित हैं। पुरोहित का अर्थ है आगे रक्खा हुआ। अग्नि में आहुति देकर ही देवों को तुष्ट किया जा सकता है। अतः अन्य सभी देवों की उपासना अग्नि के ही द्वारा हो सकती है। आज हिन्दुओं में वैदिक पूजा उठ गयी है। यज्ञ यागादि का चलन कम है, इसलिये अग्नि का भी वह पुराना स्थान नहीं रहा।

पारसियों में अग्नि का वही पुराना पद है। सूर्य्य सब जगह और सब समय लभ्य नहीं हो सकते अतः सूर्य्य के बाद ईश्वर की दूसरी दिव्य अभिव्यक्ति अग्नि के ही द्वारा पारसी लोग उपासना करते हैं। उनके मन्दिरों में जिस आग में नित्य अग्निहोत्र होता है वह हज़ारों वर्षों से चली आ रही है।

वैदिक आर्य्यों में सोमपान की प्रथा व्यापक थी। आज यह प्रथा ऐसी उठ गयी कि किसी को यह पता नहीं है कि सोम किस पौधे का नाम था। पारसी भी आज इस प्रथा को छोड़ चुके हैं परन्तु वेदों की भाँति अवेस्ता में भी सोम की महिमा गायी गयी है। उसका नाम हौम दिया हुआ है। [स का ह हो जाना ईरानी उच्चारण की विशेषता है, यथा सप्त का हप्त, सिन्धु का हिन्दु]। वायु तथा और भी कई वैदिक

देव और महापुरुष इसी प्रकार मिलते हैं। वेदों में विवस्वान् (सूर्य्य) के पुत्र यम का ज़िक्र है। अवेस्ता में यह विवनघत के पुत्र यिम हो जाते हैं।

परन्तु जहाँ इतनी बातें मिलती है वहाँ एक बात में आकाश पाताल का अन्तर है। वैदिक आर्य्य मित्र, वरुण, अग्नि, रुद्र, भग, पूषा, दोनों अश्विनों का नाम लेता है, उनका स्तव गान करता है, उनकी कीर्ति को इस प्रकार ख्यापित करता है कि वह इनसे बड़ा किसी को नहीं मानता। कहीं अग्नि सबसे बड़े प्रतीत होते हैं, कहीं मित्र, कहीं वरुण और कहीं कहीं यह प्रत्यक्ष प्रकट कर दिया जाता है कि इतने पृथक् ईश्वर नहीं हो सकते। ऋग्वेद स्वयं पूछता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' हम किस देव को आहुति अर्पित करें और ऋग्वेद ही स्पष्ट उत्तर देता है 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—सद्वस्तु एक है, विद्वान् लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।

पर जहाँ यह सब विचार हैं, वहाँ इन्द्र की उपासना भी है। जितनी स्तुति इन्द्र की है उतनी किसी और देव की नहीं है, सब देवों की मिलकर भी नहीं है। इन्द्र में सब देवों के गुण वर्तमान हैं, वह सब देवों से बड़े हैं, वह सबसे बलवान्, मेधावी, कीर्तिमान्, तेजस्वी देव हैं, उनके बराबर कोई उपास्य नहीं है, उनके समान मनुष्यों का कल्याण करने वाला कोई दूसरा नहीं है। इन्द्र, वृत्रघ्न, वृत्रहा, मघवा, शतक्रतु आदि अनेक नामों से ऋषिगण उन्हें पुकारते हैं। इन्द्र के लिये जैसे स्तव आये हैं उनके उदाहरण स्वरूप हम दो एक देते हैं:—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥

(ऋक् १०—८९, १०)

इन्द्र आकाश और पृथिवी में स्वामी हैं, इन्द्र जलों के ईश हैं, इन्द्र पर्वतों के ईश हैं, इन्द्र वृद्धों के (पूर्वजों के या अन्य देवों के) ईश हैं; इन्द्र प्रज्ञावानों के ईश हैं, योग और क्षेम (जो अप्राप्त है उसकी प्राप्ति और जो प्राप्त है उसकी रक्षा) के लिये इन्द्र ही हव्य (ह्वातव्य, आह्वानयोग्य, पूज्य) हैं।

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम् ।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ॥

(ऋक् १०—१२८, ७)

सृष्टि करने वालों के भी स्रष्टा, भुवनों के पति, देव, शत्रुओं के हराने वाले, इन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ। वह जिनके प्रमुख हैं ऐसे सब देव, बृहस्पति और दोनों अश्विन यजमान की इस यज्ञ में पाप से (अथवा विघ्नों से) रक्षा करें।

त्रिविष्टिधातु प्रतिमानमोजसस्तिस्रोभूमी र्नृपते त्रीणि रोचना ।
अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथाशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि ॥

(ऋक् १—१०२, ८)

जिस प्रकार त्रिविष्ट (अर्थात् तेहरा बटा हुआ) रस्सा दृढ़ होता है उसी प्रकार, हे नृपति इन्द्र, तुम सब प्राणियों के बल के प्रतिमान हो (अर्थात् सबसे बलवान् हो), तीनों लोकों और तीनों तेजों (अर्थात् आकाश में सूर्य्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथ्वी पर अग्नि) को धारण करते हो। इस विश्व को और इसके समस्त प्राणियों को वहन करते हो, तुम जन्म से ही असपत्न हो।

आठवें मण्डल के ८७ वें सूक्त में इन्द्र का बृहत्साम आरम्भ होता है। उसके दूसरे मंत्र में कहते हैं : *त्वं सूर्य्यमरोचयः* (तुमने सूर्य्य को प्रकाशित किया)। **११ वां मंत्र कहता है :** *त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो* (हे वसु इन्द्र तुम हमारे पिता हो, हे शतक्रतु इन्द्र तुम हमारी माता हो)। **ऐसी अवस्था में** ऋक् १—१०२, ९) **में इन्द्र से यों कहना :** *त्वां देवेषु प्रथमं हवामहे* (यज्ञ में मैं तुमको, जो देवों में प्रथम हो, आह्वान करता हूँ) **सर्वथा उचित है।**

परन्तु आश्चर्य्य की बात है कि जिन इन्द्र की वेदों में इतनी महिमा है, जो देवों में प्रथम हैं, जो सबसे पहिले आहुति पाने के अधिकारी हैं, जो सूर्य्य के भी प्रकाशक हैं, जो विधाताओं के भी विधाता हैं, जो मेधा देनेवाले हैं, उनका पारसियों को पता तक नहीं है, अवेस्ता में उनका नाम देवों (अर्थात् दैत्यों में) आया है। यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती। मित्र, वरुण, यम, वायु, अग्नि तो हों और भारत तथा

ईरान दोनों जगह पूजे जायं पर जिसको भारतीय आर्य्य इन सब में श्रेष्ठ मानते हों वह वहां दानवों में गिना जाय यह उपेक्षणीय बात नहीं हो सकती। इसका कोई गहिरा कारण होगा।

अब तक जो कारण दिये जाते हैं उनमें एक अधिक जँचता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र की पूजा बहुत प्राचीन होने पर भी अन्य देवों की पूजा के पीछे चली। सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, आकाश, जल, प्रत्यक्ष हैं। अनुद्बुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य इनको स्वतंत्र उपास्य मानकर पूजते हैं; जिनकी बुद्धि संस्कृत है वह इनको एक ईश्वर तत्व के प्रतीक समझते हैं और इन नामों और गुणों में एक ईश्वर की विभूतियों को पहिचानते हैं। वेद और अवेस्ता दोनों ने ही इन शब्दों का इसी प्रकार प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोगों को इन नामों के अतिरिक्त एक और नाम की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने देखा कि अन्य सब द्युतिमान वस्तुओं की अपेक्षा तेजस्वी होता हुआ भी सूर्य्य को अन्धकार दबा लेता है। ऐसा रात में ही नहीं होता, दिन में भी बादल उसे छिपा लेते हैं और कई दिनों तक छिपाये रखते हैं। साल में कई महीनों तक सूर्य्य बादलों से अभिभूत रहता है। चन्द्रतारा जटित आकाश अर्थात् वरुण की भी यही दशा होती है, उनको भी मेघों से दबना पड़ता है। जब बादल घिर आते हैं तो फिर जल में जो नावें इधर उधर टकराती फिरती हैं उनकी रक्षा जलस्थ वरुण भी नहीं कर पाते। आग भी बुझ जाती है और बिजली भी मेघ में क़ैद हो जाती है। यदि समय से वृष्टि न हो तो नदियाँ सूख जाती हैं, ऋतु-विपर्य्यय हो जाता है, मनुष्य त्राहि त्राहि पुकार उठता है। यही अवस्था उस समय भी होती है जब अनियंत्रित वृष्टि होती है। यह स्पष्ट ही है कि यदि यह अन्धेर बराबर बना रहे तो प्रलय हो जाय, कम से कम कोई जीवित प्राणी तो पृथ्वी पर न रह जाय। परन्तु ऐसा होता नहीं। जहाँ यह सब नाटक प्रकृति के रंगमंच पर होते रहते हैं वहाँ यह भी देख पड़ता है कि एक ऐसी शक्ति है जो बादलों को समय पर लाती है, यथासमय वृष्टि कराती है, नदियों को जल और मनुष्यों को अन्न देती

है, सूर्य्य चन्द्र तारादि को बन्धन से मुक्त करती है, सब विपत्तियों में मनुष्यों का त्राण करती है। यह शक्ति ईश्वर से, उस ईश्वर से जो मित्र, वरुण आदि रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, भिन्न नहीं ही सही, फिर भी इसके कामों को देखकर इसका पृथक् नामोद्देश करना उचित प्रतीत हुआ। ऋषियों ने इसे इन्द्र कहकर पुकारा। गुणानुरूप इन्द्र के और भी पर्य्याय बने परन्तु मुख्य नाम इन्द्र ही हुआ। विरोधी शक्ति का, उस शक्ति को जो जगत् को तमआच्छादित करके तथा प्राणधारक जल-धारा को रोककर सताती है वृत्र (आवरण करने वाला—ढँकनेवाला) नाम दिया गया। इन्द्र देवों के—दिव्य, पवित्र, मनुष्यों के लिये हितकर शक्तियों के—नायक हुए, वृत्र असुरों और दैत्यों का—अपवित्र, अन्ध-कारमय, मनुष्यों के लिये हानिकर शक्तियों का—नेता हुआ। इन्द्र के पीछे धर्म्मसमर्थक, वेद पर श्रद्धा रखने वाले थे: वृत्र के साथ धर्म्म-विरोधी, वेदनिन्दक थे। एक बात और ध्यान देने की है। अवेस्ता इन्द्र की पूज्य सत्ता को नहीं मानता परन्तु अहुरमज़्द को वेरेथ्रघ्न (वृत्रघ्न) अर्थात् दानव को मारने वाला कहकर पुकारता है। इससे यह तो प्रमा-णित होता है कि वृत्र—वेरेथ्र—के मारे जाने की कथा किसी न किसी रूप से आर्य्यों में बहुत दिनों से चली आती है। यह विकास स्वाभाविक है पर एक दिन में न हुआ होगा। सैकड़ों बरस लग गये होंगे। वेदों में तो इन्द्रपूजा पूर्णतया प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के इन्द्र न केवल मेघों के स्वामी हैं, न केवल देवराज हैं, न केवल वज्रधर वृत्रघ्न हैं परन्तु वह प्रज्ञा के देने वाले हैं, स्रष्टाओं के भी स्रष्टा हैं, उनकी विभूति अवर्ण-नीय है, यह जगत उनकी अभिव्यक्ति मात्र है—*पादोऽस्यविश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतन्दिवि,*—वह परम ज्योतिर्मय तत्व—*आदित्यवर्ण, तमसः परस्तात्*—हैं।

परन्तु जहाँ तक प्रतीत होता है सभी आर्य्यों को यह विकास अभि-मत न था। उनको ऐसा समझ पड़ा होगा कि पुराने देव और पुराने नाम पर्य्याप्त हैं। देवों की अधिष्ठातृ शक्ति को पृथक् से पुकारने की आवश्यकता नहीं है। ज्यों ज्यों इन्द्र की उपासना बढ़ी, त्यों त्यों आपस

का विरोध बढ़ा। एक ओर इन्द्र को मानने वाले, दूसरी ओर उनको न मानने वाले और बुरा भला कहने वाले। एक पक्ष ने देव शब्द को अपनाया, दूसरे ने असुर को। दोनों पक्षों को यह मान्य था कि इस विश्व में प्रकाश और तम, धर्म्म और अधर्म्म, में निरन्तर युद्ध होता रहता है। जिन पुरानी कथाओं को दोनों मानते थे उनमें इस बात का ज़िक्र था पर बैर विरोध बढ़ते बढ़ते एक ने यह कहना आरम्भ किया कि धर्म्म और प्रकाश पक्ष का नाम देवपक्ष है, अन्धकार और अधर्म्म पक्ष का नाम असुर पक्ष है; दूसरी ओर से यह कहा गया कि देव अन्धकार और पाप के समर्थक हैं और असुर सैन्य इनको हराकर धर्म्म और प्रकाश को फैलाती है।

हमारी पुस्तकों में जिस देवासुर संग्राम का इतना रोचक वर्णन है, जिससे पुराणों के अध्याय के अध्याय भरे पड़े हैं, उसका यही बीज है।

लड़ाई घर वालों की थी, यह भी साफ़ साफ़ कहा गया है। प्रजापति की अदिति नामक पत्नी से आदित्यों अर्थात् देवों की और दिति से दैत्यों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इससे यह तात्पर्य्य निकला कि देव और दैत्य, सुर और असुर, सौतेले भाई थे। उनकी आपस की लड़ाई थी परन्तु मनुष्य लोग यज्ञहोमादि द्वारा देवों की उपासना करते थे, इसलिये असुर लोग मनुष्यों को तंग करते थे। यह कथाएं भी इस बात की पुष्टि करती हैं कि देवासुर संग्राम जहाँ प्रकृति के मंच पर हुआ और नित्य होता रहता है वहाँ उसकी आवृत्ति पृथ्वी पर आर्य्यों की दो शाखाओं में, प्रजापति की ही दो सन्ततियों में, हुई, जिनमें से एक तो यज्ञों में देवों को तुष्ट करना चाहती थी और दूसरा इसका विरोध करती थी। देवासुर संग्राम आर्य्यों का यादवीय युद्ध था।

वेदों में ऐसे लोगों का बराबर ज़िक्र आता है जो वैदिक देवों को, विशेषकर इन्द्र को, नहीं मानते थे। उनके साथ घोर संग्राम का भी वर्णन आदि से अन्त तक भरा पड़ा है। उदाहरण के लिये दो तीन अवतरण पर्य्याप्त होंगे :—

प्र येमित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः प्रसङ्गिरः प्रवरुणं गिनन्ति ।
न्य मित्रेषु वधमिन्द्रतुम्रं वृषन्वृषाणामरुषं शिशीहि ॥

(ऋक् १०—८९, ९)

जो दुष्ट लोग मित्र, अर्यमा, मरुत, वरुण देवों को अवमानित करते हैं उनको हे इन्द्र तुम तीखे वज्र से मारो ।

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि संमहीरनिन्द्राः ।
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परितृह्ला अशेरन् ॥

(ऋक् १—१३३,१)

मैं यज्ञद्वारा पृथ्वी और आकाश को पवित्र करता हूँ । उन विस्तृत भूभागों को जला देता हूँ जो अनिन्द्र (इन्द्ररहित—जहाँ इन्द्र नहीं माने जाते) हैं । जहाँ जहाँ शत्रु एकत्र हुए वहाँ वह हत हुए । यह नष्ट होकर श्मशान में पड़े हैं ।

कई ऐसे नरेशों के नाम आये हैं जिन्होंने इन्द्र की विशेष कृपा प्राप्त की थी । दिवोदास, त्रसदस्यु, श्रुतर्वा, कुत्स आदि ने इन्द्र के प्रसाद से ही अपने शत्रुओं को परास्त किया और पराक्रमी होते हुए भी तुम्र, वृहद्रथ, शम्बर और कृष्ण इसलिये पराजित हुए कि वह इन्द्र से विमुख थे ।

ऋग्वेद के भीतर ऐसी पर्याप्त सामग्री है जिससे यह विदित होता है कि किसी समय, या यों कहिये कि दीर्घ काल तक, आर्य्यों में आपस में घोर युद्ध हुआ है । यह युद्ध किन कारणों से हुआ यह ठीक ठीक

वेदों में त्वष्टा का नाम बहुत जगह आया है । ऋक् के १० वें मंडल के ११० वें सूक्त के ९ वें मंत्र में कहा है 'य इमे द्यावा पृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा', त्वष्टा वह हैं जिन्होंने पृथ्वी और आकाश तथा सब प्राणियों को उत्पन्न किया है । अतः त्वष्टा ईश्वर का ही एक नाम हुआ । ऐतरेय ब्राह्मण में यह कथा आयी है कि इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मारा, वृत्र को मारा और असुरमघों को मारा । इस पर ए० सी० दास की यह कल्पना है कि अहुरमज्द के उपासकों के लिये ही असुरमघ कहा गया है और ज़रथुस्त्र शब्द जरत् त्वष्ट (जरत् त्वष्टा—वृद्ध त्वष्टा) का अपभ्रंशमात्र है । अतः इन नामों से और इनके साथ की कथाओं से भी देवासुर संग्राम के वास्तविक रूप पर प्रकाश पड़ता है ।

नहीं कहा जा सकता परन्तु उन कारणों में उपासना विधि को प्रधान स्थान मिल गया यह निर्विवाद है। और कारण दब गये पर यह बात न दब सकी। इसमें कोई समझौता सम्भव न था। एक को अपने असुरोपासक होने पर गर्व था, दूसरे को देवपूजक होने का अभिमान था। एक इन्द्र को देवराज मानता था और उनके नाम पर लड़ता था, दूसरा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम के साथ किसी दूसरे का नाम लेना नहीं चाहता था। एक पुरानी पद्धति से टलना नहीं चाहता था, दूसरा इस धार्म्मिक विकास का समर्थक था। दोनों पक्षों में खूब युद्ध हुआ। आपस की लड़ाई सदैव भयावह होती है। कभी असुरपक्ष जीता, कभी देवपक्ष, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त में देवयाजकों की जीत हुई। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि भारत में असुरयाजक नहीं रह गये। ऐसी दशा में ऋषि का यह कहना अनुचित नहीं है।

एकं त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु।

(ऋक् ५—३२, ११)

हे इन्द्र, मैं सब मनुष्यों में एक तुम्हारा ही यश सुनता हूँ। लोगों के पति (स्वामी-रक्षक) तुम्हीं सुने जाते हो।

देव शत्रुओं के लिये कई जगह 'मृध्रवाचः' ऐसा विशेषण आया है। इसका कई प्रकार से अर्थ किया जाता है पर सब अर्थों का भाव यही है कि वह लोग किसी कारण से ठीक ठीक नहीं बोल सकते थे। उनके बोलने में क्या दोष था इसका कहीं पता नहीं चलता परन्तु शतपथ ब्राह्मण में एक जगह कहा है :

ते असुरा आत्तवचसो हे अलवो हे अलव इति वदन्तः पराबभूवुः।
तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्। असुर्या हि एषा वाक्।

वह असुर लोग 'हे अलवः, हे अलवः' ऐसा कहते हुए हार गये। इसलिये ब्राह्मण म्लेच्छता न करे (शब्दों को ग़लत तरह से न उच्चारित करे) ऐसी वाणी आसुरी (अतः शक्तिहीन) होती है।

असुरों को कहना चाहिये था 'हे अरयः' (हे शत्रुओ)। उनके मुंह से निकला हे अलवः। यह मृध्रवाक् का एक उदाहरण है। इस उदाहरण में एक वात ध्यान देने की है। अरयः और अलवः में य, व का भेद तो है ही। एक बड़ा अन्तर यह है कि र का ल होगया है। संस्कृत मूर्द्धन्य अक्षरों की जगह ईरानी में वहुधा दन्त्य अक्षरों का प्रयोग होता है। वहुत सम्भव है कि इस उदाहरण में इसी वात की ओर संकेत हो। यदि ऐसा है तो यह और भी स्पष्ट कर देता है कि असुर आर्य्यों के निकट संवंधी थे जिनकी और वातों के साथ साथ वोलचाल में भी अन्तर पड़ चला था।

सातवां अध्याय

संग्राम के बाद

युद्ध का जो वृत्तान्त पिछले अध्याय में दिया गया है उसको पढ़ने के बाद यह जानने की इच्छा होती है कि उसका परिणाम क्या हुआ। वेदों से यह तो पता चलता है कि अनिन्द्र देश (वह देश जहां इन्द्र नहीं माने जाते थे) जलाये गये, नष्ट किये गये, आर्य्यों (अर्थात् वैदिक आर्य्यों) के शत्रु मारे गये, देवों और उनके उपासकों की जीत हुई। लड़ाई बराबर वालों की थी, एक सा बल, एक से शस्त्र। जल्दी निर्णय नहीं हो सकता था। बहुत दिन लगे होंगे। अन्त में देवसेना की विजय हुई।

पराजित असुर सेना अर्थात् असुरोपासक आर्य्यों ने सप्तसिन्धव का परित्याग कर दिया। वह अन्यत्र चले गये। और तो किसी ओर जाने का मार्ग था ही नहीं। वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम) की ओर ही जा सकते थे। कई जगहों में भटकते भटकते, १०००-१२०० बरस की या और लंबी यात्रा समाप्त करके, धीरे धीरे उस देश में बस गये जो आज भी ईरान (आर्य्यों का देश) कहलाता है।

ज़रथुश्त्र जो पारसी धर्म्म के प्रवर्तक माने जाते हैं वस्तुतः मनुष्य थे या अहुरमज़्द के ज्योतिर्मय पार्षदों में से एक के काल्पनिक अवतार थे यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। यदि वह ऐतिहासिक मनुष्य थे तो कब और कहाँ पैदा हुए यह भी ठीक ठीक विदित नहीं है। जो कथाएं हैं उनमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है इसका निश्चय करना कठिन है। जो वाक्य उनके कहे हुए बतलाये जाते हैं वह सचमुच उन्हीं के कहे हुए हैं यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु अवेस्ता से पारसियों के इतिहास पर उसी प्रकार प्रकाश पड़ता है जिस

प्रकार कि वेद भारतीय आर्य्यों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस्तन्वैति गाथा[1] में जरथुश्त्र का यह विलाप है :

में किस देश को जाऊँ ? कहाँ शरण लूं ? कौन सा देश मुझको और मेरे साथियों को शरण दे रहा है ? न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है न देश के दुष्ट शासक।

मैं जानता हूँ कि मैं निःसहाय हूँ। मेरी ओर देख, मेरे साथ बहुत थोड़े मनुष्य हैं। हे अहुरमज़्द, मैं तुझसे विनीत प्रार्थना करता हूँ, हे जीवित ईश्वर।

यह शब्द जरथुश्त्र के मुँह से निकले हों या न निकले हों पर इनमें उस काल की स्मृति है जब जरथुश्त्र के मत के अनुयायी संख्या में थोड़े थे, उत्पीड़ित थे और आश्रय ढूंढ़ रहे थे। वह अपने देश में सुखी नहीं थे, कहीं अन्यत्र जाना चाहते थे।

पाँचवें अध्याय में हमने वेन्दिदाद के पहिले फ़र्गर्द का अनुवाद दिया है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वह इन लोगों की यात्रा का वर्णन है। किसी के मत में ऐर्य्यन वेइजो ईरान के पूर्व में था, किसी के मत में पश्चिम में। परन्तु चाहे जिधर भी हो, उस देश सूची में कोई क्रम नहीं देख पड़ता। इसीलिये कुछ लोगों की यह भी राय है कि उस जगह केवल उन देशों या जगहों के नाम गिनाये गये हैं जिनसे वह लोग उस समय परिचित थे। सम्भव है इनमें से कुछ में उन्होंने ईरान में बसने के पहिले यात्रा भी की हो परन्तु जिस समय का यह फ़र्गर्द है उस समय यात्रा क्रम की ठीक ठीक स्मृति नहीं रह गयी थी, अतः नाम यों ही गिना दिये गये हैं।

इस गणना में सब से पहिले ऐर्य्यन वेइजो (आर्य्यों का बीज) का नाम आया है। अहुरमज़्द कहते हैं कि उन्होंने इसकी सृष्टि सब से पहिले की। इतना तो स्पष्ट है कि आर्य्यों की यह शाखा इस स्थान को अपना बीज—आदि स्थान—समझती थी, इसका यही अर्थ हो सकता है कि यद्यपि उनको सप्तसिन्धव की याद भूली न थी पर वह उस देश को जहाँ पीछे से उन्हें इतना कष्ट सहना पड़ा और जो अब उनके शत्रु देव-

---

[1] गाथाओं की भाषा अवेस्ता के अन्य भागों की भाषा की अपेक्षा पुरानी है और वेदों की भाषा से बहुत मिलती है।

पूजकों के हाथ में था अब अपना घर नहीं मान सकते थे। अतः जिस जगह उन लोगों ने अपनी वस्ती बसायी, अपनी उजड़ी शक्ति सँभाली और अपने धर्म्म का संस्कार करके उसमें से यथाशम्य वैदिक बातें दूर कीं वही उनका बीजस्थान हुआ। पुराना घर छोड़ने पर भी धर्म्म को शुद्ध करने में काफ़ी परिश्रम पड़ा होगा। उदाहरण के लिये सोमपान की बात ले लीजिये। यों तो मित्र, वरुण, अग्नि सभी सोमपान करते थे परन्तु वैदिक आर्य्यों ने सोम का सम्बन्ध इन्द्र के साथ विशेष रूप से जोड़ा। सैकड़ों मंत्रों में इन्द्र के सोमपान करने का ज़िक्र है। ऐसा कहा गया है कि इन्द्र जन्म से ही सोम पीते थे। यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों ने सोम को अपना राजा बना कर असुरों पर विजय पायी। इन सब कारणों से सोम का विशेष संबंध देव पूजा के साथ हो गया। उधर असुर पक्ष ने सोम को छोड़ दिया। उन्होंने इस मादक वस्तु की जगह दूसरी ओषधियों से एक पेय पदार्थ निकाला। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों में भी सोम के काफी समर्थक थे। यह सुधार चला नहीं और सोम (जेन्द में हौम) का फिर प्रचार हुआ। यह बात इस कथा से निकलती है। एक बार सोम अपने दिव्य शरीर में ज़रथुश्त्र के पास आया। उन्होंने पूछा तुम कौन हो। उसने उत्तर दिया 'मैं होम हूँ। तुम मेरी पूजा उसी प्रकार करो जैसे कि प्राचीन काल में सत्य पुरुष करते थे।' ज़रथुश्त्र ने यह सुनकर सिर झुकाया और सोम की स्तुति की। अस्तु इन सब तथा और बातों में क्रमशः नये धर्म्म का रूप स्थिर हुआ। जहाँ यह सब हुआ वह स्थान इन लोगों के लिये स्वभावतः अपना आदिस्थान, बीज, हुआ।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोग वहाँ भी बहुत दिनों तक न रह सके। हम देख चुके हैं कि अवेस्ता के अनुसार अंग्रमैन्यु ने इस देश को बिगाड़ दिया। पहिले यहाँ सात महीने गर्मी और पाँच महीने सर्दी पड़ती थी। प्राचीन टीकाकारों ने परम्परागत जनश्रुति के आधार पर ऐसा ही लिखा है पर अंग्रमैन्यु ने वहाँ दस महीने का जाड़ा और दो महीने का ग्रीष्मऋतु कर दिया। उस गर्मी में भी ठण्डक थी।

प्रथम फर्गर्द में तो इतना ही लिखा है पर दूसरे फर्गर्द में इस संबंध की एक कथा विस्तार से दी है। उस कथा का सारांश यह है।

जरथुश्त्र ने अहुरमज्द से पूछा 'मेरे पहिले आप ने किस को धर्म्म का उपदेश दिया था ?' अहुरमज्द ने उत्तर दिया 'मैंने विवनघत के लड़के यिम[1] को धर्म्मोपदेश किया। मैंने उससे कहा कि तुम लोगों में धर्म्म का प्रचार करो पर उसने यह बात स्वीकार न की, उसको अपने में ऐसी योग्यता न देख पड़ी। तब मैंने उसको पृथ्वी में राजा बनाया और एक सोने की अंगूठी और एक स्वर्ण जटित खड्ग राजचिन्ह के रूप में दिये। उसने यह वचन दिया कि "मैं तुम्हारी पृथ्वी पर राज करूंगा। उसकी रक्षा करूँगा, उसको सम्पन्न बनाऊँगा। जब तक मैं राजा रहूँगा तब तक न गर्म हवा बहेगी, न ठण्डी, न रोग होगा न मृत्यु।' इस प्रकार यिम को राज करते ३०० वर्ष बीत गये। इतने दिनों में मनुष्यों और पशुओं की संख्या इतनी बढ़ गयी कि वहाँ जगह की कमी पड़ी। तब यिम ने पृथ्वी का आकार पहिले से एक तिहाई बढ़ा दिया। इसी प्रकार ३००-३०० वर्ष पर उन्होंने चार बार किया। इस बारह सौ वर्ष में पृथ्वी का आकार तो पहिले से दूना हो ही गया, वह जन-पशु संकुल हो गयी। उसमें सर्वत्र सुख ही सुख था।'

पर यह सुख चिरस्थायी न रहा। अहुरमज्द ने एक सभा बुलायी। उसमें एक ओर से तो सब असुर गण आये, दूसरी ओर से मनुष्यों के साथ यिम आये। तब अहुरमज्द ने कहा 'हे विवनघत के पुत्र यिम, भौतिक जगत् में अब भयावह जाड़ा पड़ने वाला है, दुःखद पाला पड़ेगा, खूब बरफ़ गिरेगी। जंगल में, पहाड़ों पर और नीचे स्थानों में

---

१ विवनघत के लड़के यिम—(वैदिक) विवस्वान् के लड़के यम। वैदिक कथा के अनुसार यम प्रथम मनुष्य थे, अतः वह सबसे पहिले मरे और जाकर यमसदन के राजा हुए। अवेस्ता की कथा में वह प्रथम मनुष्य नहीं थे परन्तु ईश्वर के प्रथम कृपापात्र थे और पृथ्वी के प्रथम राजा हुए।

रहने वाले सब पशु नष्ट हो जायँगे[१]। इसलिये तुम जाकर एक वर[२] वनाओ। उसमें मनुष्य, पत्ती सब के वीज लाकर रक्खो (अर्थात् सब जाति के थोड़े थोड़े प्राणी रक्खो) सभी प्रकार के वृत्तों के वीज लाकर रक्खो। सबका एक एक जोड़ा लाओ। न वहाँ कोई कुबड़ा रहे, न आगे झुका, न नपुंसक, न पागल, न दारिद्र्य, न झूठ, न ईर्ष्या, न नीचता; न खराब दांत, न कुष्ट।' यिम ने अहुरमज़्द के कहने के अनुसार वर वनाया और वसाया। इस आख्यान को सुनकर ज़रथुश्त्र ने अहुरमज़्द से पूछा 'हे भौतिक जगत् के स्रष्टा, हे पूतात्मन्, यिमने जो वर बनाया उसमें प्रकाश कैसे होता है? अहुरमज़्द ने उत्तर दिया 'सृजन किये हुए प्रकाश होते हैं और बिना सृजन[३] किये हुए। वहाँ चन्द्रमा, सूर्य्य और तारे साल में एक ही बार उदय और अस्त होते देखे जाते हैं और एक वर्ष एक दिन के समान प्रतीत होता है। हर चालीसवें साल मनुष्यों और पशुओं के हर जोड़े को दो वच्चे होते हैं, एक नर और एक मादा। यिम के वनाये उस वर में लोग वड़े सुख से जीवन बिताते हैं।' ज़रथुश्त्र ने पूछा 'उस वर में मज़्द धर्म्म का उपदेश किसने किया?' अहुरमज़्द ने उत्तर दिया 'करशिप्त[३] नामक चिड़िया ने।'

साधारण रूप से यह कथा कई कथाओं का मिला जुला रूप प्रतीत होती है। वैदिक यम प्रथम मनुष्य थे और मरने पर परलोक के राजा हुए। यमसदन में वह धर्म्मराज रूप से राज्य करते हैं। उनकी नगरी

---

१ प्राचीन टीकाकारों का कहना है कि वरफ़ की गहिराई कहीं भी एक वितस्ति और दो अंगुल से कम न थी। वितस्ति=वित्ता=१२ अंगुल।

२ वर=वाड़ा।

३ सृजन किये हुए और विना सृजन किये हुए प्रकाश—भौतिक और स्वर्गीय प्रकाश। टीकाकार का कहना है: विना सृजन किया हुआ प्रकाश ऊपर से चमकता है, सृजन किया हुआ प्रकाश नीचे से चमकता है। इसके अनुसार, चन्द्र, सूर्य्य, तारा, विद्युत् का प्रकाश असृष्ट और आग, वत्ती आदि का प्रकाश सृष्ट है।

४ करशिप्त चिड़िया स्वर्लोक में रहती है। वह चिड़ियों की वोली में अवेस्ता का पाठ किया करती है।

वड़ी रम्य है और उसमें पुण्यकर्म्मा मनुष्यों की वस्ती है। इसी प्रकार यिम भी राजा हैं परन्तु यमसदन के नहीं, यहीं पृथिवी के। उनका भी सुन्दर सुखमय राज्य है। सर्दी के प्रकोप वढ़ने के पहिले वह वाड़े में चले गये। मूल में ऐसा कहा गया है कि भौतिक जगत् पर सर्दी का प्रकोप होगा, वरफ़ पड़ेगी, पाला पड़ेगा। इससे प्रतीत होता है कि यह वाड़ा भौतिक जगत् के कहीं वाहर था। वह वैदिक यमसदन से मिलता जुलता कोई स्थान था। पुराणों में उत्तर कुरु जैसे प्रदेशों का जो वर्णन है वह भी इसी प्रकार का है। वह जगहें इस दृश्य पार्थिव लोक में नहीं हैं। वाड़ा पृथिवी से वाहर न होता तो वहाँ चालीस चालीस वर्ष पर सन्तान न होती। एक पुरानी कथा थी कि प्रलय के वाद स्वर्लोक से मनुष्यादि आकर पृथिवी को फिर से वसायेंगे। यह वाड़ा स्वर्लोक का वह भाग प्रतीत होता है जहाँ प्रलयान्त में पृथिवी को वसाने वाले प्रलय के पहिले रहते हैं।

परन्तु इस आख्यान का इतना अधिदैविक अर्थ करने से ही काम नहीं चलता। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें ईरानी आर्य्यों के किसी भौतिक अनुभव का भी ज़िक्र है। सामान्य अर्थ तो यह है कि यह लोग ऐर्य्यन वेइजो में रहते थे। वहाँ सात महीने गर्मी और पाँच महीने सर्दी पड़ती थी। जलवायु अच्छा था। जनता सुखी थी। कुछ काल वहाँ रहने के वाद (यिम ने वारह सौ वर्ष सुख से राज्य किया) सर्दी वढ़ी। अंग्रि मैन्यु ने वहाँ दस महीने की सर्दी और दो महीने की गर्मी उत्पन्न की। इसपर यह लोग कहीं अन्यत्र चले गये। जहाँ गये उस स्थान को वाड़े के नाम से निर्देश किया है। वह कहाँ था, यह तो नहीं वतलाया गया है पर उसमें एक वर्ष का दिन होना और सूर्य्य चन्द्र का एक ही वार उदय और अस्त होना जो वतलाया गया है यह तो उत्तरीय ध्रुवप्रदेश में होता है। सम्भवतः यह लोग वहाँ जाकर वसे नहीं थे परन्तु वहाँ की प्राकृतिक दशा का ज्ञान था। कुछ लोग कभी उधर गये होंगे। वह स्मृति वाड़े के साथ जुड़ गयी। ध्रुवप्रदेश में सामान्य मनुष्य न रह सकते हों पर वाड़े के असाधारण मनुष्य तो रह सकते ही थे।

लोगों के असाधारण होने का एक बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने करशिप्त चिड़िया से धम्र्मोपदेश ग्रहण किया।

लोकमान्य तिलक इसकी दूसरी ही व्याख्या करते हैं। वह कहते हैं कि यद्यपि वेदों में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता पर यह कथा बतलाती है कि आर्य्यों का आदिस्थान,—केवल ईरानी आर्य्यों का नहीं, वरन् सब आर्य्यों का बीज—कहीं उत्तरीय ध्रुवप्रदेश में था। जैसा कि हम आगे चलकर नवें अध्याय में दिखलायेंगे, ऐसा माना जाता है कि आज से कई हजार वर्ष पहिले यह प्रदेश बर्फ़ से ढँका था। फिर बर्फ़ हट गयी और यहाँ एक प्रकार का चिरवसन्त जैसा ऋतु हो गया। कई हज़ार वर्षों के बाद फिर हिमाच्छादन हुआ और यह प्रदेश फिर रहने के अयोग्य हो गया। यह पिछली घटना आज से लगभग १०,००० वर्ष पहिले की है। तिलक का कहना है कि दोनों हिमाच्छादनों के बीच के काल में आर्य्य लोग इस बीज में रहते थे। उस समय इस प्रदेश के दक्षिणी भाग में सात महीने की गर्मी और पाँच की सर्दी रही होगी पर उत्तरी भाग में दस महीने की गर्मी और दो महीने का जाड़ा था। सूर्य्य चन्द्रादि एक ही बार उदय और अस्त होते थे और एक वर्ष एक दिन जैसा प्रतीत होता था। पीछे से, अर्थात् आज से लगभग १०,००० वर्ष पहिले दूसरा हिमाच्छादन आरम्भ हुआ। यही अंग्रिमैन्यु का किया उत्पात था। इससे ऋतु उलट गया। अब दस महीने का जाड़ा और दो महीने की गर्मी हो गयी पर वह गर्मी भी बहुत ठण्डी थी। अतः इन लोगों को वह देश छोड़ना पड़ा और इन्होंने वाड़े में शरण ली। वाड़ा कहाँ था यह मूल में लिखा नहीं है पर यह तो पता चलता ही है कि वह लोग ठण्ड के आने पर उस देश को छोड़कर कहीं जाने पर बाध्य हुए।

विचार करने से इस तर्क में कई त्रुटियाँ देख पड़ती हैं। यह मान लिया जाय कि ऐर्य्यन वेइजो सभी आर्य्यों का मूलस्थान था परन्तु इस आख्यान से उसका ध्रुवप्रदेश में होना सिद्ध नहीं होता। इतना ही प्रमाणित होता है कि पहिले वहाँ ऋतु अच्छा था, सात महीने गर्मी पड़ती

थी, पाँच महीने का जाड़ा था। लोग सुखी और सम्पन्न थे। उनकी संख्या ज्यों ज्यों बढ़ती गयी त्यों त्यों उनके उपनिवेश बढ़ते गये अर्थात् बस्ती का विस्तार बढ़ता गया। यिम के पृथिवी को तीन-तीन सौ वर्ष पर बढ़ाने का यही अर्थ होता है। पीछे से यहाँ ठण्ड का आक्रमण हुआ। पहिले दस महीने गर्मी और दो महीने सर्दी होती थी यह नहीं लिखा है परन्तु ठण्ड के बढ़ने पर दस महीने की सर्दी और दो महीने की गर्मी, वह भी ठण्डी गर्मी, हो गयी। तब इन लोगों ने बाड़े में शरण लिया।

बाड़े का जो वर्णन है वह ध्रुवप्रदेश जैसा है। सूर्य्यचन्द्रादि का साल में एक बार उदय और अस्त होना तथा एक वर्ष का एक दिन जैसा लगना वहीं सम्भव है। पर यह बाड़ा बीज से कहीं भिन्न जगह रहा होगा। बीज में तो सर्दी बढ़ने वाली थी, बरफ़ पड़ने वाली थी, पाला गिरने वाला था। यह सब बातें एक बाड़ा घेर देने से नहीं दूर हो सकती थीं। यदि अहुरमज्द ने अपनी दैवी शक्ति से बाड़े की रक्षा कर दी तो फिर उसको बनवाने की आवश्यकता ही क्या थी, वह उस देश की ही इसी प्रकार रक्षा कर सकते थे। अतः बाड़ा कहीं दूर देश में रहा होगा। उसका जो वर्णन दिया गया है उसको बीज का वर्णन नहीं मान सकते। एक और बात है। जरथुश्त्र ने अहुरमज्द से पूछा था कि बाड़े में प्रकाश का क्या प्रबन्ध था। बीज से तो वह स्वयं परिचित थे, ऐसा कई स्थलों पर अवेस्ता में आया है। इससे प्रतीत होता है कि बाड़ा बीज से कहीं दूर था, जहाँ की दशा बीज से सम्भवतः भिन्न होगी। तभी जरथुश्त्र को यह प्रश्न पूछना पड़ा।

यदि यह आलोचना ठीक है तब तो यह तात्पर्य निकलता है कि सप्त सिन्धव से अलग होने के बाद यह असुरोपासक आर्य्य ऐर्य्यन वेइजो में बसे और वहाँ कुछ काल तक सुख से बसे। इसके बाद वहाँ सर्दी के प्रकोप से ऋतुविपर्य्यय हुआ। ऐर्य्यन बीज ईरान के पास ही, सम्भवतः उसके पश्चिमी छोर पर था। सर्दी बढ़ने पर सब नहीं तो कुछ लोग बीज को छोड़कर उत्तर की ओर किसी स्थान में, जो उत्तरीय ध्रुवप्रदेश में था, जा बसे। उन दिनों वहाँ रहने की सुविधा थी। इस

स्थान को ही वर-वाड़ा—कहा गया है। पीछे से जब हिमाच्छादन हुआ होगा तब इसे भी छोड़ना पड़ा होगा। फिर नीचे उतरकर यह लोग धीरे धीरे ईरान के आस पास आये होंगे। बहुत सम्भव है कि ईरान में इनकी और शाखाएं पहिले से बसी भी हों। पुनः सम्मिलन के बाद सब शाखाओं के अनुभवों और स्मृतियों को मिलाकर ही मज़्द धर्म्म ने अपना अन्तिम स्वरूप पाया होगा।

यह कोई बहुत दूर की कल्पना नहीं है। जिस भाषा में अवेस्ता की पोथी लिखी है वह ईरान की पहलवी भाषा नहीं है। ज़ेन्द पहलवी से मिलती जुलती है परन्तु उससे भिन्न है। ऐसी परम्परागत कथा है कि मज़्द धर्म्म के संस्कृत अर्थात् शुद्धरूप को ईरान में मग लोगों ने फैलाया। यह लोग मीडिया प्रदेश में रहते थे जो ईरान के उत्तर-पश्चिम में है। मग लोग ही उपासना के समय आथ्रवन* हो सकते थे। अवेस्ता की प्रतियाँ इस्कन्दर रूमी (सिकन्दर) के आक्रमण के समय जल गयीं। फिर जिसको जो कुछ याद था या जो कुछ इधर उधर लिखा पड़ा था वह सब जोड़ जाड़कर संग्रह किया गया। इस वृत्तान्त से यह तो निकलता है कि प्राचीन अवेस्ता का बहुत-सा अंश खो गया है। यदि वह सब होता तो सम्भव है कि वाड़े के सम्बन्ध में और प्रकाश पड़ता और यह बात निश्चित रूप से जानी जा सकती कि वाड़े से चलकर लोग कहाँ और किधर गये। वाड़ा यदि उत्तर ध्रुवप्रदेश में था तो हिमाच्छादन के बाद वह भी बसने योग्य न रह गया होगा। अतः जो लोग वहाँ रहते थे उन्हें उसे भी छोड़ना पड़ा होगा। सम्भव है कि उन्हीं के वंशज मग हुए हों।

परन्तु यदि यह बात ठीक है कि आज से लगभग दस हज़ार वर्ष पहिले जब उत्तरीय ध्रुवप्रदेश का जलवायु मधुर था, कुछ लोग ऐर्य्यन वेइजो छोड़कर वहाँ जा बसे तो फिर हमको यह भी देखना पड़ेगा कि बीच में इतना गहिरा ऋतुविपर्यय कैसे हो गया। यह स्मरण रखना

---

* आथ्रवन=वैदिक अथर्वन्—यज्ञ कराने वाला पुरोहित।

होगा कि तिलक की यह कल्पना निराधार है कि वीज में चन्द्रसूर्य्य साल में एक वार उदय और अस्त होते थे और एक वर्ष एक दिन जैसा होता था। यह वातें तो वाड़े की हैं जहाँ वह लोग वीज छोड़कर आये। हमको इतना ही देखना है कि वीज में दस महीने का जाड़ा और दो महीने की गर्मी कैसे हो गयी।

एक वात और ध्यान में रखने की है। ऐर्य्यन वेइजो पर जो विपत्ति आयी वह स्थायी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दिनों के पीछे वह दूर हो गयी क्योंकि ऐसी कथा है कि ज़रथुश्त्र स्वयं वहाँ गये थे। वह यिम के वहुत पीछे हुए थे, तभी तो अहुरमज़्द ने उनको यिम की कथा सुनायी। जिस समय ज़रथुश्त्र वीज में गये उस समय दस महीने की रात और दो महीने की ठण्डी गर्मी वाला ऋतु वहाँ नहीं था। कम से कम ज़रथुश्त्र ने कहीं ऐसा नहीं कहा है। उनको वीज में कठोर ऋतु होने का उतना ही वृत्त ज्ञात था जितना उनको अहुरमज़्द ने वताया था।

तिलक का यह तर्क है कि पहिले सभी आर्य्य ऐर्य्यन वेइजो में रहते थे। फिर उसके नष्ट होने पर उसी क्रम से नीचे उतरे जो वेन्दिदाद के प्रथम फ़र्गर्द में दिया है। उनका १५ वां निवासस्थान सप्त सिन्धव था। उसके वाद १६ वां स्थान-रंघ-अरविस्ताने रूम नहीं वरन् रसा (कावुल के पास की एक नदी) के किनारे का प्रदेश था। फिर यहां से वह लोग धीरे धीरे और पश्चिम अर्थात् ईरान की ओर गये होंगे। हम इन प्रदेशों के विषय में पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं।

आठवां अध्याय

खण्ड प्रलय

यद्यपि मत्स्यावतार की कथा भिन्न-भिन्न पुराणों में किञ्चिद्भिन्न प्रकारों से दी गयी है परन्तु उसका आरम्भ इसी बात से होता है कि एक समय खण्ड प्रलय हुआ और सारी पृथ्वी जल से भर गयी। सभी प्राणी नष्ट हो गये। केवल एक भाग्यशाली मनुष्य को विष्णु भगवान् ने मत्स्य का रूप धारण करके बचा लिया। इस प्रकार के खण्ड प्रलय का वर्णन दूसरे देशों में भी मिलता है। मिश्र, यूनान, बैबिलन, यहाँ तक कि उत्तर अमेरिका में भी कुछ ऐसी कथाएँ हैं। यह सम्भव है कि कुछ देशों में यह अन्यत्र से पहुँची हों परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ हद तक इनमें उन लोगों के अपने अनुभवों का वृत्तान्त है जिनमें यह प्रचलित हैं। कभी—कई हज़ारों वर्ष पहिले—उनके पूर्वजों पर जो विपत्ति वह-रायी थी उसी की क्षीण स्मृति कथा के भीतर ग्रथित है।

सब कथाएं एक ही प्रकार की नहीं हैं। इनमें कई बड़े अन्तर हैं। यहाँ पर हम इनमें से तीन मुख्य कथाओं को देते हैं:—

पहिली कथा वह है जो पश्चिमी एशिया और रूपान्तर से उत्तरीय अफ्रीका में प्रचलित है। यह ईसाई धर्म्म ग्रंथ बाइबिल में विस्तार से दी हुई है। इसके अनुसार ईश्वर ने हज़रत नूह नामक महापुरुष को साव-धान कर दिया था। उन्होंने एक जहाज़ बना कर उसमें सभी प्राणियों का एक एक जोड़ा रक्खा। इसके बाद चालीस दिन और चालीस रात तक निरन्तर मूसलाधार पानी बरसता रहा। आकाश, पृथ्वी और समुद्र एक हो गये। चारों ओर जल ही जल हो गया। केवल नूह का जहाज़ बच रहा। चालीस दिन के बाद जब वर्षा थमी तब जहाज़ जाकर अरारत पहाड़ की चोटी पर रुका। फिर धीरे धीरे नूह के लाये हुए जोड़ों से सृष्टि बढ़ी।

दूसरी कथा पारसियों की है। इसे हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं। ऐर्य्यन वेइजों में वरफ़ का आक्रमण हुआ। ठण्ड पड़ी, दिन रात का रूप वदल गया। अहुरमज्द ने यिम को पहिले से ही सावधान कर रक्खा था। उन्होंने वाड़ा वनवा रक्खा था। उसमें चले गये। वहाँ धीरे धीरे सृष्टि वढ़ी।

तीसरी कथा वह है जो भारत में प्रचलित है। इसके पौराणिक रूपों में थोड़ा वहुत भेद है पर मूल कथा वह है जो शतपथ ब्राह्मण में दी है। ब्राह्मण ग्रंथ वेद के अंग माने जाते हैं अतः जो रूप शतपथ ब्राह्मण में दिया हुआ है उसे ही प्राचीन मानना चाहिये। कथा देने के पहिले हम एक वात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। वह यह है कि जो घटना इस कथा में दी गयी है उसकी ओर ऋग्वेद में कहीं जरा भी संकेत नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में इसका जिक्र है पर यह ग्रंथ ऋग्वेद के पीछे का है। सम्भव है ऋग्वेद में इस आख्यान का न मिलना केवल आकस्मिक हो परन्तु इत ने वड़े उथलपुथल का कहीं भी उल्लेख न मिलना आश्चर्य्य की वात है। अनुमान यही होता है कि यह घटना ऋग्वेद काल के पीछे की है। घटित होने के वाद उसकी स्मृति अमिट हो गयी और देश के सभी इतिवृत्तों में—इतिहास-पुराणों में—किसी न किसी रूप से स्थान पा गयी।

शतपथ ब्राह्मण के पहिले प्रपाठक के आठवें अध्याय के पहिले ब्राह्मण में लिखा है कि एक वार प्रातःकाल मनु के हाथ में एक छोटी मछली आ पड़ी। उसने उनसे कहा 'मेरी रक्षा करो'। आगे चल कर एक वहुत वड़ी वाढ़ आने वाली है, जल से पृथिवी आच्छादित हो जाने वाली है, जिसमें सव प्राणियों का नाश हो जायगा। *ओघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा* । उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी। मनु ने उसे वचा लिया। वह वढ़ती गयी। जव जलप्लावन का समय हुआ तो उन्होंने उसके आदेश के अनुसार एक नाव वनायी। जव ओघ आया (वाढ़ आयी) तो उन्होंने उसकी सींग में नाव की रस्सी डाल दी: *तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच* । मछली नाव को खींच कर उत्तरीय

पहाड़ की ओर ले गयी : *तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव* । वहाँ पहुँच कर मछली ने उनसे कहा कि जब तक पानी रुके तब तक नाव को पेड़ से बाँध दो। यह जगह मनोरवसर्पणम् (मनु के उतरने की जगह) कहलायी। महाभारत में इसे नौबन्धनम् (नाव बाँधने की जगह) कहा है। जब पानी घटा तो मनु अकेले बच गये थे । *मनुरेवैकः परिशिशिपे* उन्होंने पाक यज्ञ किया। कुछ काल के बाद वहाँ श्रद्धा नाम की स्त्री उत्पन्न हुई। उससे मानवी प्रजा की सृष्टि हुई ।

इन तीनों आख्यानों को देखने से ही इनके भेद देख पड़ जाते हैं। एक तो वचने के प्रकार में भेद है पर सब से बड़ा भेद प्रलय के स्वरूप में है। बाइबिल में घोर वृष्टि होती है। अवेस्ता में बरफ़ पड़ती है, ब्राह्मण में जल बढ़ आता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह तीनों वर्णन एक ही घटना के हैं पर जब घटना के मूल स्वरूप में इतना बड़ा अन्तर है तो एक मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। यह असम्भव बात है कि जिस घटना ने लोगों के जीवन में इतना उथल पुथल कर दिया, जो राष्ट्र के स्मृति पटल पर तप्त लौहशलाका से खचित हो गयी, उसके रूप के सम्बन्ध में इतनी विस्मृति हो जाती कि कोई वृष्टि कहता, कोई बरफ़, कोई बाढ़। फिर बहुत दिनों की बात भी नहीं है, तीनों ही अनुभव सभ्य लोगों के धर्म्म ग्रन्थों में दिये हुए हैं। इससे तो यही अनुमान होता है कि यह तीन पृथक घटनाएं हैं जो अनुमानतः तीन पृथक् समयों में घटित हुईं।

तिलक कहते हैं कि अवेस्ता और ब्राह्मण की कथाएँ एक ही हैं और ऐर्य्यन वेइजो से ही संबन्ध रखती हैं। वह कहते हैं कि यद्यपि भारतीय कथा में जल की बाढ़ का उल्लेख है पर यह भूल सी है। फिर संस्कृत का प्रालेय शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रलय से निकला है। प्रलय का अर्थ है जलप्लावन और प्रालेय का अर्थ है बर्फ़। अतः प्रलय की कथा में बीजरूप से प्रालेय की कथा निहित है। इस तर्क की असमीचीनता स्पष्ट है। हठ करके भारतीय कथा का ऐसा क्यों अर्थ किया जाय जो ईरानी कथा से मिल ही जाय ?

दास कहते हैं कि भारतीय कथा उस समय की है जब सप्तसिन्धव के दक्षिणी प्रदेश का नक़्शा बदला। ऐसे भौगर्भिक उपद्रव हुए जिनसे दक्षिण की ओर का समुद्रतल ऊपर उठा। उसके ऊपर उठने से राजपुताना की मरुभूमि बनी। जब समुद्रतल उठा तो समुद्र का जल सप्तसिन्धव पर टूट पड़ा होगा। बहुत ऊँची जगहों को छोड़कर एक बार सर्वत्र जल ही जल हो गया होगा। इसीलिये कहा गया है कि मत्स्य मनु को उत्तरगिरि की ओर ले गया। उत्तर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं जहाँ रक्षा हो सकती थी। यदि ऐर्य्यन वेइजो कहीं ध्रुवप्रदेश में था और यह घटना उसमें घटित हुई तो वहाँ कोई उत्तरगिरि है ही नहीं। उत्तरगिरि की ओर जाने में यह भी संकेत है कि मनु कहीं दक्षिण की ओर से गये थे। दूसरी पुस्तकों में ऐसा उल्लेख आता है कि मनु का आश्रम कहीं सरस्वती के तट पर था। यह उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि करता है। इतना जल जो सारे प्रान्त में फैल गया उसमें से कुछ तो नदियों के मार्ग से समुद्र में फिर पहुँचा होगा, कुछ चारों ओर फैल गया होगा। वायु उसके भाप को ऐर्य्यन वेइजो की ओर उड़ाकर ले गयी होगी। वहाँ की ठण्डी हवा से मिलकर सम्भव है वह वहाँ बरफ़ के रूप में गिरी हो। इसी का वर्णन अवेस्ता में होगा। जैसे कुछ काल के बाद सप्तसिन्धव से जल हट गया उसी प्रकार ऐर्य्यन वेइजो में हिमवृष्टि भी बन्द हो गयी होगी। यह भी सम्भव है कि इसी जल की भाप ने बैबिलन में वह महावृष्टि करायी हो जिसका बाइबिल में उल्लेख है।

दक्षिणी समुद्र के सूख जाने के बाद सप्तसिन्धव में स्वभावतः गर्मी बढ़ गयी। ...त् इसी बात की ओर संकेत करके वेन्दिदाद के प्रथम फर्गर्द में कहा है कि सप्त...न्धव में अंग्रमैन्यु ने अपनी माया से गर्मी उत्पन्न कर दी।

नवां अध्याय

उत्तरीय ध्रुवप्रदेश

जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं भारतीय आर्य्य तो अपने को सप्त-सिन्धव के अनादिकालीन निवासी मानते थे और जो कोई केवल ऋग्वेद या इन आर्य्यों के दूसरे ग्रंथों को देखेगा वह भी इसी परिणाम पर पहुँचेगा। सम्भव है ऋग्वेदकाल के पहिले, आज से ३०,०००-३५,००० वर्ष या उससे भी पहिले, यह लोग कहीं और से घूमते-फिरते यहाँ आगये हों और फिर भौगोलिक तथा भौगर्भिक कारणों से यहीं रह गये हों। यदि ऐसा हुआ होगा तो उस समय वह लोग नंगे, जंगली, सम्भवतः नरमांसभक्षी रहे होंगे। आरम्भ में तो मनुष्य की यही दशा थी। उनको स्यात् आग जलाना भी न आता होगा। खेती या पशुपालन तो वह क्या करते, वनैले पशुओं का शिकार ही उनका मुख्य जीवनोपाय रहा होगा। उनके हथियार या तो हड्डी के होंगे या पत्थर के। मनुष्य समाज का यही प्रारम्भिक चित्र है। सभी उपजातियों को इस अवस्था में से होकर आगे बढ़ना पड़ा है।

परन्तु वैदिक आर्य्यों को वह दिन प्रायः भूल गये थे। ऋग्वेद में उसका उल्लेख नहीं है। वैदिक आर्य्य नगरों और ग्रामों में बसते थे, व्यापार करते थे, खेती करते थे, उनकी अपनी परिमार्जित उपासना विधि थी, समाज की व्यवस्था थी। उनको धातुओं का ज्ञान था। वज्र के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह धातुनिर्मित था, शेष हथियार धातु के ही होते थे। कपड़े बिने और सिले जाते थे। इसका तात्पर्य्य यह है कि सप्तसिन्धव में हमको आर्य्य उपजाति उस अवस्था में मिलती है जिसमें उसकी संस्कृति और भाषा दूसरे देशों में जाने के योग्य थी। और इन आर्य्यों को किसी दूसरे जगह से आने की

स्मृति न थी। इससे यह निश्चित है कि वेदों के आधार पर आर्य्यों का, अर्थात् आर्य्य संस्कृति का, आदिम स्थान सप्तसिन्धव ही था।

अवेस्ता में जो कुछ स्पष्ट वर्णन दिया हुआ है उसकी भी विवेचना की जा चुकी है। उससे भी यह बात प्रमाणित नहीं होती कि आर्य्य लोग कहीं और के निवासी थे। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि उनकी एक शाखा जो सप्तसिन्धव छोड़ने के बाद कभी ऐर्य्यन वेइजो में रहती थी, किसी समय ध्रुवप्रदेश में जाकर बसने के लिये विवश हुई थी। यह एक शाखा मात्र का अनुभव है, इसका यह भी प्रमाण है कि अवेस्ता में जिन सोलह देशों के नाम दिए हैं उनमें सप्त-सिन्धव भी है परन्तु वेदों में सप्तसिन्धव के अतिरिक्त और किसी देश का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जो लोग बाहर गये ही नहीं वह विदेश का जिक्र कैसे करते ?

परन्तु अपने मत की पुष्टि में तिलक ने और भी कई प्रमाण दिये हैं। इनपर आगे के अध्यायों में विचार होगा। इसके पहिले ध्रुवप्रदेश की कुछ विशेपताओं को समझ लेना चाहिये।

सूर्य्य की परिक्रमा करने में पृथिवी जो अंडाकार वृत्त बनाती है उसकी एक नाभि पर सूर्य्य है। पृथिवी का धुरा इस वृत्त पर सीधा खड़ा न होकर उसके साथ एक कोण बनाता है। साल में दो बार सूर्य्य ठीक पूर्व में उदय होता है और ठीक पश्चिम में डूबता है। इन दोनों तिथियों में दिन रात बारह-बारह घंटे के होते हैं। ऐसी पहिली तिथि आजकल मार्च में आती है। इसके बाद सूर्य्य बराबर उत्तर की ओर बढ़ता जाता है। जाते-जाते जून में २१ तारीख को उत्तर बढ़ना रुक जाता है। उस दिन सबसे लंबा दिन और सबसे छोटी रात होती है। फिर सूर्य्य नीचे उतरता है और सितम्बर में फिर दिन रात बराबर होते हैं और सूर्य्य का उदय ठीक पूर्व और अस्त ठीक पश्चिम में होता है। इसके बाद सूर्य्य नीचे उतरता ही जाता है। २२ दिसम्बर को उसका दक्षिण की ओर बढ़ना बंद हो जाता है। उस दिन सबसे बड़ी रात और सबसे छोटा दिन होता है। फिर सूर्य्य ऊपर चढ़ता है और मार्च में

जाकर ठीक पूर्व में उदय होता है। सूर्य्य के दक्षिणाभिमुख होने के दिनों को दक्षिणायन और उत्तरयात्रा के दिनों को उत्तरायण कहते हैं। ग्रहादि गतिशील पिण्डों की चाल की ठीक ठीक गणना करने के लिये ज्योतिषियों ने आकाश को बारह भागों में बाँट दिया है जिनमें से प्रत्येक को राशि कहते हैं। हमको आकाश में पृथिवी की गति का तो प्रत्यक्ष पता लगता नहीं ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य्य पृथिवी की परिक्रमा कर रहा है। जिस दिन सूर्य्य का किसी राशि में प्रवेश होता है उस दिन को संक्रान्ति कहते हैं। जब दिन रात बराबर होते हैं तब सूर्य्य मेष और तुला राशियों में होता है। उत्तरायण का आरम्भ सायन मकर संक्रान्ति और दक्षिणायन का सायन कर्क संक्रान्ति से होता है। सूर्य्य की एक परिक्रमा में पृथिवी को ३६५ दिन से कुछ ऊपर समय लगता है।

सूर्य्य की परिक्रमा करने के साथ साथ पृथिवी अपने धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर लगभग चौबीस घंटों में घूमती है। इसी से सूर्य्य चन्द्र तारे पूर्व से पश्चिम की ओर घूमते प्रतीत होते हैं। धुरी के उत्तरीय छोर के ठीक सामने जो तारा पड़ गया है वह अचल प्रतीत होता है। उसे ध्रुव कहते हैं। इस तारे का इस दिशा में होना एक आकस्मिक बात है। यदि धुरी की दिशा बदल जाय, जैसा कि कई हज़ार वर्षों में धीरे-धीरे होता भी है, तो कोई दूसरा तारा सामने पड़ जायगा, उस अवस्था में वही ध्रुव होगा। यह भी हो सकता है कि कोई तारा ठीक सामने न पड़े। यदि ऐसा हुआ तो ध्रुव होगा ही नहीं। आज कल धुरी के दक्षिणी छोर के सामने कोई तारा नहीं है। अतः दक्षिण में ध्रुव नहीं है।

पृथिवी का उत्तरतम विन्दु उत्तरीय ध्रुव और दक्षिणतम विन्दु दक्षिणी ध्रुव कहलाता है। ध्रुव के पास का प्रदेश यथान्याय उत्तरीय या दक्षिणी ध्रुव प्रदेश कहलाता है। यहाँ हम प्रसङ्गवशात् उन ज्योतिर्विषयों का संक्षेप में वर्णन करेंगे जो उत्तरीय ध्रुव और उत्तरीय ध्रुवप्रदेश में देख पड़ते हैं। इनको जान लेने से आगे के अध्यायों को समझने में सुगमता होगी।

यदि कोई मनुष्य पृथिवी के ठीक उत्तरीय ध्रुव पर खड़ा हो जाय तो ध्रुव तारा उसके ठीक सिर पर होगा। जो तारे खगोल (आकाश गोल) के उत्तरार्द्ध में हैं वही देख पड़ेंगे परन्तु न उनका उदय होगा न अस्त। वह ध्रुव के चारों ओर घूमते दिखायी देंगे। उनकी घूमने की दिशा पूर्व से पश्चिम होगी। वह बराबर क्षितिज के ऊपर रहेंगे। वर्ष एक दिन रात जैसा होगा। छः महीने का दिन और छः महीने की रात होगी। रात की समाप्ति के बाद सवेरा आरम्भ होगा। यह सवेरा दो महीने तक रहेगा। सवेरे का प्रकाश आकाश में एक जगह न रहेगा परन्तु क्षितिज पर घूमता रहेगा। २४ घंटों में इसका एक चक्कर पूरा होकर दूसरा आरम्भ होगा। दो महीने के बाद सूर्य्य उदय होगा। सूर्य्य भी पूर्व से पश्चिम हमारे प्रदेश की भांति न चलेगा। वह चार महीने तक न उदय होगा, न अस्त होगा। क्षितिज पर घूमता रहेगा। चौबीस घंटों में उसकी भी ध्रुवप्रदक्षिणा पूरी होगी। इस चार महीने के बाद सूर्य्य डूब जायगा और संध्या आरम्भ होगी। सायंकाल का प्रकाश भी उसी प्रकार क्षितिज पर घूमता रहेगा। संध्या के अन्त होने पर चार महीने की घोर अन्धकार मय रात होगी। इस छः महीने के दिन में सूर्य्य का बिम्ब द्रष्टा से सदैव दक्षिण की ओर रहेगा।

ध्रुवदेश की यह विशेषताएं नीचे के नक़्शे से सुगमता से समझ में आ जायंगी।
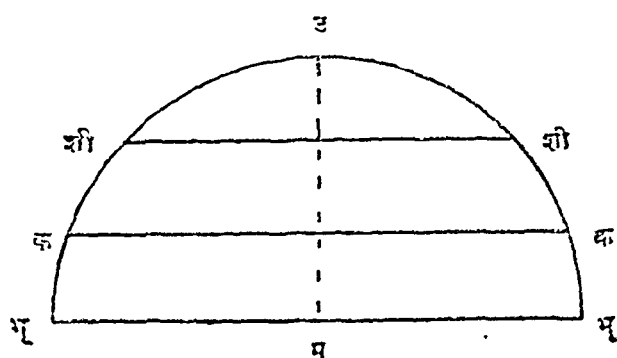
यह नक़्शा पृथिवी के उत्तरीय गोलार्द्ध का है। म पृथिवी गोल का मध्य विन्दु है और उ उत्तरीय ध्रुव। उम पृथिवी की धुरी है। भूमभू भूमध्य रेखा है। जब दिन रात बराबर होते हैं उन तिथियों में सूर्य्य भूमध्य रेखा के ठीक सामने उदय और अस्त होता है। कक कर्क रेखा है। जिस दिन सबसे लम्बा दिन होता है उस दिन सूर्य्य इसी रेखा के सामने उदय और अस्त होता है। ठीक इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में होता है। वहाँ सब से लंबी रात वाली तिथि में सूर्य्य मकर रेखा के सामने उदय और अस्त होता है। यह रेखा भूमध्य रेखा से उतनी ही दक्षिण है जितनी कि कर्क रेखा उससे उत्तर है। यह स्पष्ट ही है कि सूर्य्य जब कर्क रेखा पर होगा तब भी उत्तरीय ध्रुव पर खड़े हुए द्रष्टा के बराबर नहीं आ सकता। उससे दक्षिण की ओर ही देख पड़ेगा।

शी-शी शीत रेखा है। इसके ऊपर उ तक वह भू भाग है जिसमें आज कल कड़ी शीत पड़ती है और बारहों महीने बर्फ़ जमी रहती है। यही वह प्रदेश है जिसे हम बराबर उत्तरीय ध्रुव प्रदेश कह आये हैं। इस प्रदेश में भी सूर्य्य कभी द्रष्टा के बराबर नहीं आ सकता, जब होगा तब दक्षिण की ओर ही देख पड़ेगा। बहुत से तारे यहाँ भी उदयास्त के बन्धन से मुक्त होंगे। वह ध्रुव तारे की निरन्तर परिक्रमा करते देख पड़ेंगे। कुछ तारों का उदय, और अस्त भी होगा। खगोल के दक्षिणार्द्ध का कोई तारा यहाँ से भी नहीं देख पड़ेगा। वर्ष के तीन भाग होंगे (i) एक लंबी रात—यह रात उस समय होगी जब सूर्य्य भूमध्य रेखा के नीचे उतर कर मकर रेखा के सामने होगा। रात की लंबाई द्रष्टा के स्थान के अनुसार होगी। जो स्थान ध्रुवविन्दु के पास हैं वहाँ वह लग भग छः महीने की होगी, जो शी-शी रेखा के पास हैं वहाँ वह चौबीस घंटे से कुछ ही अधिक होगी। लंबी रात्रि के बाद सवेरा होगा। यह सवेरा भी स्थानभेद के अनुसार लंबा होगा। कहीं तो यह लगभग दो महीने का होगा, कहीं कुछ घंटों का। ध्रुव विन्दु के पास के भागों में प्रातःप्रकाश क्षितिज के पास पर चारों ओर घूमता देख पड़ेगा फिर (ii) लंबा दिन होगा। इसकी लंबाई भी रात की भांति द्रष्टा के स्थान

के अनुसार न्यूनाधिक होगी। इस लंवे दिन के वाद वैसा ही सायंकाल होगा जैसा सवेरा हुआ था। लंबे दिन में सूर्य्य अस्त हुए विना द्रष्टा की परिक्रमा करता देख पड़ेगा परन्तु सूर्य्य और प्रातःज्योति ध्रुवविन्दु की भांति क्षितिज पर नहीं वरन् उससे कुछ ऊपर लंबा और टेढ़ा चक्कर वना कर घूमते प्रतीत होंगे। (iii) लंवी रात और लंवे दिन के वीच में साधारण चौवीस घंटे के अहोरात्र। लंवी रात के वाद जव लंवा प्रातःकाल समाप्त होगा और सूर्य्य के दर्शन होंगे तो पहिले पहिले वह कुछ घंटों के वाद अस्त हो जायगा और रात हो जायगी। धीरे-धीरे सूर्य्य के ऊपर रहने के समय, अर्थात् दिन की लंवाई में वृद्धि और उसी अनुपात से रात की लंवाई में कमी होती जायगी, क्योंकि दोनों मिल कर चौवीस घंटे ही होते हैं। थोड़ी थोड़ी देर के लिये सवेरा और सायंकाल भी होगा। फिर जिस दिन सूर्य्य का दर्शनकाल चौवीस घंटे से वढ़ जायगा उस दिन लम्वा दिन आरम्भ हो जायगा। इसी प्रकार लंवे दिन के समाप्त होने पर सूर्य्य का दर्शन काल धीरे-धीरे घटने लगेगा और फिर चौवीस घंटे में अहोरात्र (दिन रात) होने लगेगा। जिस दिन सूर्य्य का अदर्शन काल चौवीस घंटे से वढ़ जायगा उसी दिन से लम्वी रात आरम्भ होगी।

इस प्रदेश की लंवी रात के अंधेरे को कुछ अंश तक आरोरा वोरिएलिस कम करता है। यह एक विचित्र प्रकाश है जो वहाँ देख पड़ता है। आकाश में प्रकाश की लपटें सी उठती हैं। इसका ठीक ठीक कारण अभी तक विद्वानों की समझ में नहीं आया है परन्तु विद्युत से किसी प्रकार का सम्वन्ध है ऐसा माना जाता है। यह प्रकाश लंवी रात के कुछ महीनों में देख पड़ता है। कुछ सहायता शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा से मिलती है।

यह ज्योतिर्दृश्य तो इस प्रदेश के नित्य दृग्विषय हैं। आज से हजारों वर्ष पहिले भी थे, आज भी हैं, आगे भी रहेंगे। परन्तु ऋतु सम्वन्धी दृग्विषय सदैव एक से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन होता रहता है।

भूगोल और भूगर्भशास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि कई कारणों से जिनका मुख्य सम्बन्ध ज्यौतिष से है पृथ्वी पर ऋतुओं का तारतम्य बदलता रहा है।

जिन भागों में आज सर्दी पड़ती है उनमें कभी गर्मी थी और जहाँ आज गर्मी है वहाँ सर्दी पड़ती थी। आज कल भूमध्य रेखा से उत्तर के भागों को इस प्रकार विभाजित करते हैं :—
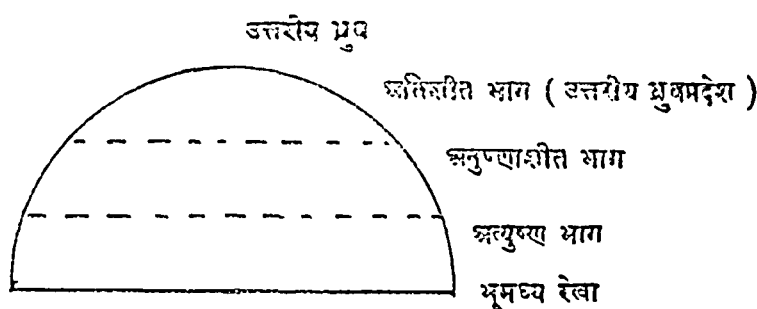
भूमध्य रेखा के दक्षिण में भी दक्षिणी ध्रुव तक पृथ्वीतल का इसी प्रकार विभाजन है। परन्तु एक ऐसा भी समय था जब विभाजन ऐसा न था। इन दिनों अनुष्णशीत भाग में कहीं कहीं बड़ी कड़ी सर्दी पड़ती थी और ध्रुव प्रदेश में एक प्रकार का चिरवसन्त था। गर्मी और सर्दी बारहों महीने ऋतु मधुर रहता था। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि कई बार पृथ्वी के बहुत बड़े भाग बरफ़ से ढँक गये थे। हज़ारों वर्ष के बाद बरफ़ हटी और फिर आयी। डाक्टर क्रोल की गणना के अनुसार उत्तरी भूम्यर्द्ध में अन्तिम हिमाच्छादन आज से लगभग २,४०,००० वर्ष पहिले आरम्भ हुआ। बीच बीच में बरफ़ कहीं हट जाती थी, कहीं फिर आ जाती थी परन्तु प्रायः यह अवस्था १,६०,००० वर्ष तक चली गयी। आज से लगभग ८०,००० वर्ष हुए बरफ़ पीछे हट गयी और अब केवल ध्रुव प्रदेश में रह गयी है। इसका तात्पर्य्य यह है कि पिछले ८०,०००-५०,००० वर्ष के बीच में इस भू-भाग में ऋतुसंचार प्रायः आज जैसा ही रहा है। अतः यदि आर्य्य लोग कभी ध्रुव प्रदेश में रहते थे तो वह बात इससे पहिले की होगी।

आज से १०-१५ हज़ार वर्ष पहिले तो उनका सप्तसिन्धव में रहना प्रमाणित ही होता है। अतः हमको वह जगह भी ढूँढ़नी होगी जहाँ ध्रुव प्रदेश छोड़ने के वाद और सप्त सिन्धव में आने के पहिले अर्थात् ५०,००० से १०,००० वर्ष पहिले तक वह लोग रहे।

कुछ लोगों को जिनमें तिलक भी हैं क्रोल की यह गणना सम्मत नहीं है। वह कहते हैं कि वरफ़ को हटे लगभग १०,००० वर्ष हुए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इससे वहुत पहिले उत्तरी ध्रुव प्रदेश वरफ़ से ढंका था। वीच में वहाँ से वरफ़ हट गयी और नीचे के, अर्थात् अनुष्णशीत प्रदेश की ओर वढ़ गयी। फिर लगभग १०,००० वर्ष हुए इधर से हट गयी और ध्रुव प्रदेश फिर हिमाच्छन्न हो गया। वरफ़ के पिछले आक्रमण से पहिले ध्रुवप्रदेश में चिरवसन्त जैसा ऋतु था। लोग वहुत ही सुखी और संस्कृत थे। फिर जव वरफ़ उधर वढ़ी तो उनको अपना वह घर छोड़ना पड़ा और वह सप्तसिन्धव तथा अन्य जगहों में जा वसे।

इस मत के सम्वन्ध में भी दो आपत्तियाँ उठती हैं। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वह कहते हैं कि इस प्रदेश में रहने की अवस्था में आर्य्यों ने सभ्यता में काफ़ी उन्नति कर ली थी। यह ठीक भी है। जव उसके थोड़े ही दिनों वाद सप्तसिन्धव में वह इतने उन्नत पाये जाते हैं तो यही मानना पड़ता है कि यह उन्नति उन्होंने अपने पुराने घर में ही कर ली होगी। परन्तु यह आश्चर्य्य की वात है कि यूरोप के निवासियों की, जो उन्हीं आर्य्यों के वंशज माने जाते थे, तत्कालीन अवस्था विल्कुल जंगलियों की सी पायी जाती है। न उन्हें कपड़ा विनना आता था, न धातुओं से काम लेना जानते थे। न उनका कोई साहित्य था, न ठिकाने की राजव्यवस्था थी। ऐसा कैसे हो गया? घर छोड़ते ही उनकी सारी संस्कृति और सभ्यता कहाँ खो गयी। केवल भारत और ईरान के आर्य्य ही क्यों सभ्यता की रक्षा कर सके? यदि यह मान भी लिया जाय, जैसा दूसरे अध्याय में दिखलाया गया है, कि वस्तुतः यूरोप निवासी आर्य्य उपजाति के वंशज नहीं थे, तव भी एक प्रश्न रहता

है। १०,००० वर्ष से कुछ ही पहिले आर्य्य लोग ध्रुव प्रदेश में थे और लगभग १०,००० वर्ष पहिले या इसके कुछ बाद ही सही वह सप्तसिन्धव में बसे हुए थे अर्थात् ध्रुव प्रदेश छोड़ने के थोड़े ही दिन बाद वह लोग सप्तसिन्धव पहुँच गये। इस यात्रा में उनको १०००-५०० वर्ष से अधिक समय नहीं लगा। इसीलिये वह अपनी संस्कृति को क़ायम रख सके, परन्तु इतनी जल्दी उनको अपने पुराने घर की स्मृति कैसे भूल गयी? वह उस चिरवसन्त मय प्रदेश के लिये विलाप क्यों नहीं करते? वह उस लंबे मार्ग का उल्लेख क्यों नहीं करते जिससे उन्होंने कई हज़ार कोस की यह यात्रा समाप्त की? आश्चर्य्य होता है कि वेदों में इन बातों का कहीं स्पष्ट पता नहीं मिलता और विद्वानों को इधर-उधर से संकेतों को ढूंढना पड़ता है।

एक और बात ध्यान देने की है। हिमाच्छादन हुआ अवश्य पर उसका पुष्ट प्रमाण उत्तरी यूरोप और अमेरिका में ही मिलता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इतर देशों में ऐसा नहीं हुआ पर यह तो निश्चित प्रतीत होता है कि सारी पृथ्वी पर परिवर्त्तन एक साथ नहीं हुए। बहुत पहिले इधर भी हिमाच्छादन हुआ होगा पर इधर से बरफ़ को हटे बहुत दिन हुए। यदि डाक्टर क्रोल की गणना ठीक है और बरफ़ इधर से उत्तर की ओर ८०,००० वर्ष हुए चली गयी और इसके बाद बहुत से भौगर्भिक उथल-पुथल होकर इधर के भूतल की सूरत ही बदल गयी हो तो दूसरी बात है, अन्यथा उत्तरी यूरोप अमेरिका या एशिया भले ही हिमाच्छादित और मनुष्य के बसने के अयोग्य रहा हो परन्तु आज से १०,००० वर्ष से भी पहिले सप्तसिन्धव प्रदेश में ऐसी कोई कठिनाई नहीं थी और मनुष्य के रहने और उसकी सभ्यता के विकास करने के सभी साधन यहाँ अच्छी तरह लभ्य थे।

फिर भी हमको यह देखना होगा कि वेदों में उन दृग्विषयों का वर्णन है या नहीं जो ध्रुवबिन्दु पर और ध्रुवप्रदेश में देखे जाते हैं और आज से ८०००-१०,००० वर्ष पहिले देखे जा सकते थे। यदि है तो इसका कारण ढूंढना होगा।

———

दसवाँ अध्याय

देवों का अहोरात्र

यदि वेदों में उन दृग्विषयों का वर्णन मिलता है जो ध्रुव प्रदेश में आज भी देखे जा सकते हैं तो हमको विचार करने के लिए रुकना पड़ेगा। आज हमारे देश में लोग रूढ़ि के हाथ बिक गये हैं; वह तो विचार करने के परिश्रम से यह कह कर छुटकारा पा लेते हैं कि प्राचीन ऋषिगण योगी, अथच त्रिकालज्ञ थे, इस लिए उन्होंने ऐसी बातों का भी जिक्र कर दिया है जिनको उन्होंने चर्मचक्षुओं से नहीं देखा था। यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। ऋषिगण भले ही परम योगी रहे हों पर यदि दिव्य दृष्टि से ही काम लेना था तो उन्होंने मध्य अफ्रीका या आस्ट्रेलिया का वर्णन क्यों नहीं किया, दक्षिणी भारत और मथुरा, प्रयाग, काशी को क्यों छोड़ गये? उत्तरीय ध्रुव पर ही उनकी दिव्य दृष्टि पड़ी इसका भी तो कोई कारण होना चाहिये? दूसरा उत्तर यह हो सकता है, और यही उत्तर तिलक को अभिमत है, कि वह लोग वहां रह चुके थे, वहां की स्मृति उनके मन से मिटी न थी। यह तर्क स्वतः ग़लत नहीं है। देखना इतना ही है कि सचमुच इतनी मात्रा में और इस प्रकार के स्पष्ट वाक्य मिलते हैं या नहीं जिनके आधार पर यह माना जा सके कि यह वर्णन प्रत्यक्ष अनुभव की अभिव्यक्ति है। तीसरा तर्क यह है कि पीछे से, अर्थात् वैदिक काल के पीछे, कुछ लोग उस प्रदेश की ओर गये होंगे या यह लोग कुछ ऐसे विदेशियों से मिले होंगे जो उधर से परिचित हों गे और उनसे सुन सुना कर ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त कर दिये गये होंगे। यह असम्भव नहीं है। इसी प्रकार यह चौथा उत्तर भी असम्भव नहीं है कि पीछे के विद्वानों ने ज्योतिर्गणना से यह बातें निकाली हों और इनको प्रक्षिप्त कर दिया हो। होने को तो यह भी हो सकता है कि वैदिक काल के विद्वानों ने ही अपनी विद्या से

ध्रुव प्रदेश की परिस्थिति का अनुमान कर लिया हो पर तिलक का कहना है कि उस समय गणित और ज्योतिष की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। यह दोनों पिछले तर्क कहां तक ठीक हैं इस बात का निर्णय तत्प्रासंगिक वाक्यों को देख कर ही हो सकेगा।

यदि वैदिक आर्य्य कभी ध्रुव विन्दु तक पहुँचे थे तो उनको वहां के लंबे रातदिन, लंबे प्रातःसायं, क्षितिज पर घूमती प्रातर्ज्योति आदि का अनुभव अवश्य ही हुआ होगा। यदि वह कभी ध्रुव प्रदेश में रहते होंगे तो उन्होंने उन दृग्विषयो को देखा ही होगा जिनका इस प्रदेश से विशेष सम्बन्ध है। अब देखना है कि उन्होंने ऋग्वेद में कहीं यह बातें लिखी हैं या नहीं।

जहां तक विदित होता है ऋग्वेद काल में भी चान्द्रवर्ष चलता था। चन्द्रमा को पृथिवी की एक परिक्रमा करने में लगभग २७½ दिन लगते हैं। हमारे ज्योतिषियों ने इस गति की ठीक ठीक गणना के लिए आकाश को २७ भागों में बांटा है जिनको नक्षत्र कहते हैं। इस प्रकार नाक्षत्र मास २७½ दिन का होता है। परन्तु इस मास से साधारण लोगों का काम नहीं चलता। सामान्य मनुष्य एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा या एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक की अवधि को एक मास कहता है। इसमें प्रायः २९½ दिन लगते हैं। २९½ को बारह से गुणा करने से ३५४ दिन होते हैं। सामान्यतः लोगों को २९½ का तो पता चलता नहीं ३० दिन का चान्द्रमास और ३६० दिन का चान्द्र वर्ष माना जाता है। परन्तु पृथिवी को सूर्य्य की परिक्रमा करने में ३६५ दिन लगते हैं। इस लिये चान्द्र और सौर वर्षो में बराबर अन्तर पड़ता जायगा। ऋतु पृथिवी की गति पर निर्भर हैं। अतः यदि चान्द्र और सौर वर्षों में बराबर अन्तर पड़ता गया तो जितने त्योहार और उत्सव हैं उनमें व्यतिक्रम पड़ जायगा। वही पर्व कभी जाड़े में पड़ेगा, कभी गर्मी में, कभी वर्सात् में। मुसलमानों के पर्वो में ऐसा बराबर होता है।

परन्तु यदि आर्य्यों में ऐसा होता तो अनर्थ हो जाता। उनके यहाँ तो दैनिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक सभी प्रकार के सत्र, सभी ऋतुओं

के लिये यज्ञ, बँधे थे। समय बदल जाने से क्रिया का फल ही नष्ट हो जाता। आजकल ही सोचिये यदि शरत् पूर्णिमा बीच गर्मी में पड़ जाय या होली मध्य जाड़े में आ जाय तो कैसी गड़बड़ मच जाय। कितने पर्वों के तो नाम ही निरर्थक हो जायं। इसलिये भारतीय ज्योतिप और धर्म्मशास्त्र ने आदिकाल से ही इसकी व्यवस्था सोच निकाली है। आज कल ज्योतिपियों के चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष में लगभग १० दिन का अन्तर पड़ता है। चान्द्रवर्ष १० दिन छोटा होता है। इसीलिये तीसरे साल एक महीना बढ़ाकर दोनों को फिर एक जगह ले आते हैं, इसलिये पर्वों में बहुत व्यतिक्रम नहीं पड़ने पाता। वैदिक काल में इस २९½ दिन के चान्द्रमास और ३५५ दिन के साल का तो ठीक पता नहीं चलता। ३० तिथियों का महीना और ३६० दिन का साल मिलता है और इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि सौरवर्ष से मिलाने के लिये कुछ दिन जोड़ दिये जाते थे। इन बातों के कई प्रमाण मिलते हैं:—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते

(ऋक् १—२५, ८)

वरुण बारहों महीनों को जानते हैं। जो तेरहवाँ अधिक मास उत्पन्न होता है उसे भी जानते हैं।

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रम् परिद्यामृतस्य।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

(ऋक् १—१६४, ११)

हे अग्नि, सूर्य्य का चक्र आकाश के चारों ओर घूमता है पर जरा को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् पुराना नहीं होता। उसके बारह अरे (बारह महीने) हैं। उसके (सूर्य के) स्त्री पुरुप स्वरूप ७२० पुत्र (सन्तान) हैं (३६० दिन और ३६० रात)।

इसके बाद वाले मंत्र में सूर्य के लिये '*पञ्चपादं पितरम् द्वादशाकृतिम दिव आहुः परे अर्धे पुरीपिणम*' आया है। इसका अर्थ है 'सूर्य्य वृष्टि के जल से प्रसन्न करने वाले अन्तरिक्ष में अवस्थित हैं। वह

द्वादशाकृति हैं (बारहों महीने सूर्य्य की आकृतियाँ हैं) तथा पञ्चपाद हैं। (एक एक ऋतु एक एक पाद है। ऋतु छः हैं परन्तु शिशिर हेमन्त को कभी-कभी एक साथ गिन लेते हैं। इसलिये षट्पाद न कहकर पञ्चपाद कहा है।)

इसी प्रकार नीचे के मंत्र में नक्षत्रों की ओर संकेत है :—

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।

सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः॥

(ऋक् ४—३३, ७)

जिस समय बारहों दिन (आर्द्रा से लेकर अनुराधा तक वर्षा ऋतु के बारहों नक्षत्र) अगोप्य सूर्य्य के घर अतिथि रूप से निवास करते हैं उस समय खेतों को शस्यादि से सम्पन्न करते हैं, नदियों को प्रेरित करते हैं इत्यादि।

इन अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय ३६० तिथियों का वर्ष होता था, उसको छः ऋतुओं में या कम से कम पाँच ऋतुओं में बांट रक्खा था, साल में बारह महीने होते थे और एक तेरहवां महीना भी अधिमास रूप से जोड़ा जाता था। आकाश को २७ नक्षत्रों में विभक्त किया गया था। जहाँ द्वादश की संख्या आती है वहाँ भाष्यकार ने यह कहा है कि इसका अर्थ बारह महीने या मेष आदि बारह राशि हो सकता है। यों तो सूर्य एक एक महीने एक एक राशि में रहता है, अतः बारह राशि कहने से भी बारह मास आगये परन्तु उस समय राशिगणना से काम लिये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि यह गणना आर्य्यों ने यूनानियों से सीखी। यह बात ठीक हो या न हो परन्तु जहाँ तक पता चलता है वैदिक काल में राशिगणना के स्थान में नक्षत्रगणना ही प्रचलित थी। नक्षत्रों के नाम भी पुरानी पुस्तकों में आते हैं परन्तु प्राचीन साहित्य में राशियों के नाम नहीं मिलते। अतः इन मंत्रों में बारह महीनों का ही उल्लेख मानना चाहिये, बारह राशियों का नहीं।

तिलक भी इस बात को स्वीकार करते हैं। वह भी कहते हैं कि इस विषय में वैदिक ज्योतिष आधुनिक ज्योतिष से बहुत कुछ मिलता था। परन्तु उनका मत है कि इन स्पष्टोक्तियों के साथ साथ ऋग्वेद में

ऐसे भी वाक्य हैं जिनसे ध्रुवप्रदेश में आवास करने के समय की स्मृति की झलक मिलती है। इसके सिवाय पीछे के संस्कृत साहित्य में भी ऐसे वाक्य आते हैं। इस प्रकार का एक अवतरण तो सूर्य्य सिद्धान्त का है :—

मेरौ मेषादि चक्रार्धे, देवाः पश्यन्ति भास्करम् ।
सकृदेवोदितं तद्वत्, असुराश्च तुलादिगम् ॥

(सूर्य्य सिद्धान्त १२, ६७)

मेष से जो सूर्य्य का संक्रमण होता है (अर्थात् आकाश में चलना होता है) उसके आधे में (अर्थात् छः महीने तक *मेरु पर रहने वाले) देवगण सूर्य्य को एक ही वार उदय के वाद देखते हैं। (अर्थात् छः महीने तक सूर्य्य अस्त नहीं होता।)

यह वाक्य स्पष्ट है। मेरु पर देवगण रहते हैं या नहीं यह तो ज्योतिष का विषय नहीं है। इतनी वात तो ज्योतिषी प्रचलित धर्म्म विश्वासों से ले लेता है परन्तु मेरु पर सूर्य्यादि के उदयास्त की जो अवस्था होगी वह तो विना वहाँ गये भी ज्योतिषी अपनी गणना से जान सकता है। ध्रुव विन्दु तक पहुँचने में तो अभी थोड़े ही दिन हुए सफलता हुई है परन्तु यूरोपियन ज्योतिषियों ने भी वहाँ के दृग्विषयों का वर्णन अपनी गणना के ही आधार पर किया है। इसी प्रकार भास्कराचार्य सिद्धान्त शिरोमणि में कहते हैं :—

षट्षष्टिभागाभ्यधिकाः पलांशाः, यत्राथ तत्रास्त्यपरो विशेषः ।
लंबाधिका क्रान्तिरुदक् च यावत्, तावद्दिनं संततमेव तत्र ।
यावच्च याम्या सततं तमिस्रा, ततश्च मेरौ सततं समार्धम् ॥

(सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, ७—६, ७)

जिन जगहों का पलांश (अर्थात् भूमध्य से दूरी) ६६ अंश से अधिक है उनमें एक विशेषता है। जब कभी सूर्य्य का उत्तरीय लंब (खमध्य रेखा से

---

* उत्तरीय ध्रुव विन्दु को मेरु (या मेरु पर्वत) कहते हैं।

उत्तर की ओर की दूरी) पलांश के पूरक से अधिक हो तो जब तक यह अधिकता बनी रहेगी निरंतर दिन बना रहेगा*। इसी प्रकार जब कभी दक्षिणीय लंब (खमध्य रेखा से दक्षिण की ओर की दूरी) पलांश के पूरक (९०° में से पलांश घटाने पर जो बचे वह पूरक है) से अधिक होगा तो निरंतर रात रहेगी। इसलिये मेरु पर बराबर छः छः मास के दिन रात होते हैं।

भास्कर ने भी मेरु के अहोरात्र का यह वर्णन गणना के अनुसार ही किया है। उनका जीवनचरित छिपा नहीं है। यह सभी जानते हैं कि वह कभी भारत के बाहर नहीं गये।

हिन्दुओं में काल की गणना तिथि, पक्ष, मास, संवत्सर तक ही समाप्त नहीं होती परन्तु देवों की आयु और प्रजापति की आयु का भी हिसाब लगाया जाता है। किसी भी शुभ कर्म्म करते समय जो संकल्प किया जाता है उसके अनुसार आजकल ब्रह्मा जी की शतवर्षीय आयु का आधा बीत चुका है। दूसरे आधे के पहिले दिन के दूसरे पहर के श्वेतवाराह कल्प का अट्ठाईसवाँ कलियुग चल रहा है। इन कल्पादि का मान इस प्रकार है :—

१२ मास		=१ मानव वर्ष (लगभग ३६५ दिन ६ घंटे)
४,३२,००० मानव वर्ष		=१ कलियुग (=या एक युग)
८,६४,०००	,,	=१ द्वापर युग (=२ कलि)
१२,९६,०००	,,	=१ त्रेता युग (=३ कलि)
१७,२८,०००	,,	=१ सतयुग (=४ कलि)
४३,२०,०००	,,	=१ चतुर्युग या महायुग (=१० कलि)
१००० महायुग		=१ कल्प
१ मानव वर्ष		=१ दैव अहोरात्र (=दिन रात)
३६० दैव अहोरात्र		=१ दैव वर्ष
१२,००० दैव वर्ष		=१ दैव युग

---

* भूमध्य में बराबर १२-१२ घंटे के दिन रात होते हैं। ६६॥° पर बड़ा से बड़ा दिन २४ घंटे का, ७०° पर २ मास का, ७८॥° पर चार मास का होता है। यही बात दक्षिण (भूमध्य से दक्षिण) के लिये है।

इस मान से १ दैव युग =४३,२०,००० मानव वर्ष=१ मानव महायुग

१ कल्प =१ ब्राह्म दिन

१ कल्प =१ ब्राह्म रात्रि

२ कल्प =१ ब्राह्म अहोरात्र

७२० कल्प =१ ब्राह्म वर्ष

१०० ब्राह्म वर्ष =७२,००० कल्प=३१,१०,४०,००,००,००,०००

मानव वर्ष =ब्रह्मा की आयु

१००० ब्रह्मायु =विष्णु की १ घड़ी [अहोरात्र में ६० घड़ियाँ होती है]

१२ लाख विष्णु आयु =रुद्र की ½ कला [१ कला=४५० निमेष (पलक मारने का समय)]

१ कल्प में १४ मन्वन्तर (मनुओं का काल) होते हैं,

१ मनुकाल =७१ महायुग

इसी सम्बन्ध में तिलक ने यह श्लोक उद्धृत किया है :—

> दैवे रात्र्यहनी वर्षं, प्रविभागस्तयोः पुनः ।
> अहस्तत्रोदगायनं, रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥
> (मनुस्मृति—१, ६७)

मनुष्यों के एक वर्ष का देवों का अहोरात्र होता है। उत्तरायण उनका दिन और दक्षिणायन उनकी रात होती है।

अब इस कालमान का क्या अर्थ लगाया जाय ? एक अर्थ तो यह हो सकता है कि जिस प्रकार घड़ी पल घण्टा मिनट आदि सुविधे के मान हैं, वैसे ही दैव वर्ष आदि भी हैं। काल नापने के लिये कोई न कोई मान तो रखना ही था। लोगों ने तय किया कि हम इतने काल को सेकण्ड कहेंगे और फिर सेकण्ड के ऊपर यों ही नाम दे चले। इसी प्रकार घड़ी आदि का भी हिसाब है। १८ निमेष की एक काष्ठा होती है। पर १८ निमेष को ही क्यों नाम दिया जाय, ५ या ७ या १० निमेष से क्यों न आरम्भ करें ? ६० सेकण्ड का एक मिनिट होता है। हम २०

सेकण्ड या १५ सेकण्ड को ही कोई नाम क्यों न दें ? इन प्रश्नों का कोई तात्त्विक उत्तर नहीं हो सकता। पृथिवी का अपने अक्ष पर घूमना और उसका सूर्य्य के चारों ओर घूमना तो बँधा है। यह दोनों काल-विभाग निश्चित और प्रत्यक्ष हैं। शेष सब विभाग सुविधे के लिये किये गये हैं। उनमें इतना ही देखना होता है कि इन दोनों नियत कालों में अन्तर्भाव हो सके। जो कोई भी काल विभाग हो, उससे २४ घंटों को भाग देने में सुविधा तो होनी ही चाहिये। सम्भव है आर्य ज्यौतिष का काल विभाग भी ऐसा ही हो। मानव वर्ष तक की बात तो प्रत्यक्ष ही है। इसके ऊपर के कालों के लिये दूसरे देशों में लोगों ने नाम नहीं दिये, केवल सौ वर्षों को शताब्दी कहते हैं। हमारे यहाँ इससे लंबी अवधियों का भी नामकरण किया गया और उनको क्रमशः दैव वर्ष, ब्राह्म वर्ष आदि नाम दिये गये। दूसरी बात यह हो सकती है कि सचमुच देवों की, ब्रह्मा की, विष्णु की, रुद्र की आयु इसी परिमाण से होती है। यह बात योगियों के अपरोक्ष अनुभव का विषय होता होगा परन्तु साधारण मनुष्य न तो देवादि को देखता है, न उनके लोकों की काल-गणना कर सकता है।

तीसरी बात एक और हो सकती है और तिलक कहते हैं कि वस्तुतः वही ठीक है। मानव वर्ष तक का तो अनुभव प्रत्यक्ष है ही, मेरु (उत्तरीय ध्रुवविन्दु) पर एक मानव वर्ष का अहोरात्र होता है, इसका भी लोगों को अपरोक्ष ज्ञान होगा। आर्य लोग वहाँ रहे थे। उन्होंने अपनी आंखों छः महीने का दिन और छः महीने की रात देखी थी। अब उस देश को छोड़ आये थे। वह मनुष्य के बसने के अयोग्य हो गया था। पर उसकी क्षीण स्मृति अब भी थी। लम्बे दिन रात तो नहीं ही भूले थे। अतः उसको अब देवलोक मान लिया था पर अहोरात्र का जो वर्णन है वह अपने पूर्वजों की आँखों देखी बातों के आधार पर है। यह तर्क निःसार नहीं है परन्तु पूरा सन्तोष भी नहीं देता। आखिर इतना तो इसमें भी मानना ही पड़ेगा कि वह कभी किसी ऐसे प्रदेश में नहीं रहे थे जहाँ दो कल्प का अहोरात्र होता हो अतः ब्राह्म आदि

मान प्रत्यक्ष लौकिक अनुभव के विषय नहीं थे। फिर यह क्यों न माना जाय कि दैव वर्ष भी इसी प्रकार कल्पित है। यह आकस्मिक वात है कि पृथिवी पर एक ऐसा स्थान है जहाँ इस परिमाण का अहोरात्र होता है। अकेले यह वात इस वात का प्रमाण नहीं हो सकती कि उन लोगों को ध्रुवप्रदेश का प्रत्यक्ष ज्ञान था।

महाभारत के वनपर्व के १६३ वें और १६४ वें अध्याय में अर्जुन की मेरुयात्रा का वर्णन है। वहाँ कहा है :—

एनं त्वहरहर्मेरुं, सूर्य्याचन्द्रमसौ ध्रुवं।
प्रदक्षिणमुपावृत्य, कुरुतः कुरुनन्दन॥
ज्योतींषि चाप्यशेषेण, सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराज, गिरिराजं प्रदक्षिणम्॥
स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य, महौषधीनां च तथा प्रभावात्।
विभक्तभावो न बभूव कश्चि, दहोनिशानां पुरुषप्रवीर॥
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां, संवत्सरेणैव समानरूपः॥

हे कुरुनन्दन, सूर्य्यचन्द्र मेरु की प्रतिदिन प्रदक्षिणा करते हैं। सब तारे भी गिरिराज की प्रदक्षिणा करते हैं। उस श्रेष्ठ पहाड़ के तेज से तथा महौषधियों के प्रभाव से दिन रात में भेद नहीं प्रतीत होता। उन लोगों का दिन रात एक वर्ष के बराबर होता है।

यह शब्द साफ़ है। सूर्य्य चन्द्र तारों का मेरु के चारों ओर घूमना और छः छः मास का दिन रात भी स्पष्ट इङ्गित है। सम्भवतः मेरु के उस प्रकाश से, जो दिन रात को दिन के समान बना देता है, ऑरोरा बोरिआलिस की ओर संकेत है। यह वाक्य ज्योतिष की गणना के आधार पर भी लिखे जा सकते थे पर गणना से वहाँ के प्रकाश का पता नहीं चल सकता, अतः यह प्रतीत होता है कि इनमें किसी के प्रत्यक्ष अनुभव का सहारा है। चाहे इन लोगों ने ऐर्य्यन वेइजो से निकले हुए पारसियों की यात्रा का वृत्तान्त सुन लिया हो या स्वयं इस देश से ही कुछ लोग उधर गये हों। अर्जुन अपना निजी अनुभव नहीं बतला

रहे थे यह तो साफ़ प्रकट होता है। महाभारत काल आज से ५००० वर्ष पहिले का माना जाता है। उस समय तो मेरु हिमाच्छादित था। अर्जुन को वहाँ महौषधियाँ न मिली होंगी, चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़ देख पड़ी होगी। इसका वह ज़िक्र करते ही नहीं। फिर वहाँ गिरिराज, नगराज, पर्वतशिखर कहाँ है? अतः यह वृत्तान्त अपनी आंखों देखी बातों का नहीं, सुनो सुनायी बातों का है। कुछ लोगों ने कभी उधर की सैर की होगी। उनकी कही हुई बातें सैकड़ों वर्षों के बाद विकृत रूप में श्लोकबद्ध हो गयीं। उनमें वह पुराना विश्वास भी मिल गया कि देवगण मेरु पर्वत पर रहते हैं। स्यात् इसोलिये मेरु को दीप्तिमान और दिव्य औषधियों से परिपूर्ण बतलाया गया है। कुछ ऐसा भी विश्वास है कि इन्द्र की पुरी हिमालय की किसी सुमेरु नामक चोटी पर है। तिलक कहते हैं कि इन श्लोकों में तथा इसी प्रकार के उन दूसरे वाक्यों में जो पुराणों में यत्र तत्र मिलते हैं उस समय की स्मृति ध्वनित हो रही है जब आर्य लोग ध्रुवप्रदेश में रहते थे। यह बात असम्भव नहीं है। पर यह कुछ आश्चर्य्य की बात है कि ध्रुव बिन्दु का तो वर्णन मिलता है, ध्रुव प्रदेश का नहीं। अस्तु. अब देखना यह है कि स्वयं ऋग्वेद में भी कोई स्पष्ट प्रमाण मिलता है या नहीं। ऋग्वेद काल में तो यह स्मृति बिल्कुल ही ताज़ी रही होगी। तिलक इस सम्बन्ध में तीन चार मंत्रों को उद्धृत करते हैं :—

यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वं तस्तम्भ पृथिवीमुतद्याम्

(ऋक् १०-८९, ४)

(हम इन्द्र की स्तुति करते हैं) जिन्होंने अपने बल से पृथिवी और आकाश को इस प्रकार स्तम्भित किया जिस प्रकार रथ के दोनों पहिये धुरे के द्वारा स्तम्भित किये जाते हैं।

अवंशे द्यामस्तभायत् (ऋक् २-१५, २)

आकाश में जिन्होंने द्युलोक को स्तमित, स्तम्भित, स्थिर किया।

स इत्स्वपा भुवनेष्वास, य इमे द्यावा पृथिवी जजान ।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ॥

(ऋक् ४-५६,३)

भुवनों में वह शोभनकर्म्मा है जिसने द्यावा पृथिवी को उत्पन्न किया और अपने पराक्रम से उर्वी को अविचल अनाधार आकाश में प्रेरित किया।

स सूर्य्यः पर्य्युरू वरांस्येंद्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा (ऋक् १०-८९,२)

इन्द्र ही सूर्य्य हैं। उन्होंने बहुत से तारों को रथ की पहियों की भांति घुमाया।

(यह अनुवाद सायण के अनुसार है। तिलक *उरूवरांसि* का अर्थ बड़ा विस्तार—आकाश—करते हैं। दोनों तरह एक ही बात आती है।)

इन सब वाक्यों को मिला कर तिलक कहते हैं कि इनसे ध्रुव प्रदेश के दृग्विपर्यों की ओर संकेत मिलता है परन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि मुझे ऐसा नहीं देख पड़ता। रथ के पहियों की भांति घूमना एक ऐसी उपमा है जो कवि लोगों को बहुत पसन्द है। तारे निराधार आकाश में खड़े हैं, पृथिवी या सूर्य्य आकाश में निरालंब घूम रहे हैं, यह भी साधारण उक्तियाँ हैं। आकाश को इन्द्र बिना किसी सहारे के सँभाले हुए हैं, यह कहना इन्द्र के पराक्रम का सूचक तो है पर ऐसी बात कहीं भी कही जा सकती है; इसके लिये ध्रुव प्रदेश में या ध्रुव विन्दु पर जाने की आवश्यकता नहीं है। एक बात और है। ध्रुव विन्दु पर सूर्य्य क्षितिज पर घूमता प्रतीत होता है। तारे भी ध्रुव के चारों ओर घूमते हैं। यदि इन मंत्रों में इस बात का जिक्र करना होता तो आकाश की गति को कुम्हार की चक्की से उपमा देते। पर यहाँ रथ की पहिया से उपमा दी गयी है। रथ की पहिया खड़ी घूमती है। ध्रुव प्रदेश से दक्षिण के देशों में जहाँ सूर्य्य तारादि पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त होते हैं यह बात देखी जाती है। सप्तसिन्धव के लिये यह उपमा ठीक है पर ध्रुव प्रदेश के लिये नहीं। इसी प्रकार निम्न-लिखित मंत्र भी, जिसको तिलक उद्धृत करते हैं, उनके मत को पुष्ट नहीं करता :—

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥

(ऋक् १-२४,१०)

यह ऋक्ष (सप्तर्षि-किसी किसी मत से सभी तारे) जो ऊँचे पर स्थापित हैं रात में सबको देख पड़ते हैं, दिन में कहीं चले जाते हैं। वरुण की अबाधित आज्ञा से ही रात में चन्द्रमा चमकता है।

रात में सप्तर्षि (या सब तारों) का चमकना, दिन में छिप जाना तथा रात में चन्द्रमा का चमकना तो साधारण बातें हैं जो भूमध्य रेखा के उत्तर कहीं भी देखी जा सकती हैं। हां, भूमध्य रेखा के दक्षिण के देशों में सप्तर्षि के दर्शन न होंगे। बस केवल दो शब्द ऐसे हैं जो विचारणीय हैं। यह हैं मूल के 'निहितासः उच्चा'—ऊँचे पर स्थापित। तिलक कहते हैं कि ऊँचे का अर्थ है द्रष्टा के सिर पर। यदि यह अर्थ हो तब तो यह कह सकते हैं कि यह मंत्र ध्रुव प्रदेश की ओर संकेत करता है पर ऐसा अर्थ करने के लिये कोई कारण प्रतीत नहीं होता। भूमध्य रेखा के दक्षिण तो ऋक्ष् अर्थात् सप्तर्षि अदृश्य होते हैं, भूमध्य रेखा के पास से उत्तर की ओर बहुत नीचे दबे दिखायी देंगे। ज्यों ज्यों उत्तर चलिये त्यों त्यों ऊँचे होते जायंगे। इसलिए ध्रुव प्रदेश के दक्षिण में भी सप्तर्षि ऊँचे रहेंगे। जब 'सिर के ऊपर' मानने के लिये कोई विशेष कारण नहीं है तो सप्तर्षि को ऊँचे पर स्थापित तो सप्तसिन्धव से भी कह सकते हैं। यदि ऋक्ष का अर्थ तारामात्र है तब तो सिर के ऊपर कहने से भी कोई विशेष काम नहीं निकलता। रात में सर्वत्र ही तारा जटित आकाश सिर के ऊपर रहता है।

अतः इन बातों से कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। पौराणिक अवतरणों से अधिक से अधिक स्यात् यह अनुमान किया जा सकता है कि उन लोगों में मेरु प्रदेश के संबंध में कुछ जनश्रुतियाँ थीं। संभव है यह केवल ज्योतिषियों की गणना से उठी हों, यह भी सम्भव है कि कुछ लोग कभी उधर गये हों। परन्तु ऋग्वेद जिसमें हमको सबसे

अच्छे प्रमाण मिलने चाहिये थे कुछ भी नहीं कहता। जो वाक्य पेश किये जाते हैं उनका दूसरा सरल भाव निकलता है। ऐसे सङ्केत देने वाले वाक्यों को इधर उधर से ढूंढ़ना पड़ता है। यही हमको सतर्क करता है कि ऐसी सामग्री नहीं है जिसका एक निर्विवाद सर्वसम्मत अर्थ किया जा सकता हो। सामग्री का अभाव दूसरे पक्ष को पुष्ट करता है।

युगमान पर एक नोट

जैसा कि हमने इस दसवें अध्याय में लिखा है ४,३२,००० वर्ष का एक युग माना जाता है। कलि की आयु १ युग होती है, द्वापर की २ युग, त्रेता की ३ युग और सतयुग की चारयुग। इस प्रकार १० युग अर्थात् ४३,२०,००० वर्ष का एक चतुर्युग या महायुग होता है। ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर और १००० महायुगों का एक कल्प होता है। इस प्रकार एक कल्प में १०००÷७१=१४ मन्वन्तर होते हैं और ६ महायुग बच रहते हैं।

युगादि की आयु का यही मान प्रचलित है। इसके हिसाब से अन्तिम सतयुग के प्रारम्भ काल को, जो वैदिक समय का प्रारम्भ काल था, १७,२८,०००+१२,९६,०००+८,६४,०००+५००० = ३८,९३,००० वर्ष हुए।

युगों के मान के और भी कई प्रकार हैं। श्री गिरीन्द्रशेखर बोसने अपने पुराण प्रवेश में इस प्रश्न पर अच्छी खोज की है। उसका सारांश श्री० पी० सी० महालनवीस के एक लेख में जो जून १९३६ की 'संख्या' में छपा था दिया गया है। यह विषय रोचक है और वैदिक काल के विद्यार्थी के लिये विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये हम यहाँ उसका थोड़े में दिग्दर्शन कराये देते हैं।

युग का अर्थ है जोड़, मिलना। जहाँ दो या दो से अधिक चीजों का मेल होता है वहीं युग, युति, योग होता है। विशेषतः युग वह मिलन है जो नियत काल के बाद फिर फिर होता रहता है।

हिन्दुओं में चार प्रकार के मास प्रचलित थे : (१) ३० सूर्यो-

दयों का सावन मास, (२) एक राशि से दूसरी राशि तक का सौर मास (३) पूर्णिमा से पूर्णिमा तक का चान्द्र मास और (४) चन्द्रमा का पृथिवी को परिक्रमा में लगने वाला नाक्षत्र मास। इन सब की अवधि एक दूसरे से भिन्न है। यदि इन सब अवधियों का लघुतम समापवर्त्य निकाला जाय तो हम देखते हैं कि ५ सौर वर्षों में ६० सौर मास, ६१ सावन मास, ६२ चान्द्रमास और ६७ नाक्षत्र मास आते हैं। पाँच-पाँच वर्ष में यह चारों मास एकत्र होते हैं। इसलिये ५ सौर वर्षों का नाम वेदांग ज्योतिष में युग है। इस प्रकार कलि ५ सौर वर्ष, द्वापर १० सौर वर्ष, त्रेता १५ सौर वर्ष और सतयुग २० सौर वर्षों का हुआ। ५० सौर वर्षों का एक महायुग हुआ। पर इतना पर्य्याप्त नहीं है। और लंबे कालमानों की आवश्यकता प्रतीत होती है। उनकी उपलब्धि इस प्रकार होती है।

चान्द्र वर्ष में ३५५ दिन और सौर वर्ष में ३६६ दिन होते हैं। यों तो अपनी सुविधा के लिये प्रति तीसरे वर्ष एक महीना जोड़ कर दोनों को मिला लिया जाता है पर यदि ऐसा न किया जाय तो ३५५ सौर वर्षों में दोनों फिर मिलेंगे। अतः यह ३५५ सौर वर्षों का भी एक प्रकार का युग है। इसको मनुकाल कहते हैं। ३५५ को ५ से भाग देने से ७१ आता है। इसीलिये कहा जाता है कि एक मन्वन्तर में ७१ युग होते हैं। १००० युग अर्थात् ५००० सौर वर्षों का एक कल्प होता है। एक कल्प में १४ मनुकाल होते हैं। इनमें ४९७० वर्ष लगे। दो-दो मनुओं के बीच में २ वर्ष का सन्धिकाल होता है। इस प्रकार १५ सन्धिकालों में ५०००-४९७०=३० वर्ष लगते हैं।

कल्प का ही नाम धर्म्मयुग या महायुग है। दो युगों के बीच में संधिकाल होता है। संधिकाल युग की आयु का दशांश होता है। संधिकालों को मिलाकर युगों की आयु इस प्रकार हुई :—

कलि ५०० वर्ष, द्वापर १००० वर्ष, त्रेता १५०० वर्ष और सतयुग २००० वर्ष।

यह इस विषय का अन्तिम निर्णय नहीं है पर जब हम एक ओर पुराणों में लाखों और करोड़ों वर्षों की चर्चा देखते हैं और दूसरी ओर आधुनिक खोज को १०-१२ हज़ार वर्ष से आगे जाते नहीं पाते तो विचित्र असमञ्जस में पड़ जाते हैं। उस समय स्वतः यह विचार उठता है कि पुरानी पुस्तकों में जो युगादि शब्द आये हैं उनकी व्याख्या कुछ और प्रकार से होनी चाहिये। ऐसे विचारों को श्री बोस की इस खोज से सहायता मिलनी चाहिये। सम्भव है आगे कोई और भी समीचीन गणना का सूत्र हाथ लग जाय। बोस कहते हैं कि पुराणों में २००० मास के ऐतिहासिक युग का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार एक कल्प (५,००० वर्ष=६०,००० मास) में ३० ऐतिहासिक युग होते हैं।

४,३२,००० वर्ष का युग या कलियुग मानने में एक बात है। यों तो सब ग्रह जहाँ पर एक समय होते हैं ठीक उन्हीं जगहों पर फिर नहीं आते फिर भी ४,३२,००० वर्षों में घूम फिरकर प्रायः उन्हीं जगहों पर आ जाते हैं, बहुत थोड़ा अन्तर रहता है। स्यात् इसीलिये ४,३२,००० वर्ष को काल का एक बड़ा मानदण्ड माना गया है। इसका दूना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना सतयुग परम्परा के अनुसार माना गया होगा।

ग्यारहवां अध्याय

देवयान और पितृयान

देवयान का अर्थ है देवों का मार्ग और पितृयान का अर्थ है पितरों का मार्ग। देवयान वह सड़क है जिससे देवगण यज्ञ में दी हुई आहुति लेने पृथिवी पर आते हैं और पुण्यात्मा मनुष्य शरीर छोड़ने पर स्वर्लोकादि ऊपर के लोकों में जाते हैं। पितृयान वह सड़क है जिससे पितृगण अपनी सन्तान के दिये हुए कव्य ग्रहण करने पृथिवी पर आते हैं और साधारण मनष्य शरीर छोड़कर पितृलोक और यमसदन को जाते हैं। देवयान प्रकाशमय और पितृयान अन्धकारमय है।

तिलक कहते हैं कि वैदिक काल में देवयान उत्तरायण और पितृयान दक्षिणायन का नाम था। दोनों मिलकर एक संवत्सर के बराबर होते थे, अर्थात् देवयान उत्तरीय ध्रुवप्रदेश का लंबा दिन और पितृयान वहाँ की लम्बी रात थी। इसके प्रमाण में वह ऋग्वेद से कई वाक्य उद्धृत करते हैं। हमको भी उनपर विचार करना होगा :—

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनाम् व्यानुषक् शुरुधो जीवसे धाः।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्॥

(ऋक् १—७२, ७)

हे अग्नि तुम सर्वज्ञ हो। द्यावा पृथिवी के बीच अन्तरिक्ष में जो देवयान मार्ग है उसको जानते हो। तुम देवों के पास बारबार हवि पहुँचाने में आलस्य नहीं करते। हम लोगों के लिये भूख दूर करने वाले अन्न को उत्पन्न कराने के लिये हमारे दूत बनो (देवों के पास हव्य ले जाओ।)

इस वाक्य में अग्नि को देवयान का ज्ञाता कहा है पर इससे तो उत्तरायण का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। जैसा कि मंत्र ने स्वयं ही कह दिया है, अग्नि हव्यवाहन हैं। यदि उनको देवयान मार्ग का ज्ञान न हो तो वह देवों के पास यज्ञ में दी हुई हवि पहुँचा ही नहीं सकते।

प्रथम मण्डल के १८३ वें तथा १८४ वें सूक्त का ६ ठां मंत्र एक ही है। वह इस प्रकार है :—

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥

हे अश्विनो, तुम्हारी कृपा से हम लोग इस अन्धकार के पार हो गये हैं। तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम लोग देवयान मार्ग से हमारे इस यज्ञ में आओ।

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥

(ऋक् ७—७६, २)

मुझको देवयान मार्ग देख पड़ते हैं, जो अक्षतिकर तथा तेजों से संस्कृत हैं। पूर्व दिशा में ऊँचे स्थानों पर से उषाका केतु (प्रातःकालीन तेज) देख पड़ता है।

पहिला अवतरण यह वतलाता है कि अन्धकार समाप्त हो गया है और अश्विनों से देवयान मार्ग से आने को प्रार्थना करता है। सबसे पहिला अवतरण यह वतला चुका है कि देवयान मार्ग अन्तरिक्ष में है। अतः जब इस पथ पर कोई प्रकाशमान शरीर चलेगा तभी यह देख पड़ सकता है। सवेरे जिन देवों के दर्शन होते हैं उनमें सबसे पहिले दोनों अश्विन हैं। रात के अन्त होने पर याग करने वाला प्रकाश की पहिली क्षीण रेखा की प्रतीक्षा कर रहा है, इसीलिये वह अश्विनों का आह्वान कर रहा है। यह मंत्र ध्रुवप्रदेश की छः महीने वाली लंबी रात के अन्त से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। दूसरा मंत्र इस वात को और भी साफ़ कर देता है। वह कहता है कि उषा के केतु प्रतीची (पूर्व) दिशा में देख पड़ने लगे हैं। यह वात ध्रुव विन्दु या ध्रुव प्रदेश में नहीं हो सकती। वहां तो उषा का केतु दक्षिण दिशा में देख पड़ता है। आश्चर्य है तिलक को यह वात नहीं खटकी। इस प्रतीची शब्द ने तो द्विविधा के लिये स्थान ही नहीं छोड़ा। यह निश्चय ही ध्रुवप्रदेश से नीचे के किसी देश का प्रातःकाल है जहाँ पूर्व दिशा में प्रभात और

सूर्योदय होते हैं। इसलिये यह मानना चाहिये कि इन मंत्रों का संबंध सप्तसिन्धव से ही है।

ऋग्वेद १०—८८, १५ में कहा है :—

द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।

मैंने देवों, पितरों और मनुष्यों के दो ही मार्ग सुने हैं, देवयान और पितृ-यान।

और ऋक् १०—१८, १ में यम के मार्ग को परम पन्थाम देवयानात, देवयान से भिन्न वतलाया है। यह वात प्रचलित विश्वास के सर्वथा अनुकूल है। देवगण अमर कहलाते हैं, अतः पितृयान मार्ग को जिससे पितृगण और सामान्य मनुष्यों के प्राण चलते हैं अमर मार्ग से भिन्न, अर्थात् मृत्यु का, यम का, मार्ग कहना सर्वथा उचित है।

इसके आगे तिलक कहते हैं कि देवयान और पितृयान साधारण दिन और रात के नाम नहीं हो सकते प्रत्युत लंवे वैदिक दिन रात के ही नाम हो सकते हैं। इसके प्रमाण में वह शतपथ ब्राह्मण से एक अव-तरण देते हैं जिसमें ऐसा कहा गया है कि दोनों यानों में तीन तीन ऋतु हैं। यदि वह वाक्य यहीं समाप्त हो जाता तो निःसन्देह तिलक के मत की पुष्टि होती। परन्तु समूचा वाक्य, जिसको उद्धृत करना उन्होंने अनावश्यक समझा, उनका समर्थन नहीं करता। वह इस प्रकार है :

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः॥

(शतपथ ब्राह्मण २—१—३—१)

इसका अर्थ यह है कि वसन्त ग्रीष्म और वर्षा देवऋतु हैं, शरद हेमन्त शिशिर पितृऋतु; शुक्लपक्ष देवपक्ष है, कृष्णपक्ष पितृपक्ष; दिन और दिन में का भी पूर्वार्ध देवकाल है, रात और दिन में का उत्तरार्ध पितृ-काल है।

इस स्थल पर कहीं देवयान पितृयान का जिक्र नहीं है। आगे की कण्डिकाओं में भी यही बतलाया गया है कि किस उद्देश्य के यज्ञ के लिये कौन सा ऋतु अनुकूल है। जिन कालों में प्रकाश चढ़ाव पर रहता है वह देवकाल हैं, शेष पितृकाल हैं। अन्त में चलकर यह भी कहा है कि आयु का कोई भरोसा नहीं *को हि मनुष्यस्य श्वो वेद*—(मनुष्य के कल को कौन जानता है ?), सभी ऋतु अच्छे हैं, सूर्य उनके दोषों को दूर कर देंगे, सब में ही यज्ञ का अनुष्ठान हो सकता है।

ऐसी दशा में तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा हुआ *'एकं वा एतद्देवाना-मह: यत्संवत्सर:)'*—देवों का एक दिन एक वर्ष के बराबर होता है—उतना ही अर्थ रखता है जितना कि मनुस्मृति का वह श्लोक जो पहिले उद्धृत हो चुका है। अवेस्ता का यह उपाख्यान भी कि देवों के उत्पीड़न से सूर्य्य और चन्द्र गति छोड़कर बहुत दिनों तक एक ही जगह खड़े थे, तब उनको फ्रवशियों (पितरों) ने असुरों का बनाया मार्ग, मज्द का बनाया मार्ग दिखाया, जिससे उनका छुटकारा हुआ, कुछ बहुत सहा-यता नहीं देता। यदि मान लिया जाय कि इसमें उस लंबे काल की ओर संकेत है जब कि सूर्य अदृश्य रहता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि हम तो इस बात को मान चुके हैं कि पारसियों की एक शाखा ध्रुवप्रदेश से परिचित थी। इसके साथ ही एक सन्देह भी होता है। यदि इस वाक्य में ध्रुवप्रदेश के लंबे अहोरात्र का जिक्र है तो सूर्य के साथ चन्द्र का नाम क्यों जोड़ा गया ? चन्द्रमा की गति तो सर्वत्र एक सी होती है, ध्रुवप्रदेश में भी वह अपने सामान्य शुक्ल कृष्णपक्षों के क्रम से देख पड़ता है।

तिलक कहते हैं कि पितृयान के विरुद्ध जो भाव है वह इस बात का प्रमाण है कि पितृयान किसी समय लंबी अंधेरी वैदिक रात्रि का नाम था। इसी प्रकार उत्तरायण के पसन्द किये जाने का कारण यह है कि वह किसी समय लंबे वैदिक दिन का नाम रहा होगा। अर्थात् किसी समय उत्तरायण को देवयान और दक्षिणायन को पितृयान कहते थे।

ऐसे कई वाक्य हैं जिनसे यह अर्थ उपलब्ध होता है कि उत्तरायण,

शुक्ल पक्ष आदि में मरना अच्छा और दक्षिणायन, कृष्णपक्ष आदि में मरना बुरा है।

श्री मद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ (२४)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः, षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति, र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ (२५)

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वती मते ।
एकया यात्यनावृत्तिम्, अन्ययावर्तते पुनः ॥ (२६)

जगत में शुक्ल और कृष्ण दो मार्ग शाश्वत हैं। इनमें से एक से अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) दूसरे से पुनर्जन्म होता है। ब्रह्मज्ञ पुरुष अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में मरकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। धुएं, रात, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छः महीनों में मरकर चन्द्रज्योति को प्राप्त होता है और फिर लौटता है। (चन्द्रलोक में ही पितृलोक है।)

इस प्रकार के श्रौत और स्मार्त वाक्यों पर वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के द्वितीयपाद के चार सूत्रों, *रश्म्यनुसारी (१८) निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च (१९) अतश्चायनेऽपि दक्षिणे (२०)* और *योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते* (२१) तथा इसी अध्याय के त्रितीयपाद के एक सूत्र *आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्* (४) में पूरा पूरा विचार किया गया है। शाङ्कर भाष्य के अनुसार इस विचार का परिणाम यह निकलता है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिये और उस योगी के लिये जिसका प्राण सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा शरीर से उत्क्रमण करता है कालादि का कोई नियम नहीं है। उसके लिये दिन रात उत्तरायण दक्षिणायन शुक्ल पक्ष कृष्ण पक्ष सब बराबर हैं। साधारण उपासकों के लिये जो किसी लोक विशेष की प्राप्ति के इच्छुक हों काल भेद हो सकता है। परन्तु उत्तम अर्थ यह है—और यही

अर्थ वेद के अनुकूल है—कि अग्नि, शुल्कपक्ष, उत्तरायण, धूम, रात्रि, दक्षिणायन आदि समयों और काल विभागों के नाम नहीं हैं वरन् आतिवाहिक देवों के नाम हैं। आतिवाहिक उन देवों को कहते हैं जो शरीर छोड़ने पर आत्मा को आगे के लोकों में ले जाते हैं। अपने अपने कर्म्म के अनुसार प्राणी को तत्तत् आतिवाहिक से भेंट होती है और उसको तत्तत् लोक की प्राप्त होती है।

इन बातों का निष्कर्ष यह निकलता है कि पितृयान उन आत्माओं का मार्ग माना जाता है जिनके कर्म्म उत्कृष्ट नहीं हैं। इसीलिये वह देवयान की अपेक्षा हीन समझा जाता है। उसका ध्रुव प्रदेश की लंबी रात्रि या देवयान का वहाँ के लंबे दिन से कोई संबंध स्थापित नहीं होता।

बारहवाँ अध्याय

उषा

तिलक कहते हैं कि ऋग्वेद में उषः (उषस्, हिन्दी में उषा-प्रातः कालीन प्रकाश) की प्रशस्ति में जो मंत्र हैं वह संहिता भर में सब से सुन्दर हैं। इनकी संख्या बीस के लगभग है, यों तो उषा का उल्लेख तीन सौ बार से अधिक आया है। दूसरे विद्वान् भी उषः सम्बन्धी मंत्रों की ऐसी ही प्रशंसा करते हैं। मेकडॉनेल का मत है कि यह देवता वैदिक काव्य की सब से सुन्दर सृष्टि है और किसी भी दूसरे देश के धार्म्मिक साहित्य में इससे सुन्दर कृति नहीं मिलती। यह बात यथार्थ है। उषा की प्रशंसा में वैदिक ऋषियों ने बड़ी ही भावुकता दिखलायी है। उदाहरण के लिये हम कुछ मंत्र देते हैं :—

प्रतिष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परिस्वसुः ।
दिवो अदर्शि दुहिता ॥

(ऋक् ४-५२, १)

वह प्राणियों की नेत्री फलों की उत्पन्न करने वाली आदित्य की दुहिता उषा अपनी बहिन (रात्रि) के उपरिभाग में (अन्त में) अन्धकार को दूर करती हुई देख पड़ती है।

प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः ।
ओषा अप्रा उरु ज्रयः ॥

(ऋक् ४-५२, ५)

वर्षा की धारा की भांति भद्र किरणें देख पड़ती हैं। उषा ने महत्तेज को भर दिया है।

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात् ।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात् ॥

(ऋक् ५-८०, ५)

यह शुभ्रवर्णा सुअलंकिता स्नान करके उठी हुई स्त्री की भांति अपने अंगों को दिखलाती हुई आदित्य की लड़की उषा शत्रुरूपी अन्धकार को दूर करती हुई तेज (प्रकाश) के साथ आती है।

उषा से ऋषिगण वरों की भी मुक्तकंठ से याचना करते हैं, जैसे

ऐषु धा वीरवद्यश उषो मघोनि सूरिषु।
ये नो राधांस्यह्रूया मघवानो अरासत सुजाते अश्वसूनृते॥

(ऋक् ५-७९,६)

हे उषा देवि, तुम उन धनवान दानी यजमानों को जो हमको धन देते हैं पुत्र अन्न यश प्रदान करो।

उषा शब्द प्रायः एक वचन में आया है पर कहीं कहीं इसके लिये बहुवचन का भी प्रयोग हुआ है। इन बातों से तिलक यह अनुमान करते हैं कि जिस उषा का ऋग्वेद में उल्लेख है वह ध्रुव प्रदेश की ही होगी। नीचे के देशों की उषा के लिये बहुवचन का प्रयोग नहीं हो सकता, फिर उसमें कोई ऐसी विशेषता भी नहीं होती कि कोई उस पर मुग्ध हो जाय। हाँ, ध्रुव प्रदेश का लंबा प्रातःकाल निःसन्देह चित्ताकर्षक होता है। इसके अतिरिक्त कुछ मंत्रों में स्पष्ट रूप से लंबे प्रभातों की ओर संकेत है। हमको इन प्रमाणों पर आगे चलकर विस्तार से विचार करना होगा। पर इतना कह देना तो अनुचित न होगा कि यह तर्क पुष्ट नहीं है कि ध्रुव प्रदेश को छोड़ कर अन्यत्र की प्रातःकालीन प्रभा मोहक नहीं होती। विषुवत रेखा पर तो प्रातःसायं होता ही नहीं, इससे उत्तर और दक्षिण के देशों में प्रातःकाल और सायंकाल दोनों ही सुंदर होते हैं। सप्तसिन्धव में लगभग दो घंटे का प्रभात होता है। कवि हृदय के लिये इसमें पर्य्याप्त आकर्षण है। भारतीय भाषाओं में प्रभात की प्रशंसा बराबर आती है। यदि एतत्सम्बन्धी वैदिक कविता में कोई विशेषता है तो इतनी ही कि वेदों में प्रातःकाल का सम्बन्ध विशेष प्रकार के यज्ञयागों से है। यही कारण है कि जहाँ लौकिक कविता में सायं-काल का भी वैसा ही रोचक वर्णन मिलता है, वेद में केवल प्रभात की गुणगाथा है।

तिलक कहते हैं कि वैदिक प्रभात के लंबे होने का पहिला संकेत ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। नये वर्ष के प्रथम दिन अतिरात्र करके दूसरे दिन से गवामयन नामक यज्ञ किया जाता था। पहिले दिन की रात को तीन भागों में बाँटते थे जिनको पर्य्याय कहते थे। इन पर्य्यायों में कुछ विशेष स्तोत्रों को पढ़ने का विधान है। सबसे मुख्य बात यह है कि यज्ञ आरम्भ होने के पहिले होता को कम से कम एक हजार मंत्रों का पाठ करना पड़ता था। इस पाठ को आश्विन शास्त्र कहते थे। पाठ लंबा था इसलिए होता को यह आदेश दिया गया है कि वह थोड़ा सा घी पी ले। ऐसा करने से गला अच्छा काम करेगा। यह तो निश्चित है कि इस पाठ को सूर्य्योदय के पहिले समाप्त करना है पर प्रश्न यह है कि यह आरम्भ कब होता था। तिलक कहते हैं कि अश्विनों का काल वह है जब कि अन्धेरा दूर होकर प्रकाश की पहिली धुँधली झलक देख पड़ने ही वाली है। इसके प्रमाण में वह निरुक्तका यह वाक्य उद्धृत करते हैं

'तयो: काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम्।'

ऋग्वेद के ७वें मंडल के ६७वें सूक्त के २ रे और ३ रे मंत्र से भी अश्विनों के काल का पता चलता है। २रे मंत्र में कहते हैं '*अचेति केतुरुपसः पुरस्ताच्छ्रये दिवो दुहितुर्जायमानः*'— पूर्व दिशा में उषा की शोभा के लिये सूर्य्य जान पड़ने लगा है, अतः हे अश्विनों तुम्हारे आने का समय आ गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब यह पाठ आश्विन शास्त्र कहलाता था तो आश्विन काल में ही पढ़ा जाता रहा होगा। आश्विन काल आधी रात के बाद आरम्भ होता है और सूर्य्योदय के समय समाप्त हो जाता है। अतः इतनी ही देर में पाठ को पूरा करना था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह पाठ किसी ऐसे प्रदेश में होता होगा जहाँ यह आश्विन काल इतना लंबा हो कि उसमें १००० मंत्र पढ़े जा सकें। इसके ध्रुव प्रदेश के लंबे प्रभात की ओर संकेत होता है। और भी बातें इस मत का समर्थन करती हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र में कहा है:--

प्रातरनुवाकन्यायेन तस्यैवसमाम्नायस्य सहस्रावममोदेतेः शंसेत्

(आश्व० ६—५, ८)

यदि पाठ समाप्त होने पर भी सूर्य्य उदय न हो तो दूसरे मंत्रों को पढ़कर पाठ चलाये रखना चाहिये।

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि यदि पाठ समाप्त होने पर सूर्य्योदय न हो तो ऋग्वेद के दसों मंडलों को पढ़ डालना चाहिये।

सर्वा अपि दाशतयीरनुब्रूयात।

(आप० १४—१, २)

अब इस पर विचार करना है। पहिले तो यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि इसको आश्विन शास्त्र कहते हैं पर इसमें केवल अश्विनों का ही स्तव नहीं है वरन् अग्नि, उषा, इन्द्र के भी स्तोत्र हैं। अश्विन शास्त्र कहने का कारण यही है कि आकाश में अन्य देवताओं से पहिले अश्विनों के दर्शन होते हैं—

तासामश्विनौ प्रथमगामिनौ भवतः (निरुक्त)।

इसलिये यद्यपि पाठ को सूर्य्योदय तक समाप्त तो करना था पर उसको अर्धरात्रि के बाद आश्विन काल आरम्भ होने पर ही आरम्भ करने की कोई आवश्यकता न थी। मूल में ऐसा कहा भी नहीं है। इसके विरुद्ध भी एक संकेत है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार देवों में एक दौड़ हुई, उसमें अश्विन प्रथम आये। यह दौड़ गार्हपत्य अग्नि से आदित्य तक हुई थी। गार्हपत्य अग्नि सायंकाल जलायी जाती थी। आदित्य सूर्य्य को कहते हैं। इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आश्विन काल अर्थात् आश्विन शास्त्र के पाठ का काल गार्हपत्याग्नि के जलाने के समय से लेकर सूर्य्योदय तक था। एक हजार मंत्रों के पाठ के लिये इतना समय, जो लगभग बारह घंटे के बराबर हुआ, पर्य्याप्त होना चाहिये। यह हो सकता है कि किसी को तेज़ पढ़ने का अभ्यास हो। वह कुछ जल्दी समाप्त कर लेगा। उसके लिये श्रौत सूत्रों ने

दूसरे मंत्रों को पढ़ने का विधान किया है। एक अच्छे पढ़ने वाले को एक हज़ार मंत्र स्वर के साथ पढ़ने में सात आठ घंटे लगने चाहियें।

अब यदि तिलक की बात मान ली जाय कि आश्विन काल अर्ध-रात्रि के बाद आरम्भ होता है और इस विधान में ध्रुव प्रदेश की रात का ज़िक्र है तो पाठ के लिये आधी रात के बाद भी महीने डेढ़ महीने का समय होता है। जहाँ रात चार महीने की होगी, वहाँ आधी रात का वह उत्तर काल जो प्रकाश की पहिली झीनी झलक तक जाता हो, एक महीने से क्या कम होगा। पर एक महीने तक तो कोई भी होता एक बार घी पीकर एक हज़ार मंत्रों का पाठ नहीं कर सकता। एक महीना तो बहुत होता है, दो चार दिन भी अधिक हैं। ऐसी दशा में यह विधान कि यदि पाठ समाप्त होने तक सूर्य्य के दर्शन न हों तो दूसरा पाठ करना चाहिये निरर्थक सा हो जाता है। 'यदि' का प्रश्न ही नहीं उठता, सूर्य्य का दर्शन कदापि नहीं हो सकता, अतः दूसरा पाठ करना ही पड़ेगा। इन बातों से यह प्रतीत होता है कि यहाँ ध्रुव प्रदेश के लम्बे प्रभात का कोई ज़िक्र नहीं है, सामान्य रात और सामान्य ही प्रभात का उल्लेख है।

दूसरा प्रमाण तिलक तैत्तिरीय संहिता से देते हैं। इस संहिता (७—२, २०) में एक जगह सात आहुति देने का विधान है। वहाँ यह विधान इन शब्दों में हैः—

उषसे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहोदिष्यतेस्वाहोद्यते स्वाहोदिताय स्वाहा सुवर्गाय स्वाहा लोकाय स्वाहा।

उषा को स्वाहा, व्युष्टि को स्वाहा, उदिष्यत् को स्वाहा, उद्यत् को स्वाहा, उदित को स्वाहा, सुवर्ग को स्वाहा, लोक को स्वाहा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार '*रात्रिर्वा उषाः अहर्व्युष्टिः*' उषा रात है, व्युष्टि दिन है। व्युष्टि शब्द और भी कई स्थलों पर आता है। इसका अर्थ है पूरी तरह से खिला हुआ प्रभात। अतः उषा और व्युष्टि का अर्थ हुआ, प्रभात का पूर्व रूप और पूर्ण रूप। तिलक कहते हैं कि यदि इस तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्याख्या मान कर इन दोनों शब्दों का

अर्थ रात और दिन भी कर लें तो उदेष्यत् (उदय होने वाली), उद्यत् (उदय होती) और उदित का विभेद तो रह ही जायगा। यह तीनों नाम भी प्रभात के हैं। ध्रुव प्रदेश को छोड़कर अन्य कहीं इतना लंबा सवेरा होता ही नहीं कि वहाँ ऐसा तिहरा विभाग किया जा सके।

यह तर्क भी आधारहीन है। यह तीनों शब्द उदेष्यत्, उद्यत् और उदित उषा नहीं वरन् सूर्य्य के लिये प्रयुक्त हुए हैं। ब्राह्मण का भी ऐसा ही संकेत है। फिर उषा और व्युष्टि दोनों स्त्रीलिंग वाचक हैं, उदेष्यत् उद्यत् और उदित पुँल्लिंगात्मक हैं। सुवर्ग और लोक भी सूर्य्य के ही नाम हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने कहा है:—

उषसे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहोदेष्यते स्वाहोद्यते स्वाहेत्यनुदिते जुहोति।
उदिताय स्वाहा सुवर्गाय स्वाहा लोकाय स्वाहेत्युदिते जुहोति।'

अर्थात् पहिली चार आहुतियाँ सूर्य्योदय के पहिले की जायंगी, शेष तीन सूर्य्योदय के पीछे। यह बात वहीं हो सकती है जहाँ प्रभात और सूर्य्योदय में लंबा अंतर न पड़ता हो। ध्रुवप्रदेश में एक एक मंत्र पढ़कर बहुत बहुत देर तक, कई कई दिनों तक, रुकना पड़ता।

कुछ और मंत्रों में भी तिलक को उषा के त्रिविध भेद का तथा प्रभात के लंबे होने का आभास मिलता है। जैसे ऋग्वेद के आठवें मण्डल के इकतालीसवें सूक्त के तीसरे मंत्र में कहा है:—

तस्य वे नीरनु व्रत मुषस्तिस्रो अवर्धयन।

वरुण के व्रत की कामना करनेवाली प्रजाने उनके लिये तीन उषाओं को अनुवर्धित किया (अनुकूल बनाया)। तीन उषा का अर्थ यदि तीन दिन न करके एक ही प्रभात के तीन रूप माने जायँ तब भी कोई कठिनाई नहीं पड़ती। उदेष्यत् उद्यत् और उदित तो सूर्य्य के रूप हैं परन्तु उषा के भी तीन रूप माने जा सकते हैं। ऋक् १—११३, १४ में कहा है : *अप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः* देवी (उषा) ने रात्रिकृत कृष्णरूप का परित्याग किया। इस प्रकार रात्रि के अन्धकार से ढंका

हुआ पहिला रूप, निकली हुई उषःप्रभा दूसरा रूप और पूरा खिला हुआ तीसरा रूप (व्युष्टि) हुआ। और यह रूप ध्रुवप्रदेश तक बिना गये भी देखे जा सकते हैं। उषा से जल्दी निकलने के लिये कहना भी इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह शिकायत ध्रुवप्रदेश के लंबे प्रभात से की जा रही है।

'माचिरं तनुथा अपः, नेत्वास्तेनं यथारिपुं तपाति सूरो अर्चिषा

(ऋक् ५-७९,९)

हे उषा, देर मत करो, नहीं तो जैसे राजा चोर या शत्रु को तपाता है, वैसे ही सूर्य तुमको अपने तेज से तपा देगा।

ऐसी बात है जो प्रभात से कहीं भी कही जा सकती है। कहीं कहीं उषा के सम्बन्ध में शश्वत् (नित्य, निरन्तर) शब्द का प्रयोग हुआ है. जैसे

शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।

अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥

(ऋक् १-११३,१३)

पुरा (प्राचीन काल में) उषा शश्वत् प्रकाश करती थी, आज भी धनवती उषा जगत् को तमोवियुक्त करे, आने वाले दिनों में भी अन्धकार दूर करे। वह अजरा है, अमृता है, अपने तेजों के साथ विचरती है।

अब 'उषा शश्वत प्रकाश करती थी' का अर्थ यदि यह किया जाय, जैसा कि तिलक कहते हैं, कि बहुत दिनों तक सवेरा रहता था तो फिर आगे के वाक्यों का क्या अर्थ होगा? क्या यह माना जाय कि ऋषि यह चाहता है कि अब फिर दो-दो महीने तक सवेरा—और इसी के साथ दो-दो महीने संध्या तथा चार-चार महीने दिन-रात—रहने लगे? ऐसी प्रार्थना तो कहीं और वेद भर में देखी नहीं गयी। तब फिर यह क्यों मान लिया जाय कि पहिले वाक्य में पूर्व काल की स्मृति है? सीधा अर्थ तो यह है कि प्राचीन काल में उषा बराबर, अर्थात् प्रतिदिन, दर्शन दिया करती थी, और उससे प्रार्थना की जा रही है कि भविष्यत् में भी ऐसा ही करती जाय। इसी प्रकार ऋक् १—११८, ११ में उषा

को शश्वत्तमा—सबसे बढ़कर शश्वत्—कहने का यही अभिप्राय हो सकता है कि उषा बहुत ही नियमपूर्वक, ठीक समय पर, निकला करती है। सायणने इसका दार्शनिक अर्थ किया है। वह कहते हैं कि उषा कालात्मिका है, काल नित्य है, इसलिये उषा को शश्वत्तमा कहा है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ११३ वें सूक्त में उषः सम्बन्धी मंत्र हैं। दसवां मंत्र इस प्रकार है :—

कियात्या यत्समया भवाति या व्युपुर्याश्च नूनं व्युच्छान्।
अनुपूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति।

कब से उषायें प्रकाश करती आ रही हैं और कब तक प्रकाश करती जायंगी? पहिली वालियों की भांति वर्तमान उषा भी काम कर रही है और प्रकाश करती हुई दूसरों के साथ (जो अभी नहीं निकली हैं) जा रही है।

कुछ अंग्रेज विद्वानों ने पूर्वार्ध का अर्थ दूसरे प्रकार किया है। ग्रिफ़िथ के मत से इसका अर्थ है जो उषा प्रकाश दे चुकीं और जो अब प्रकाश देंगी वह कब तक साथ रहेंगी? और म्योर की राय में इसका अर्थ है जो उषा बीत गयीं और जो अब आयेंगी उनके बीच में कितना अन्तर है?

तिलक कहते हैं कि इनमें से कोई भी अर्थ लिया जाय, सब में से यही बात टपकती है कि सवेरे के बाद सवेरा आता जाता था अर्थात बड़ा लंबा प्रभात था, उससे लोग ऊब गये थे। पर ऐसा अर्थ मानने का कोई कारण नहीं है। सीधा सादा अर्थ तो वह है जो सायण के भाष्य में व्यक्त होता है। यदि यह प्रश्न है तो उसका रूप यह है: कब से प्रभात होता आ रहा है और कब तक होता जायगा? अर्थात् सूर्यचन्द्र, दिनरात, कब से हैं, कब तक रहेंगे, दूसरे शब्दों में, जगत् की आयु कब से कब तक है? या यों कहा जा सकता है, कि प्रश्न के रूप में ऋषि कहना चाहता है कि प्रभात दीर्घकाल से होता आता है और दीर्घकाल तक होता रहेगा। यह उषा की प्रशंसा है या उषा को देखकर उठा हुआ दार्शनिक विचार। एक और बात है। यह मंत्र अकेला नहीं है। इस सूक्त में और भी उषः सम्बन्धी मंत्र हैं। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध होना

अनिवार्य है। यह नहीं हो सकता कि वही ऋषि एक मंत्र में एक बात कहे और दूसरे में उसकी विरोधी बात कहे। उसी साथ का छठवाँ मंत्र कहता है :—

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।

विसदृशा जीवताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥

हे उषा, तुमने मनुष्यों को पृथक् पृथक् कामों के लिये जगाया है, कोई धनोपार्जन में लगता है, कोई खेती वाड़ी में, कोई अग्निष्टोमादि यज्ञ में।

अब सोचने की बात है कि क्या यह बातें ध्रुवप्रदेश के लंबे प्रभात के विषय में कही जा सकती हैं? क्या वहाँ लोग लंबी रात में चार महीने सोते रहते हैं? यदि नहीं, तो फिर यह कहना कैसे युक्तिसंगत होगा कि उषा ने उनको विभिन्न कामों में लगने के लिये जगाया?

नीचे लिखे मंत्र को तिलक इस संबंध में बहुत महत्त्व देते हैं :—

तानीदहानि बहुलान्यासन्या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।

यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥

(ऋक् ७-७६,३)

इसका अर्थ यह है कि हे उषः, वह बहुत से *अहानि* थे जिनसे सूर्य के उदय होने के पहिले उषाएं युक्त थीं। उनके साथ वह सूर्य के प्रति इस प्रकार आचरण करती हैं जिस प्रकार कोई स्त्री अपने पति के प्रति करती है (अर्थात् इधर उधर घूमने वाले पति का भी जिस प्रकार भली स्त्री परित्याग नहीं करती) न कि यती (पति से पराङ्मुख स्त्री की भांति)। यहाँ मैंने मूल का 'अहानि' शब्द ज्यों का त्यों छोड़ दिया है, क्योंकि यही विवाद का मूल है। अहानि अह् धातु से निकला है जिसका अर्थ है चमकना या जलना। इसीलिये अह का अर्थ तेज भी हो सकता है और जैसा कि सामान्य बोलचाल में लिया जाता है, दिन भी हो सकता है। सायण ने यहाँ अहानि का, जो अह का बहुवचन है, तेज, प्रकाश, अर्थ किया है। यदि यह अर्थ माना जाय तो इस मंत्र का तात्पर्य यह हुआ कि सूर्य के उदय होने के पहिले उषा बहुत से तेजों से

युक्त चमक रही थी। तिलक अहानि का अर्थ दिन करते हैं। उनके अनुसार मंत्र कहता है कि सूर्योदय के पहिले उषा कई दिनों तक चमकती रही। यदि यह दूसरा अर्थ ठीक हो तव तो अवश्य ही यहाँ पर लंवे ध्रुवप्रभात की ओर संकेत देख पड़ता है। पर अर्थ ठीक न होने के लिये ही पुष्ट कारण मिलते हैं। यह मंत्र भी अकेला नहीं है। इसके साथ भी इससे संवद्ध मंत्र हैं। इसके ठीक पहिले का मंत्र कहता है :—

केतुरुपसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः

ऊँची जगहों से पूर्व दिशा में उषा का केतु (उषा का पता देनेवाला तेज) देख पड़ता है।

यह पुरस्तात् (पूर्व दिशा) शब्द ही तिलक के सारे तर्क को ढहा देता है, क्योंकि ध्रुव प्रदेश में उषा के दर्शन दक्षिण दिशा में होते हैं। इसलिये अहानि का अर्थ दिन न करके तेज ही करना चाहिये, जैसा कि सायण ने किया है। ऐसी दशा में यह साधारण प्रभात का ही वर्णन रह जाता है। नीचे लिखा मंत्र भी, जिसमें तिलक ध्रुव प्रभात का इशारा पाते हैं, साधारण प्रभात का ही व्यञ्जक प्रतीत होता है :—

पर ऋणासावीरधमत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान्वरुण तासु शाधि ॥

(ऋक् २-२८, ९)

हे राजन् वरुण मेरे सव ऋणों को (अथवा पापों को) दूर करो। मैं दूसरों के अर्जित धन न भोगूँ। वहुत सी उषाएं अव्युष्ट हैं। उनमें हम जीवित रहें और भोग पर्याप्त धन से सम्पन्न रहें।

यहाँ 'वहुत सी उषाएं अव्युष्ट हैं' का अर्थ तिलक यह करते हैं कि एक के वाद दूसरी आने वाली कई उषाएं, या यों कहिये कि एक लंवी उषा, अभी व्युष्ट नहीं हुई है। इसके पहिले हम वतला चुके हैं कि पूरी तरह से खिले हुए प्रभात को व्युष्टि कहते हैं। अर्थात् उषा के अव्युष्ट होने का अर्थ है कि अभी अँधेरा है। अतः यदि तिलक का अर्थ ठीक है तो ऋषि इस लंवे प्रातःकाल में जीवित और सम्पन्न

रहने की प्रार्थना कर रहा है। सायण यह अर्थ नहीं करते। वह कहते हैं 'अभी बहुत से प्रभात नहीं खिले हैं।' अर्थात् अभी बहुत से दिन आने वाले हैं। उनके अनुसार ऋषि अपनी भविष्यत् लंबी आयु की बात सोच रहा है और उसी को लक्ष्य करके सुख सम्पत्ति मांग रहा है। यह अर्थ इतना सरल और स्वाभाविक है कि यहाँ दूसरी व्याख्या करना कोरी कष्ट कल्पना है।

वेद में उषा के लिये कई स्थलों में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। कहीं उनको *धृष्णवः* (योद्धाओं) [ऋक् १-९२,१], कहीं *नारीः* [ऋक् १-९२,३], कहीं *अपां न ऊर्मयः* (जल की लहरें) [ऋक् ६४,१], कहीं *अध्वरेषु स्वरवः* (यज्ञ में खम्भे) [ऋक् ४-५१,२], कहीं *मिथो न यतन्ते* (एक दूसरे से लड़तीं नहीं) [ऋक् ७-७६,५] कहा गया है। *उषसः* (उषायें), ऐसा प्रयोग तो बहुत आया है। निरुक्त के अनुसार बहुवचन का प्रयोग आदरार्थक है, सायण कहते हैं कि बहुवचन से उषा काल अधिकारी अनेक देवताओं से तात्पर्य्य है। तिलक कहते हैं कि यह प्रयोग और यह उपमायें निःसन्देह उस लंबे ध्रुवप्रभात के आधार पर हैं जिसकी स्मृति आर्य्यों को अभी भूली न थी। हम इस तर्क से सहमत नहीं हैं। कहीं कहीं बहुवचन आदरार्थक होगा, कहीं उसमें अनेक देवताओं की ओर इशारा होगा, कहीं प्रति दिन आने वाली उषाओं की ओर लक्ष्य होगा। यह जितनी भी उपमायें हैं वह अलग अलग प्रति दिन आने वाले प्रभातों के लिये लागू हो सकती हैं। ध्रुव प्रदेश में जहाँ सब मिल कर एक प्रभात बन जाता है पार्थक्य का ठीक-ठीक अनुभव भी नहीं होता, यहाँ *ऊर्मयः* (लहरों) की उपमा तो दी भी नहीं जा सकती। लहर तो ऐसे आती है कि एक लहर उठी, फिर पानी दब जाता है, फिर दूसरी लहर उठती है। जहाँ उषा, फिर दिन-रात, फिर उषा हो वहाँ तो यह उपमा दी जा सकती है, ध्रुव प्रदेश में तो ऊर्मि नहीं, प्रवाह होता है। जिस मंत्र में ऊर्मि से उपमा दी गयी है उसी के पाँच मंत्र आगे कहा है कि उषा के व्युष्ट होने पर चिड़ियाँ उठ जाती हैं और मनुष्य जाग

पड़ते हैं। यह बात ध्रुव प्रदेश को प्रभात के लिये नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार जिस मंत्र में धृष्णवः (योद्धाओं) से उपमा दी गयी है उसी में कहा है कि *पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते*—उषाएं पूर्व दिशा में सूर्य्य को व्यक्त करती हैं। तथा इसी साथ के नवें मंत्र में उषा को *प्रतीचीचक्षुः*, पश्चिम की ओर मुख किये, कहा गया है। यह दोनों बातें ध्रुव प्रदेश में, जहाँ उषा दक्षिण में रहती है, लागू नहीं होतीं।

तिलक का सब से पुष्ट प्रमाण तैत्तिरीय संहिता के चौथे काण्ड के तीसरे प्रपाठक के ग्यारहवें अनुवाक में मिलता है। यज्ञ की वेदी पर १६ ईंटें रक्खी जाती हैं। इन सब को रखते समय मंत्र पढ़े जाते हैं। सब मंत्र उषः सम्बन्धी हैं, इन ईंटों को भी व्युष्टि इष्टक कहते हैं। इस अनुवाक् में १५ मंत्र दिये हैं। हम इनमें से कुछ को उद्धृत किये देते हैं:—

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा।
वधूर्जजान नवगज्जनित्री त्रय एनां महिमानः सचन्ते॥ १

छन्दस्वती उषसा पेपिशाने समानं योनिमनुसञ्चरन्ती।
सूर्य्यपत्नी विचरतः प्रजानती केतुं कृणवाने अजरे भूरिरेतसा॥ २

ऋतस्य पन्थानमनुतिस्र आगुस्त्रयो धर्मासो अनुज्योतिषाऽऽगुः।
प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका व्रतमेका रक्षति देवयूनाम्॥ ३

चतुष्टोमो अभवद्या तुरीया यज्ञस्य पक्षा वृषयो भवन्ती।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कं युञ्जानाः सुवराभरन्निदम्॥ ४

पञ्चभिर्धाता विदधाविदं यत्तासां स्वसॄरजनयत् पञ्चपञ्च।
तासामु यन्ति प्रयवेण पञ्च नाना रूपाणि क्रतवो वसानाः॥ ५

त्रिंशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतं समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः।
ऋतूँस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः॥ ६

ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषुष्यपामेका महिमानं बिभर्ति ।
सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु धर्मस्यैका सवितैका नियच्छति ॥ १२

ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम् ।
एका सती बहुधोषो व्युच्छस्यजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत् ॥ १५

इसी से सम्बन्ध रखने वाला यह मंत्र भी है :—

न वा इदं दिवा न नक्तमासीदव्यावृत्तं ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन् ता उपादधत ततो वा इदं व्यौच्छद्यस्यैता उपधीयन्ते व्येवास्मा उच्छत्यथो तम एवाप हते । (काण्ड ५, प्रपा: ३, अनु: ४, वर्ग ७)

इन मंत्रों का भावार्थ इस प्रकार है :—

यही वह है जो पहले चमकी; इसमें प्रविष्ट होकर भीतर चलती है (पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अर्थात् क्षितिज के ऊपर अथवा दूसरी उषाओं में प्रविष्ट होकर अर्थात् उनसे मिल कर)। दुलहिन, नवागत माता, ने जन्म लिया है। तीनों बड़े (अग्नि, वायु, सूर्य्य या तीनों वैदिक अग्नियाँ) इसके पीछे चलते हैं। १

छन्दों से (गायत्री आदि छन्द या संगीत) युक्त, शृङ्गार करके, एक ही घर में चलती हुई, जरा रहित, दोनों उषायें, सूर्य्य की पत्नियां, रेतस् से परिपूर्ण (सन्तति उत्पन्न करने वाले द्रव्य से परिपूर्ण), अपनी पताका दिखलाती हुई और अच्छी तरह (अपने मार्ग को) जानती हुई चलती हैं। २

तीनों (कुमारियां) ऋत (जगत् का शाश्वत् नियम) के मार्ग से आयी हैं। तीनों धर्म (गार्हपत्यादि तीनों वैदिक यज्ञाग्नि) उनके पीछे आये हैं। एक (कुमारी) सन्तति की रक्षा करती है, एक ऊर्ज की (बल की) और एक धर्म्मात्माओं के व्रत की। ३

वह जो चौथी थी यज्ञ के दोनों पक्ष हुई, ऋषिगण हुई, वही चतुष्टोम (यज्ञ के समय पढ़े जाने वाले चार विशेष स्तोम-स्तव) हो गयी। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप (चतुष्टोम के छन्द) से काम लेकर वह इस प्रकाश को लायीं। ४

विधाता ने पाँचों के साथ यह किया कि उनमें से प्रत्येक को पांच-पाँच बहिनें उत्पन्न कर दीं, इनके पाँचों क्रतु, (पथ या यज्ञ), विभिन्न रूप धारण करके, एक साथ चलते हैं। ५

तीसों वहिनें, एक ही भण्डा लिये, निष्कृत (नियुक्त स्थान) को जाती हैं। वह ज्ञानयुक्त हैं, ऋतुओं को जन्म देती है। प्रकाशयुक्त, वह छन्दों के वीच (गायत्री आदि छन्दों के साथ, इन छन्दों में कहे गये मंत्रों के वीच) परिगमन करती हैं (चारों ओर जाती हैं, घूमती हैं)। उनको अपना मार्ग विदित है। ६

पहिली उषा ऋत की सन्तति है, एक जलों की महिमा का भरण करती है। एक सूर्य्य के लोकों में रहती है, एक धर्म के लोकों में, एक पर सविता का अधिकार है। १२

ऋतुओं की पत्नी, दिनों की नेत्री प्रजाओं की (या सन्तानों की) माता, यह पहिले आयी है। एक होते हुए भी, हे उषा, तू वहुधा (अनेक होकर) चमकती है, अजरा होते हुए भी सव दूसरी वस्तुओं को वृद्ध कर देती है। १५

संहिता मंत्र का यह अर्थ है।

वह अव्यावृत्त था (उसमें भेद की प्रतीति न होती थी) न दिन था, न रात थी। देवों ने इन व्युष्टियों को (शब्दतः, इन खिले हुए प्रभातों को; भावतः, इन व्युष्टि ईंटों को) देखा। उन्होंने इनको रक्खा। तव वह (उषा) चमक पड़ी। अतः जिस किसी के लिए यह (ईंटें) रक्खी जाती हैं, उसके लिये वह (उषा) चमक पड़ती है, अन्धकार को दूर कर देती है।

इन मंत्रों को वार वार पढ़िये और इनमें से चाहे जैसा अर्थ निकालने का प्रयत्न कीजिये पर यह तो निश्चय रूप से समझ में आ जायगा कि इनमें उषा के विषय को लेकर, उषा की उपमा देकर, कुछ ऐसी वातें भी कही गयी हैं जो भौतिक नहीं हैं, जिनका कुछ आध्यात्मिक अर्थ है। कितना भौतिक है, कितना आध्यात्मिक है इसका निर्णय करना कठिन होता है, इसी से ठीक व्याख्या करने में कठिनाई होती है। एक और वात ध्यान में रखने योग्य है। उषा के साथ ३० की संख्या दूसरे स्थलों में भी व्यवहृत हुई है, जैसे (*त्रिंशत् पदान्यक्रमीत्* (ऋक् ६—५९, ६)—उषा ३० पद चली। तथा

त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति (ऋक् १-१२३, ८)।

इसके अनुसार उषायें ३०-३० योजन घूमती हैं।

पहिले व्युष्टि-इष्टक संबंधी मंत्रों को लीजिये। अवश्य ही ऋषि का ध्यान सृष्टि के आदिकाल की अवस्था की ओर है। उस अवस्था में रात दिन का भेद नहीं था। यह बात वर्तमान विज्ञान भो कहता है और अपने ढंग पर श्रुति भी कहती है। आरम्भ में पृथिवी वाष्पपिण्ड थी। जब धीरे धीरे ठंडी हुई तो ऊपर की भाप जल के रूप में गिरने लगी। गिर कर नीचे की तपन के कारण फिर भाप बन कर उठ जाती थी। धीरे धीरे इतनी ठंडक हुई कि जो भाप जल बन कर नीचे गिरी वह जल रूप में रह गयी। तब जाकर अन्तरिक्ष साफ़ हुआ, अंधेरा दूर हुआ, चन्द्रसूर्य्य देख पड़े, दिन रात का जन्म हुआ। यह तो विज्ञान की बात हुई। वेदों ने अपने ज्ञान को इस प्रकार जगह जगह व्यक्त किया है :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्

(ऋक् १०—१२९, १)

उस समय न असत् था न सत् था, न भूतादि थे, न अन्तरिक्ष था।

न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः (ऋक् १०—१२९, २)

रात और दिन का प्रज्ञान नहीं था।

तम आसीत्तमसागूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्

(ऋक् १०—१२९, ३)

अन्धकार से ढका हुआ अन्धकार पहिले था। यह सारा जगत अपने कारण में विलीन, अथ च, अविभक्त था।

इसी भाव को मनुस्मृति में यों दिखलाया है

आसीदिदं तमोभूतम्, अप्रज्ञातमलक्षणम।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यम्, प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

यह सब जगत् तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, सोया हुआ सा था।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रोअर्णवः समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतोवशी

(ऋक् १०—१९१, २)

सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, तब रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न हुई, उसके पीछे समुद्र हुआ, समुद्र से संवत्सर (संवत्सर बताने वाले सूर्य चन्द्रादि) हुआ तब इस विश्व के स्वामी ने दिन रात की सृष्टि की।

इन वाक्यों से मिलता जुलता ही तैत्तिरीय संहिता का वह मंत्र है जिसमें कहा गया है कि वह अव्यावृत्त था, न दिन था न रात थी। वह अटल नियम जिसके अनुसार यह विश्व चल रहा है ऋत कहलाता है। इसी लिये सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के तप से पहिले ऋत की उत्पत्ति कही गयी है। इसी लिये तैत्तिरीय संहिता के जो मंत्र उद्धृत किये गये हैं उनमें पहिली उषा को ऋत की सन्तति कहा है और उषाओं को ऋत के मार्ग से चलने वाली, अर्थात् विश्व के अटल नियमों की अनुसरण करने वाली, कहा है। उस समय देवों ने यज्ञ किया। कोई बाह्य सामग्री न थी इस लिये उन्होंने विराट् पुरुष से ही मानस यज्ञ किया। पुरुष सूक्त (ऋक् १०—९०) का यही भाव है। पुरुष सूक्त किञ्चित् पाठान्तर के साथ अन्य वेदों में भी आया है। इसी दशम मण्डल के १३० वें सूक्त के ३ रे मंत्र में पूछा है :

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत।

छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥

जब सृष्टि के आदि में देवों ने प्रजापति का यज्ञ किया उस समय प्रमा क्या थी, प्रतिमा क्या थी, निदान क्या था, घी क्या था, परिधि क्या थी, छन्द कौन सा था, प्रउग क्या था, उक्थ क्या था ?

यही सृष्टि के पूर्व यज्ञ करने की बात की ओर तैत्तिरीय संहिता से उद्धृत मंत्रों में भी संकेत है। देवों ने सृष्टि के आदि में यज्ञ किया। वह यज्ञ मानस था। उस यज्ञ के बाद उनको पहिली उषा के, जो ऋत की कन्या थी, दर्शन हुए अर्थात् जो अन्धकार से ढँका अन्धकार था वह कम हुआ, प्रकाश की क्षीण झलक देख पड़ी। इसी प्रकार जो मनुष्य उनका अनुकरण करके अब इस यज्ञ को करेगा, जो मंत्रों को पढ़कर

ईंटों को सजायेगा, उसके लिए उषा चमकेगी, उसका अन्धकार दूर होगा। अन्धकार दो प्रकार दूर होगा। एक तो हृदय के दोष दूर होंगे, हृदय शुद्ध होगा; दूसरे, चूँकि यज्ञ सूर्योदय के पहिले किया जाता था ईंटों को रखते रखते उषा देख पड़ने लगेगी, अंधेरा दूर हो चलेगा। यही इन मंत्रों का तात्पर्य विदित होता है।

यह तो इन मंत्रों का उपासना या यज्ञपरक भाव हुआ परन्तु इसके साथ ही कुछ भौतिक अर्थ भी है। तिलक को इनमें यह बात स्पष्ट ही देख पड़ती है कि यहाँ ध्रुव प्रदेश के किसी ऐसे भाग का वर्णन है जहां एक महीने (३० दिन) का सवेरा होता था। वहीं इन मंत्रों के द्रष्टा रहते होंगे। ३० दिन का सवेरा था इसी लिये उषा ३० वहिनें वतलायी गयी हैं। इसी लिये कहा है कि उषायें घूमती हैं और नियुक्त स्थान पर फिर आ जाती हैं। यह बातें ध्रुवप्रदेश में प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। ए० सी० दास इस मत का खण्डन करते हैं। वह कहते हैं कि यह प्रति दिन की उषा है। एक ही प्रभात के तीस भाग किये गये हैं, पर तीस भाग क्यों किये गये यह उन्होंने नहीं वतलाया। सायण कहते हैं कि पहिली उषा तो सृष्टि के आदि काल की उषा है पर शेष उन्तीस के लिये कोई ऐसी व्याख्या वह नहीं कर सके। अतः उन्होंने यह कहा कि यह महीने के ३० दिनों की तीस उषायें हैं। इस पर तिलक को यह आपत्ति है कि एक ही महीने की उषाओं का वर्णन क्यों हुआ, शेष ग्यारह महीने क्यों छोड़ दिये गये ?

मेरा भी खयाल है कि यहाँ ध्रुव प्रदेश का नहीं, साधारण प्रभातों का, चान्द्र महीने की ३० उषाओं का, वर्णन है। सूर्योदय होने के बाद ही सब यज्ञ होते हैं, उषा काल में तथा उसके बाद यज्ञ के समय अनेक छंदों में अनेक मंत्र पढ़े जाते हैं। इस लिये उषाओं का छन्दों से युक्त होना तथा यज्ञों का उनके पीछे चलना सार्थक है। ऋतुका अर्थ सायण ने यज्ञ ही किया है। तीसों उषायें घूम कर नियुक्त स्थान पर आ जाती हैं, ऐसा कहना भी ठीक है। बारह महीने बाद सूर्य्य और पृथिवी फिर उसी स्थान पर आ जाते हैं। यही निश्चित विन्दु है जहां पर

उषायें अपने परिभ्रमण के बाद पहुँचती हैं। एक बात याद रखने की है। यह वार्षिक सत्र वर्ष के प्रथम दिन, एकाष्टक के दिन, आरम्भ होता था। एकाष्टक का ज़िक्र ८ वें मंत्र में है। इससे भी यह बात निकलती है कि उषायें घूमती घूमती फिर एकाष्टक पर पहुँच जाती हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि बारह महीने या एक वर्ष का नाम कहीं मूल में नहीं आया है, फिर मैंने यह बात कहाँ से निकाली ? यह बात ठीक है कि स्पष्ट रूप से एक वर्ष का कहीं उल्लेख नहीं है पर ध्यानपूर्वक देखने से इसके कई संकेत मिलते हैं। दूसरे मंत्र में उषाओं को सूर्य्यपत्नी—सूर्य की स्त्रियाँ—कहा है। उषा सूर्य की कैसी स्त्री है, इसका एक और मंत्र में, जो इसी अध्याय में आ चुका है, वर्णन है। वह यति-पति से पराङ्मुख-नहीं वरन् पति से स्नेह करने वाली, उससे अभिमुख, पत्नी है। अतः उषा बराबर पति के साथ रहती ही होगी। जब सूर्य्य बारह महीने में घूमकर अपने पूर्व स्थान पर पहुँचता है तो उषा भी ऐसा ही करती होगी। फिर छठें मंत्र में उषाओं को *ऋतूंस्तन्वते* (ऋतुओं को जन्म देने वाली) और पन्द्रहवें में *ऋतूनां पत्नी* (ऋतुओं की पत्नी) कहा है। अब ऋतुओं के साथ पत्नी या माता जैसा घनिष्ट सम्बन्ध किसी एक दिन की उषा का तो है ही नहीं, ध्रुवप्रदेश की एक मास की उषा का भी नहीं है। उस उषा का केवल उस ऋतु से संबंध है जो उस महीने में वहाँ होता है। परन्तु ऋतुपरिवर्तन तो पृथ्वी के सूर्य्य की परिक्रमा करने, या जैसा कि अपने यहाँ कहने का व्यवहार है सूर्य्य का पृथिवी की परिक्रमा करने से होता है। अतः यह तो कह सकते हैं कि उषामात्र का संबंध ऋतुओं से है। यों तो ऋतुपरिवर्तन थोड़ा थोड़ा प्रतिदिन ही होता रहता है और जब सूर्य्य एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाता है तो और भी साफ़ प्रतीत होने लगता है, परन्तु उसकी सरल-गणना महीनों से ही होती है। अमुक अमुक महीने में अमुक ऋतु रहता है, ऐसा कहने की प्रथा आजकल भी है और वेदों में भी मिलती है। अतः मास का सम्बन्ध ऋतु से है। मास के लिये ही तीस उषाओं का ज़िक्र किया है। उषा शब्द दिन का उपलक्षण है। यदि हमने चैत्र

मास की प्रतिपत् से आरम्भ किया था तो सब ऋतुओं में घूमते हुए तीस उषाओं का यह समूह फिर चैत्र की प्रतिपत् पर पहुँच जायगा।

तिलक ने '*परियन्ति*'—घूमती हैं—पर बहुत ज़ोर दिया है। उनका कहना है कि यह ध्रुवप्रदेश की क्षितिज पर घूमने वाली उषाओं की ओर साफ़ इशारा है। अतः यह देखना होगा कि दूसरे स्थलों पर कोई ऐसी बात मिलती है या नहीं जिससे 'परियन्ति' की व्याख्या हो सके और यह निश्चय हो सके कि यह क्षितिज पर का घूमना है या बारह महीनों में आकाश के सत्ताइसों नक्षत्रों में घूमना है या किसी अन्य प्रकार का घूमना है।

हम इसके पहिले ऐसे मंत्र उद्धृत कर चुके हैं जिनमें कहा गया है कि उषा का मुंह पश्चिम की ओर है। यह बात ध्रुवप्रदेश की उषा के लिये नहीं कही जा सकती। फिर ऋक् ३—६१, ३ में उषा को कहा '*ऊर्ध्वा तिष्ठसि*'—तुम आकाश में ऊँचे पर रहती हो। यह बात क्षितिजवर्तिनी उषा के लिये नहीं कही जा सकती। एक और मंत्र में उषा के पूर्व में उदय होने की बात कही गयी है जब कि ध्रुवप्रदेश में उषा दक्षिण में रहती है। फिर ऋक् १—१२३, ८ में कहा है '*सदृशीरद्य सदृशीरिदुश्वा*'—जैसी आज वैसी ही कल (उषायें होती हैं)। यह बात कदापि ध्रुवप्रदेश के किसी भाग की उषा के लिये नहीं कही जा सकती। पहिले दिन उषा धुँधली, दूसरे दिन उससे तेज, तीसरे दिन और तेज़, यहाँ तक कि तीसवें दिन तक बहुत तेज़ हो जाती है। उषःकाल समाप्त होने पर सूर्य्य निकल आता है। अतः वहाँ की उषायें एक दूसरे के सदृश नहीं कही जा सकतीं। हम '*अचेति केतुरुषसः पुरस्ताच्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः*' (ऋक् ७—६७, २) पहिले उद्धृत कर चुके हैं जिसमें सूर्य्य के पूर्व दिशा में देख पड़ने की बात है, अतः उषा भी उसी दिशा में होगी। ऋक् ७—७६, २ भी उद्धृत हो चुका है जो उषा को पूर्व से उदय होना बतलाता है। अतः यह प्रमाण तो यही संकेत करते हैं कि वेद में हमारे देश के साधारण उषःकाल का वर्णन

है तिलक ने 'परियन्ति' की व्याख्या में ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के ६१ वें सूक्त के ३ रे मंत्र का हवाला दिया है। उसमें

'समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्यावव्रृत्स्व'

हे नव्यसि, एक ही मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाली, तुम चक्र (पहिये) की भाँति (उसी मार्ग में) आवृत्त हो।

कुछ सहायता तो '*नव्यसि*' से भी मिलती है। नव्यसी का अर्थ है नयी पैदा हुई। नित्य उदय होने वाली उषा को नयी उत्पन्न होने वाली, नव्यसी, कह सकते हैं परन्तु तिलक कहते हैं कि ध्रुवप्रदेश की उषा एक होते हुए भी प्रत्येक दिन की दृष्टि से नव्यसी कही गयी है। तथास्तु। समानमर्थम्—समान मार्ग, एक ही मार्ग—के दो अर्थ हो सकते हैं। नित्य उदय होने वाली उषा सूर्य्य के आगे आगे चलती है, यही सब उषाओं का समान मार्ग है। तिलक कहते हैं कि ध्रुवप्रदेश की उषायें क्षितिज पर घूमती रहती हैं, यह उनका समान मार्ग है। इसे भी छोड़िये। मंत्र उषा से कहता है कि तुम पहिये की भांति अपने मार्ग पर आरूढ़ हो, अर्थात् घूमती हुई चलो। पहिये का घूमना दो प्रकार से होता है: एक तो कुम्हार की चाक की भांति, दूसरे गाड़ी के पहिये की भांति। तिलक कहते हैं कि पृथिवी पर कहीं भी उषा गाड़ी की पहिया की भांति घूमती नहीं देख पड़ती परन्तु ध्रुवप्रदेश में कुम्हार की चाक की भांति क्षितिज पर घूमती है। अतः यही अर्थ होगा। परन्तु उनका ध्यान एक बात की ओर नहीं गया। इसी मंत्र के पूर्वार्ध में कहा है: *ऊर्ध्वातिष्ठसि*—तुम ऊँचे पर रहती हो। ध्रुव प्रदेश की उषा ऊँचे पर नहीं क्षितिज पर रहती है। इसके विरुद्ध दशम मण्डल के ८९वें सूक्त का २ रा मंत्र सूर्य्य रूपी इन्द्र के पराक्रम के विषय में कहा है कि उन्होंने तारों को '*ववृत्याद्रथ्येव चक्र*' रथ की पहियों की भांति घुमाया। अवश्य ही यहाँ तारों के घूमने की बात है, पर जहाँ तारे इस प्रकार घूमते हैं, वहाँ सूर्य्य भी घूमता है और सूर्य्य के साथ-साथ उषा भी घूमती है। तिलक की आपत्ति यह है कि उषा का घूमना देख नहीं पड़ता। जहाँ उषा निकली थोड़ी देर के बाद

सूर्य्य का प्रकाश उसे दबा देता है। पर उषा का घूमना भी प्रत्यक्ष है। सब जगह एक साथ सूर्य्योदय नहीं होता। पूर्व से पश्चिम चलते हुए देशान्तर रेखा के एक-एक अंश पर चार मिनट का अन्तर पड़ता है। यदि काशी में सूर्य्योदय ठीक ६ बजे हो तो जो जगह काशी से ५° पश्चिम होगी वहाँ सूर्य्योदय ६ बज कर २० मिनिट पर होगा और काशी से ५° पूर्व के स्थान पर काशी के सूर्य्योदय के समय सूर्य्योदय के बाद २० मिनिट हो चुके होंगे। इस प्रकार सूर्य्य ज्यों-ज्यों पूर्व से पश्चिम चलता है, त्यों-त्यों सूर्य्योदय भी चलता है और उसके आगे-आगे उषा भी चलती है। कोई भी स्थान हो, वहाँ पहिले उषा के दर्शन होंगे तब सूर्य्य के। अतः सूर्य्य की भांति उषा भी २४ घंटे में समूची पृथिवी की परिक्रमा करती है। उसकी यह चाल सूर्य्य की चाल के सदृश गाड़ी की पहिया की भांति है। अतः उषा का घूमना उतना ही प्रत्यक्ष है जितना कि सूर्य्य का घूमना।

इस सारे विचार के बाद मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि तैत्तिरीय संहिता में महीने की ३० सामान्य उषाओं का ही वर्णन है।

अबजो *त्रिंशत् पदान्यक्रमीत* (ऋक् ६ - ५९, ६) उषा के तीस पद चलने की बात है वह भी इसी प्रकार समझनी चाहिये। उसी मंत्र में लिखा है कि उषा *अपात्* - बे पाँव की—है, फिर भी इन्द्र और अग्नि की कृपा से इतना चलती है। यहाँ तीस दिन की लंबी उषा मानने की आवश्यकता नहीं है। एक अहोरात्र (दिन-रात) में ३० मुहूर्त होते हैं। उषा के तीस पद चलने का अर्थ है तीस मुहूर्त अर्थात् दिन-रात चलना। वह दिन रात किस प्रकार सूर्य्य के आगे-आगे चलती रहती है यह हम अभी ऊपर दिखला आये हैं। इसी प्रकार *त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि-यन्ति* (ऋक् १-१२३,८)—एक एक उषा ३०-३० योजन घूमती है—की भी व्याख्या करनी होगी। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है कि सूर्य्य मेरु की परिक्रमा में ५,०५९ योजन प्रति दिन चलता और उषा उससे ३० योजन आगे रहती है। जहाँ जहाँ सूर्य्योदय होता है, वहाँ वहाँ

पहिले उषा देख पड़ती है। इसी लिये सब स्थानों का ख़ियाल करके बहुवचन का प्रयोग हुआ है और उषाओं का घूमना कहा गया है। इस पर तिलक की आपत्ति यह है कि मेरु की प्रदक्षिणा करने का अर्थ पृथिवी का धुरी पर घूम जाना। पृथ्वी की परिधि २४,८०० माइल है। अतः ५,०५९ योजन=२४,८०० माइल। इससे एक योजन ४·९ माइल के बराबर हुआ। अतः उषा सूर्य्य से ३० योजन अर्थात् ३०×४·९=१४७ माइल आगे रहती है। परन्तु होता यह है कि जब सूर्य्य क्षितिज से १६° नीचे रहता है तभी उषा देख पड़ती है। जब ३६०°=२४ ८७७ माइल तो १६०=११०५ माइल। इसका अर्थ यह हुआ कि उषा सूर्य्य से ११०५ माइल, अर्थात् लगभग १००० माइल, आगे रहती है। इसमें और सायणोक्त १४७ माइल में तो बड़ा अन्तर है, अतः सायण की गणना अवैज्ञानिक, अथच, निराधार है और उनकी व्याख्या असाधु है। तिलक की अपनी व्याख्या तो यह है कि जहाँ ध्रुव प्रदेश के दृग्विषय का वर्णन है वहाँ ३० दिन का सवेरा होता है। वह कहते हैं कि योजन का अर्थ रथ, उतनी दूरी जितनी एक बार के जुते घोड़े चल सकें, प्रतिदिन का निश्चित मार्ग आदि होता है। वह कहते हैं कि यहाँ यह कहा गया है कि उषायें ३० दैनिक चक्कर पूरा करती हैं। मेरी समझ में सायण ने व्यर्थ लंबी चौड़ी गणना दी। इस मंत्र का इतना ही अर्थ पर्य्याप्त है कि प्रत्येक उषा अपनी निश्चित यात्रा पूरी करती है जो ३० योजन की होती है और योजन का अर्थ मुहूर्त ही करना चाहिये। उषा की यात्रा के ३० नियत टुकड़े हैं, जिनमें से एक एक उस मार्ग के नापने के लिये योजन है।

यह अध्याय काफ़ी लंबा हो गया है पर मैं समझता हूँ कि यह बात भी स्पष्ट हो गयी होगी कि ऋग्वेद में जिस प्रभात का वर्णन है वह सप्तसिन्धव का प्रभात है, ध्रुव प्रदेश के किसी विशेष टुकड़े का प्रभात नहीं।

तेरहवां अध्याय

लंबा अहोरात्र

तिलक कहते हैं कि कुछ प्राकृतिक दृग्विषयों में ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि यदि एक के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण मिल जाय तो दूसरे के लिये किसी नये प्रमाण को ढूँढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यह बात सर्वथा ठीक है। अग्नि और धूम का ऐसा संबंध है कि यदि कहीं धुवाँ उठता देख पड़े तो हम बिना संकोच के कह सकते हैं कि वहाँ कहीं निकट में ही आग भी होगी। दिन देख कर रात और रात देख कर दिन का अनुमान करने में किसी को रुकावट नहीं होती। इसी प्रकार यदि पिछले अध्याय को पढ़ने के बाद किसी को यह विश्वास हो जाय कि ऋग्वेद में जिस प्रभात का वर्णन है वह ध्रुवाधः प्रदेश (ध्रुव प्रदेश से नीचे का प्रदेश) नहीं वरन् ध्रुवप्रदेश का ही प्रभात है तो फिर उसे दूसरा प्रमाण ढूँढ़े बिना ही यह मान लेना चाहिये कि जिन लोगों ने वह प्रभात देखे थे उन्होंने ध्रुवप्रदेश के लंबे दिन रातों का भी अनुभव किया ही होगा। पर जो लोग इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं या जिनको प्रभात-संबंधी प्रमाण ही पुष्ट नहीं जँचते उनके लिये तिलक ने दिन रात के विषय में भी प्रमाण दिये हैं। यह स्मरण रहना चाहिये कि ठीक ध्रुव बिन्दु पर तो दिन-रात छः-छः महीने के होते हैं पर उससे नीचे उतर कर ध्रुव प्रदेश में एक लंबा दिन, जो २४ घंटे से लेकर स्थानभेद से कई महीने तक का हो सकता है, इसी प्रकार की एक लंबी रात, इनके बीच में लंबा प्रभात और लंबी सन्ध्या तथा कुछ साधारण प्रभात-सन्ध्या युक्त साधारण दिन रात जो २४ घंटे से बड़े नहीं होते—यही दृश्य देख पड़ता है। अतः यदि मंत्र-द्रष्टाओं ने लंबी उषाओं की ओर संकेत किया है, तो लंबे दिनरात की ओर भी संकेत किया होगा और स्यात् यह बात भी इशारे इशारे में

कह दी होगी कि उन्होंने उस जगह लंबे और साधारण दोनों प्रकार के अहोरात्र देखे हैं।

अन्धकार और प्रकाश के युद्ध का नाटक मनुष्य बराबर देखता है। वह स्वयं प्रकाश को पसन्द करता है। अन्धकार में चाहे थोड़ी देर तक उसे विश्राम भी मिलता हो पर वह अपने को विवश सा पाता है। प्रकाश में ही उसके सारे व्यापार होते हैं। हजार हजार युक्ति निकाल कर वह अँधेरे को उँजाले में बदलने का प्रयत्न करता है। फिर वैदिक आर्य्यों को तो प्रकाश और भी प्यारा था क्योंकि उनके सारे यज्ञ याग प्रायः प्रकाश काल में ही होते थे। अन्धकार भी कई प्रकार का होता है। कभी थोड़ी देर के लिये कुहिरा, गर्द, बादल आ जाता है। प्रतिदिन रात के समय कुछ घंटों तक अँधेरा रहता है, वर्षा में कभी-कभी कई दिनों तक लगातार अँधेरा छाया रहता है, और एक प्रकार से तो कई महीने तक अन्धकार प्रकाश को दबाये रहता है। तारे, अग्नि, उषा, चन्द्र, सूर्य्य यह सभी प्रकाश देने वाले हैं। वेदों में प्रकाशमान पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ को, प्रकाश देने वाली शक्ति को, उस शक्ति को जो सूर्य्यादि के भीतर विद्यमान है और इनकी प्रेरक है, इन्द्र माना गया है और अन्धकार की शक्ति को वृत्र कहा गया है। इन्द्र और इन्द्रसेना एक ओर, वृत्र और वृत्रसेना दूसरी ओर निरन्तर लड़ते रहते हैं। जीत तो इन्द्र की होती है पर वृत्र लोगों को काफ़ी तंग कर लेता है। यह तो भौतिक जगत् की बात हुई पर अन्तःकरण के भीतर भी सत् और असत् वृत्तियों में, पुण्य और पाप मय भावों में, आशा और निराशा में, उत्साह और चिन्ता में, संघर्ष होता रहता है। पुण्य प्रकाशमय है, पाप अन्धकारमय है। अतः इन्द्र और वृत्र का क्षेत्र केवल भौतिक जगत् तक परिसीमित नहीं है, मानस जगत् में भी है।

इन बातों को ध्यान में रख कर हम लंबे दिवारात्र के प्रमाणों पर विचार करेंगे। तिलक कहते हैं कि ऐसे मंत्र भरे पड़े हैं जिनमें रात से और अँधेरे से घबराहट प्रतीत होती है, यह प्रार्थना की जा रही है कि किसी प्रकार इसका अन्त हो, किसी प्रकार हम इसके पार पहुँच जायँ।

वह कहते हैं कि यह बात ध्रुवाधः प्रदेश की दस-बारह घंटे की रात के विषय में नहीं कही जा सकती। जंगली मनुष्य भी जानते हैं कि रात कुछ घंटों में समाप्त होगी और एक नियत समय के पीछे दिन अवश्य होगा, फिर आर्य्य लोग जिनको ज्योतिष का इतना ज्ञान था एक छोटी सी रात और कुछ घंटों के अँधेरे से क्यों घबराते। यह तर्क तो ठीक है पर यही आक्षेप उनके मत पर भी तो हो सकता है। आर्य्य लोग, यदि वह ध्रुव प्रदेश में रहते थे, तो यह भी तो जानते ही रहे होंगे कि एक नियत समय के बाद, चाहे वह समय कुछ लंबा ही क्यों न हो, दिन अवश्य होगा और उनके ज्योतिष ने उनको यह भी बतला ही दिया होगा कि उस नियत काल के पहिले दिन कदापि न आ जायगा, चाहे कितना भी प्रलाप किया जाय। फिर उनके जैसे समझदार लोग क्यों इतनी घबराहट दिखलाते थे ?

मा नो दीर्घा अभिनशन्तमिस्राः (ऋक् २-२७,१४)—हम को लंबा अँधेरा अभिभूत न कर ले। तिलक कहते हैं कि *दीर्घातमिस्राः* का अर्थ है लगातार आने वाली कई अँधेरी रातें। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। सायणादि ऐसी जगहों में जाड़े की लंबी रात का अर्थ लेते हैं। वह भी हो सकता है या साधारणतः घोर अंधकार से बचाने की प्रार्थना हो सकती है।

सातवें मंडल के ६७वें सूक्त का २रा मंत्र कहता है: *अदृश्रन्तमसः-चिदन्ताः*— अन्धकार के 'अन्ताः' देख पड़ते हैं। सायण के अनुसार 'अन्ताः' का अर्थ है 'प्रदेशाः' अन्धकार के प्रदेश देख पड़ते हैं। तिलक कहते हैं कि इसका अर्थ है सिरे, अन्धकार के सिरे देख पड़ते हैं। उनके मत में यह बात ध्रुवप्रदेश में ही कही जा सकती है। मैं इस तर्क को नहीं समझ पाया, चाहे *अन्ताः* का कुछ भी अर्थ हो, इसमें ध्रुव प्रदेश की तो कोई बात नहीं है, हाँ उसके विरुद्ध एक बात है। इसी मंत्र की दूसरी पंक्ति में कहा है '*अचेति केतुः पुरस्तात् [illegible]*' सूर्य्य पूर्व-दिशा में देख पड़ता है, जो कि ध्रुव प्रदेश में असम्भव है।

दशम-मण्डल के १२७वें सूक्त को रात्रि सूक्त कहते हैं। इसका ६ठां मंत्र रात्रि से कहता है *अथानः सुतरा भव*—हमारे लिये सुतर (सुगमता से पार जाने योग्य) हो। इसके परिशिष्ट में कहा है *भद्रे पारमशीमहि, भद्रे पारमशीमहि*—हम उस पार पहुँच जायँ, हम उस पार पहुँच जायँ। तिलक कहते हैं कि यह प्रार्थना लंबी ध्रुव प्रदेशीय रात के विषय में ही की जा सकता है पर इसका निर्णय इस सूक्त में ही हो जाता है। ६वें मंत्र के अन्त में यह शब्द आये हैं *अथा नः सुतरा भव* जिनके अर्थ के सम्बन्ध में विवाद है। हम ५वां, और ६वां मंत्र पूरे पूरे देते हैं :—

निग्रामासो अविक्षत निपद्वन्तो निपक्षिणः।

निश्येनासश्चिदर्थिनः॥

यावया वृक्यं वृकं यवस्तेनमूर्म्ये।

अथा नः सुतरा भव॥

(ऋक् १०—१२७, ५ व ६)

सब लोग सो रहे हैं, पाँव वाले गऊ घोड़ा आदि पशु, चिड़ियाँ तथा शीघ्रगामी श्येन (बाज़ चिड़िया) सो रही हैं।

हमसे भेड़ियों को दूर करो, चोरों को दूर करो, हे रात्रि हमारे लिये सुतर हो।

यह तो ध्रुवप्रदेश में होता नहीं कि पशु, पक्षी और मनुष्य कई महीनों तक सोते रहें, अतः यह साधारण रात का ही वर्णन है, उसी के पार जाने की प्रार्थना है।

पर इस प्रार्थना करने की आवश्यकता पड़ी ही क्यों? चोर भेड़ियों का ही डर था या कुछ और। तिलक कहते हैं कि तैत्तिरीय संहिता से इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उसमें एक जगह आया है *चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय* (तैः संः १, ५, ५, ४)—हे चित्रावसु, हम कुशलपूर्वक तुम्हें पार कर जायं। थोड़ा आगे चलकर संहिता ने स्वयं इस मंत्र का अर्थ बतला दिया है : *रात्रिर्वैचित्रवसुरव्युष्टयै वा एतस्यै पुरा ब्राह्मणा अभैषुः* (तैः संः १, ५, ७, ५)—चित्रवसु रात्रि है। प्राचीन

काल में ब्राह्मण डरते थे कि व्युष्टि न होगी (अर्थात् सवेरा न होगा)। सायण इस डर को इस प्रकार समझाते हैं : *हेमंततौ रात्रेर्दीर्घत्वेन प्रभातं न भविष्यत्येवेति कदाचिद् ब्राह्मणा भीता:*– हेमंत ऋतु में रात के लम्बी होने से कदाचित ब्राह्मण डरते थे कि प्रभात न होगा। इस पर तिलक की आपत्ति यह है कि हेमंत की रात कितनी भी लंबी हो, उस समय के लोग जानते थे कि उसका अन्त होगा और सवेरा होगा। यह घबराहट तो ध्रुवप्रदेश में ही हो सकती थी। तैत्तिरीय संहिता आज से लगभग ४,५०० वर्ष पूर्व की है। उस समय ऐसी जनश्रुति रही होगी कि किसी समय में रात बड़ी लंबी होती थी और लोग उससे घबरा उठते थे। इसीलिये कहा है कि *पुरा*–प्राचीन काल में ब्राह्मण डरते थे।

अब जहाँ तक डरने की बात है, मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि ध्रुव-प्रदेश की रात से डरना उतना ही पागलपन था जितना कि जाड़े की रात से। दोनों की लंबाई का परिज्ञान था, दोने के बाद सवेरा होना अनुभव का प्रत्यक्ष विषय था। पर विचारणीय बात यह है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण ही क्यों डरते थे ? उनको तो ज्योतिष का ज्ञान था, अत: सबसे निडर होना चाहिये था। यह ब्राह्मण शब्द ही इस मंत्र के अर्थ समझने की कुंजी है। ब्राह्मणों को जागरण करना पड़ता था ताकि प्रभात होते ही, उषा का प्रथम दर्शन होते ही, दैनिक यज्ञ आरम्भ किया जाय। यह तो हो ही नहीं सकता कि वह लोग कई महीने की लंबी रात में बराबर जागते रहे हों परन्तु साधारण रातों में जागना सम्भव था। यदि वह सो जायं तो प्रात:क्रिया, चाहे वह अपने घर की जाय चाहे यजमान के यहाँ, भ्रष्ट हो जाय। अत: उन्हें बराबर सतर्क रहना पड़ता था। अत: उनका घबरा उठना, और यह कह उठना कि 'हे भगवति रात्रि, तुम किसी तरह समाप्त हो' स्वाभाविक था। आज भी जिसको रात भर जागना पड़ता है वह कह उठता है कि भगवान्, इस रात का कभी अन्त होगा या नहीं। संहिता ने जो यह कहा है कि *पुरा*—प्राचीन काल—में—इसका स्पष्ट भाव यह है कि जब इस संहिता का निर्माण हुआ उस समय इस सत्र की प्रथा उठ गयी थी। इस संहिता का काल यदि ऋग्वेद

से ४०००-५००० वर्ष पीछे का है तो इसमें कोई असम्भव बात नहीं है। ऐसे बहुत से वैदिक सत्र थे जो पीछे से अप्रचलित हो गये। इस पुरा के गर्भ में ध्रुवप्रदेश में निवास की स्मृति नहीं, नित्य रात भर के जागरण के पीछे प्रातःकाल किये जाने वाले सत्रों के प्रचलित रहने के काल की स्मृति भरी है।

एक मंत्र में तिलक को ध्रुवप्रदेश के दोनों प्रकार के दिनों—लंबे दिन और साधारण २४ घंटे वाले दिन—का संकेत मिला है। वह मंत्र इस प्रकार है :—

नाना चक्राते यम्या वपूंषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत् ।
श्यावीच यदरुषीच स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥

(ऋक् ३—५५, ११)

यमज जोड़ी (साथ पैदा हुए, जोड़ुआँ) नाना वपु धारण करती हैं, उनमें एक चमकती है, दूसरी कृष्णवर्ण है, साँवली और गोरी दोनों बहिनें हैं, यह देवों का एक (मुख्य) असुरत्व (देवत्व) है।

इस मंत्र में अहोरात्र—दिन रात का वर्णन है। *नाना वपु* का अर्थ सायण ने शुक्ल कृष्णादि रूप किया है पर इसपर तिलक का आक्षेप ठीक है कि दो ही तो दिन रात के रंग होते हैं, हरे पीले नीले दिन रात तो होते नहीं फिर *नाना* कहना निरर्थक है और शुक्ल कृष्ण के साथ आदि जोड़ने से कोई अर्थ नहीं बनता। इस लिये *नाना वपु* का अर्थ दिन रात की लंबाई को ध्यान में रखकर करना चाहिये। मैं भी इससे सहमत हूँ। पृथिवी पर भिन्न भिन्न स्थानों में अहोरात्र की लंबाई में बड़ा अन्तर है और एक ही स्थान में ऋतुभेद से अन्तर पड़ता रहता है। अतः एक विषुवत् रेखा को छोड़कर दिन रात को नाना वपुधारी कहना ठीक ही है। अब विवादग्रस्त विषय आता है। तिलक कहते हैं कि *एक चमकती है, दूसरी कृष्ण है* तथा *साँवली और गोरी दोनों बहिनें हैं*, यह दो वाक्य क्यों कहे गये ? यह तो एक ही बात दुहरा दी गयी, जो कुछ ठीक नहीं लगता। अतः दोनों पंक्तियों के अर्थ में कुछ भेद होगा। वह दिखलाते हैं कि वेदों में दिन रात के लिये कई शब्द आये हैं। जैसे कहीं

कहीं *उषासानक्ता* (उषा और रात) का प्रयोग हुआ है और कहीं कहीं *अहनी* का प्रयोग हुआ है, यद्यपि साधारणतः अहः का अर्थ दिन होता है। अब इन दोनों प्रयोगों में कोई भेद है या नहीं अर्थात् दोनों एक ही प्रकार के दिन रात हैं या दो प्रकार के ? तिलक का निजी मत है कि जब दो पृथक् पृथक् शब्द हैं तब उनका वाच्यार्थ भी पृथक् ही होगा। अतः इनमें से एक तो साधारण २४ घंटे वाला अहोरात्र होगा, दूसरा कई महीने वाला लंबा दिन-रात। ऊपर दिये गये मंत्र में भी इन्हीं दोनों प्रकार के दिन रातों का जिक्र है, और यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे दो प्रकार के अहोरात्र ध्रुवप्रदेश में ही देखे जा सकते हैं।

यह सारा तर्क असन्तोषकर है। पहिले तो यदि वेद मंत्र में एक ही भाव दो वाक्यों में कहा गया तो इसमें कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। फिर यह भी कोई बात नहीं है कि जब *उषासानक्ता* और *अहनी* दोनों शब्दों का अर्थ दिनरात है तो उनसे दो विभिन्न प्रकार के दिनरातों की ओर लक्ष्य है। एक भाषा में अनेक समानार्थक शब्द होते हैं। क्या ऐसा माना जाय कि वारि, जल, आपः, से तीन विभिन्न प्रकार के पानियों का तात्पर्य्य है ? पर यदि दोनों नाम एक ही साथ आयें तब क्या होगा, जैसे *उभे यथा नो अहनी निपात उषासानक्ता करतामदब्धे ?* (ऋक् ४-५५,३) यहाँ *उषासानक्ता* और *अहनी* दोनों से रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है। तिलक तो यही कहते हैं कि यहां दोनों प्रकार के दिनरातों की ओर संकेत है पर इस निराधार कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। अह शब्द के कई अर्थ होते हैं। यह अह् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। सायण ने इस मंत्र में अहन का अर्थ द्यावापृथिवी किया है। यह वैदिक व्यवहार के अनुकूल है। यहाँ द्यावापृथिवी और उषासानक्ता (दिन-रात) से रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है। अतः जब कहीं स्पष्ट जिक्र नहीं मिलता तो एक जगह दिन रात का दो वाक्यों में वर्णन देख कर यह मान बैठना कि वहाँ दो प्रकार के दिन रातों की ओर संकेत है कुछ ठीक नहीं जँचता।

अब एक प्रमाण लंबे दिन का भी देखना है जो नीचे लिखे मंत्र में मिलता सा प्रतीत होता है:—

वि सूर्य्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।

दृह्लानि पिप्रो रसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्विना॥

(ऋक् १०-१३८,३)

सूर्य्य ने आकाश के बीच में अपने रथ को मुक्त कर दिया; आर्य्य ने दास के लिये प्रतिक्रिया की। इन्द्र ने मायावी असुर पिप्रु के दृढ़ दुर्गों को ऋजिश्विन के साथ मिल कर गिरा दिया।

यहाँ *रथ को मुक्त कर दिया* का अर्थ सायण ने यह किया है कि सूर्य्य ने लगाम ढीली कर दी, ताकि घोड़े खुल कर चल सकें। यह अर्थ ठीक जँचता है। यदि दास या असुर ने अन्धकार उत्पन्न करके सूर्य्य की गति अवरुद्ध कर दी थी तो इसका प्रतिकार भी यही होगा कि अवरोध हटा दिया जाय और सूर्य्य का रथ चलने लगे। तिलक यह अर्थ करते हैं कि सूर्य्य ने घोड़ों को खोल दिया, बीच आकाश में रथ खड़ा कर दिया और इससे यह तात्पर्य्य निकालते हैं कि दिन बहुत लंबा हो गया। इस अर्थ की अनुपयुक्तता इतने से ही सिद्ध हो जाती है कि दिन चाहे कितना भी लंबा हो पर ध्रुवप्रदेश में भी सूर्य्य आकाश में टिकता नहीं, बराबर घूमता रहता है। इसलिये साधारण अर्थ को परित्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जिस अँधेरे से बचने के लिये प्रार्थना की जाती है और जिस प्रकाश की याचना की जाती है वह भौतिक अँधेरा-उजाला, रात-दिन तो हैं ही पर कहीं कहीं यह शब्द पुण्य-पाप, अधर्म्म-धर्म्म के लिये भी आते हैं। ऋग्वेद के दूसरे मंडल के २७ वें सूक्त के १४ वें मंत्र में *दीर्घाः तमिस्राः* से बचने की प्रार्थना है। इनका सीधा अर्थ तो दीर्घ अन्धकार ही है पर बहुवचन प्रयोग से तिलक *लंबी रातें* ऐसा अर्थ करते हैं। अब इसी के आगे पीछे के मंत्रों को देखने से पता चलता है कि यहाँ धर्म्माधर्म्म का प्रसंग है: प्रार्थी पाप के अन्धकार से बचकर पुण्य के प्रकाश में जाना चाहता है। पाँचवें मंत्र में आदित्य, अर्य्यमा,

मित्र और वरुण से कहा गया है कि यदि आप रक्षा करें तो *परिश्व-भ्रेवदुरितानिवृज्याम्*—मैं पापों को, जो गड्ढों की भांति मार्ग में है, त्याग दूं। नवां मंत्र कहता है :

त्रीरोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः ।

अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय ॥

दिव्य, सुन्दर आभूषणों से युक्त, पवित्र, निरन्तर जागनेवाले, पलक न मारने वाले, निर्मल, अहिंसित आदित्य धर्म्मात्मा मनुष्य के लिये तीनों प्रकाशमान लोकों को धारण करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ भूमंडल के किसी प्रदेश विशेष की रात का या उसके बाद आनेवाले दिन का चर्चा नहीं है, पाप से बचकर दिव्य लोकों में जाने की आकांक्षा व्यक्त की जा रही है।

चौदहवां अध्याय

मास और ऋतु

यदि वैदिक आर्य्य कभी ध्रुव प्रदेश में रहते थे तो ऋग्वेद में उनके मास और ऋतु विषयक अनुभव भी मिलने चाहियें। जैसे, उदाहरण के लिये मान लीजिये कि कुछ लोग ध्रुवप्रदेश के ऐसे भाग में रहते थे जहाँ एक महीने तक सवेरा रहता था। उन लोगों ने ३० दिन के प्रभात के साथ साथ लगभग सात महीने तक लगातार दिन भी देखा होगा और इन दोनों दृग्विषयों का कुछ न कुछ वर्णन कर गये होंगे। तिलक के अनुसार दोनों बातें ऋग्वेद में मिलती हैं। हम ३० दिन के प्रभात संबंधी प्रमाणों का तो अनुशीलन कर चुके हैं, अब दूसरी बातों के संबंध में जो प्रमाण दिये जाते हैं उनको भी देखना आवश्यक है।

सूर्य्य को प्राचीन काल से ही सप्ताश्व (सात घोड़ों वाला) मानते आये हैं। अथर्ववेद में सूर्य्य की सात चमकीली किरणों का जिक्र है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ५०वें सूक्त के ८ वें मंत्र में कहा है कि सूर्य्य के रथ में सात घोड़े हैं, इसके बाद के ९ वें मंत्र में कहा है कि सूर्य्य अपने रथ में सात घोड़ियों को जोत कर चल रहे हैं, पर इसी मंडल के १६४ वें सूक्त का २ रा मंत्र कहता है :

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा

एक पहिये का रथ है, उसमें सात घोड़े लगे हैं (या यों कहिये कि) सात नामों वाला एक घोड़ा जुता है।

सूर्य्य के साथ इस सात की संख्या का कोई विशेष संबंध है। ऋक् ९-११४, ३ में कहा है कि सात सूर्य्य हैं। अदिति की कथा ने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। दशम मण्डल के ७२ वें सूक्त में अदिति दाक्षायणी ने देवों के जन्म की कथा स्वयं कही है। यह कथा तो वहां से आरम्भ होती है जहां *देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत-*

देवों के पूर्व युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। चौथे मंत्र में कहा है कि अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए और फिर दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। इसका चाहे जो कुछ अर्थ हो, ५ वां मंत्र कहता है कि अदिति से देवगण उत्पन्न हुए। ८ वां और ९ वां मंत्र सूर्य्य का ज़िक्र करते हैं:—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जाता स्तन्वस्परि।
देवां उपप्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत्पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥

अदिति को जो आठ लड़के हुए उनमें से सात को लेकर वह देवों के पास गयी। आठवें मार्ताण्ड को उसने ऊपर फेंक दिया।

सात लड़कों के साथ अदिति पूर्व युग में पास गयी। जन्म और मरण के लिये मार्ताण्ड को रक्खा।

अदिति के आठों लड़कों के नाम तैत्तिरीय आरण्यक में इस प्रकार बताये गये हैं: मित्र, वरुण, धाता, अर्य्यमा, अंश, भग, इन्द्र और विवस्वान्। पहिले सात आदित्य कहलाते हैं, आठवें विवस्वान् का नाम मार्तण्ड भी है। इनके दूसरे नाम आरोग, भ्राज, पटर, पतंग, स्वर्णार, ज्योतिषीमान्, विभास और कश्यप भी दिये गये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में बतलाया गया है कि आठवें लड़के का मार्ताण्ड नाम इस लिये पड़ा कि वह मरे (कच्चे या बिगड़े हुए) अण्डे से उत्पन्न हुआ।

साधारणतः वैदिक भाषा में मित्र, भग, अर्य्यमा, आदित्य, सूर्य्य, विवस्वान् पर्य्यायवाची समझे जाते हैं। लौकिक संस्कृत में भी आदित्य, सूर्य्य, रवि, मार्तण्ड, विवस्वान् का एक ही अर्थ लगाया जाता है। यदि यह व्याख्या वेदसम्मत है तब तो अदिति के उपाख्यान का अर्थ यह हुआ कि अदिति के सन्तानों में आठ सूर्य्य हुए। उनमें सात तो देवों के पास पहुँचाये गये, एक सूर्य्य इस योग्य नहीं समझा गया।

तिलक सूर्य्य-संबंधी इन बातों के बारे में यह तर्क करते हैं कि ध्रुव —प्रदेश के उस भाग में जहां आर्य्यगण रहते थे सात महीने तक दिन

रहता था। इसी लिये सात आदित्य—एक-एक महीने का एक-एक आदित्य—गिनाये गये हैं। यह महीने उँजाले थे, इनमें यज्ञयागादि होते थे, अतः इन आदित्यों को देवों के समीप पहुँचा बतलाया गया है। इनके बाद जो अँधेरा समय आता है उसका अधिष्ठाता आठवां सूर्य्य है, जो देव समाज से दूर रक्खा गया। इसी कारण सूर्य्य के सात घोड़े बतलाये गये हैं। न्यूटन ने सूर्य्य के प्रकाश का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया कि श्वेत रंग सात रंगों के योग से बनता है परन्तु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि प्राचीन ऋषि इस बात को जानते थे। सात आदित्य एक एक महीने से संबद्ध हैं, ऐसा मानने का यह भी कारण है कि आज कल द्वादश आदित्य माने जाते हैं, जो एक एक मास के अधिष्ठाता हैं। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण (११, ६, ३, ८) में कहा है:

कतम आदित्या इति। द्वादश मासा संवत्सरस्यैत आदित्याः

कितने आदित्य है? वर्ष में बारह महीने होते हैं, यही आदित्य हैं।

यह जो कहा गया है कि 'पूर्व युग में ऐसा हुआ' इस मत को और भी पुष्ट करता है। नवें मंडल के ६३ वें सूक्त के ९ वें मंत्र में सूर्य्य के दस घोड़ों का उल्लेख है। सम्भवतः यह किसी ऐसी जगह की स्मृति है जहां दस महीने तक लगातार उँजाला रहता था।

पर यह तर्क इस आधार पर ही ठहरा हुआ है कि आदित्य और सूर्य्य एक ही वस्तु है। परन्तु ऋग्वेद में ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि दोनों में भेद हैं। जैसे

सप्तदिशो नाना सूर्य्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्ष न इन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

(ऋक् ९—११४, ३)

सात दिशायें हैं, नाना सूर्य्य हैं, सात यज्ञ करने वाले हैं, सात आदित्य देव हैं, हे सोम इन सबके साथ हमारी रक्षा करो, हे इन्दु इन्द्र के लिये तुम टपको (अर्घादि की वृष्टि करो)

यहाँ सायण का कहना है कि दिशायें यों तो आठ हैं पर जिस

दिशा में सोम होता है उसको छोड़कर सात ही गिनायी गयी हैं और नाना ऋतुओं के अधिष्ठाता होने के कारण सूर्य्य को नाना कहा है। अस्तु, पर यहाँ नाना सूर्य्य और सात आदित्य एक ही मंत्र में गिनाये गये हैं, इससे तो आदित्य और सूर्य्य में भेद जान पड़ता है।

संध्या करने वाले नित्य ही इस मंत्र का पाठ करते हैं :—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्यवरुणस्याग्नेः ।
आप्राद्यावापृथिवीअन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

(ऋक् १—११५, १)

देवों के तेज का समूह, मित्र, वरुण और अग्नि की आँख, विचित्र रूप से उदय हुआ ; उसने आकाश पृथिवी और अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लिया, सूर्य्य चराचर दोनों का आत्मा है।

इस मंत्र में सूर्य्य को मित्र वरुण और अग्नि की आँख कहा है। मित्र और वरुण आदित्यों में हैं। अतः सूर्य आदित्यों से भिन्न माना गया। इसी के चार मंत्र आगे, पाँचवें मंत्र में, कहा है :—

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्य्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।

मित्र और वरुण के सामने सूर्य्य आकाश के मध्य में प्रकाशमान रूप दिखलाता है।

यहाँ भी वही पार्थक्य वाली बात प्रकट होती है। और भी ऐसे कई मंत्र हैं, यथा

यदद्यसूर्य्य ब्रवोऽनागा उद्यन्मित्राय वरुणाय

(ऋक् ७—६०, १)

यदि हे सूर्य्य तुम उदय होकर मित्र और वरुण से हमारे विषय में कह दो कि यह लोग निष्पाप हैं।

यहाँ भी वही भेद की बात स्पष्ट है। निम्न-लिखित मंत्र तो और भी स्पष्ट है :—

उद्वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थुरा सूर्य्यो अरुहच्छुक्रमर्णः ।
यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्य्यमा वरुणः सजोषाः ॥

(ऋक् ७—६०, ४)

हे मित्रावरुण, तुम्हारे लिये मधुयुक्त अन्नादि (पुरोडाश) तैयार है और सूर्य्य प्रदीप्त अर्णव (समुद्र—यहाँ अन्तरिक्ष) पर चढ़ रहा है, जिसके चलने के लिये समान प्रेम करने वाले आदित्य, मित्र अर्य्यमा और वरुण, मार्ग खोदते हैं।

इसके बाद आदित्य और सूर्य्य ये पृथकत्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

सूर्य्य तो जगत का प्रकाशक है ही परन्तु आदित्यगण कैसे हैं, यह बात इन मंत्रों में बतलायी गयी है :—

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः॥

(ऋक् २—२७, २)

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमाचिदन्ति॥

(,, — ,, , ३)

धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि॥

(,, — ,, , ४)

आज इस स्तोत्र को समान क्रतु (प्रज्ञा या कर्म्म वाले) आदित्य मित्र अर्यमा वरुण स्वीकार करें। वह पवित्र, निर्मल, पापरहित, सब पर अनुग्रह करने वाले, अहिंसित हैं।

वह आदित्य महान्, गम्भीर, शत्रुओं से अजित, शत्रुओं को जीतने वाले, भूरिअक्ष (बहुत सी आँख वाले या बहुत तेज वाले) हैं। मनुष्यों के भीतर के पाप और पुण्य को देखते हैं, सब दूर से दूर की बातें इन राजों के लिये समीपवर्ती हैं।

आदित्यगण स्थावर और जंगम जगत् को धारण करते हैं, सारे भुवन के रक्षक हैं। दीर्घधी (दीर्घ ज्ञान अथवा कर्म्म वाले), जीवों के प्राणों के हेतु-भूत, ऋतावान (सत्यवान अथवा यज्ञवान), (उपासकों के) ऋणों को दूर करने वाले हैं।

यह बातें भौतिक सूर्य्य के लिये नहीं कही जा सकतीं। अदिति के

सातों पुत्र आदित्य जिनको वह देवों के पास ले गयी अर्थात् जो देव-श्रेणी में हैं इस दृश्य सूर्य के प्रेरक हैं। उनसे ही इसको तेज प्राप्त होता है, उन्होंने ही इसका मार्ग निश्चित किया है। वह स्वयं ऋत—सनातन विश्वनियम—के वशवर्ती हैं परन्तु इस इतने बन्धन को छोड़कर अन्य देवों की भांति स्वतंत्र हैं। उनका आठवाँ भाई उनकी आज्ञा में रहता है। ए० सी० दास ने दिखलाया है कि पारसियों का भी कुछ ऐसा ही विश्वास है कि सूर्याभिमानी देव मिथ्र ने प्रकाश के देव (दृश्य सूर्य) उर्मज्द और रात्रि के देव अहिमन की सृष्टि की।

अदिति का आठवाँ लड़का मार्तण्ड जन्म और मरण—मूल में, *प्रजायै* और *मृत्यवे*—के लिये छोड़ दिया गया, इसका क्या तात्पर्य्य है? इसका दो प्रकार अर्थ लगाया जा सकता है। दृश्य सूर्य कभी अँधेरे से अभिभूत हो जाता है, नित्य ही कई घंटों तक दृष्टि से ओझल हो जाता है। ऋतुओं के क्रम से उसके ताप और प्रकाश में वृद्धिह्रास होता रहता है, अतः वह अक्षय नहीं है, अदब्ध (शत्रुओं से अहिंसित) नहीं है, इसलिये देवश्रेणी में उसकी गिनती नहीं हो सकती। दूसरी बात और है। मूल में जो *प्रजायै* आया है उसका अर्थ हुआ सन्तान के लिये। इसी प्रकार *मृत्यवे* का अर्थ है मृत्यु के लिये। अदिति ने अपने आठवें लड़के मार्तण्ड को सन्तति और मृत्यु के लिए छोड़ा। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि मार्तण्ड का ही नाम विवस्वान् है और विवस्वान के एक लड़के वैवस्वत मनु हुए जो मानव प्रजा के पितामह हुए, उनके एक और पुत्र यम हुए जो यमलोक के अधिष्ठाता हैं। यम के नाम काल, अन्तक, मृत्यु भी हैं। इन कारणों से भी मार्तण्ड अपने और भाइयों से, जो दिव्य और अदृश्य देहधारी हैं, पृथक् हैं।

जब आदित्यों का दृश्य सूर्य्य से पृथक् होना सिद्ध है तब फिर सात आदित्यों से सात महीनों का अनुमान लगाना अनुचित है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि आदित्य सात ही क्यों हैं? सूर्य्य के लिये नाना सूर्य्याः प्रयोग क्यों आया? सूर्य्य के सात किरणें या उनके रथ में सात घोड़े क्यों बताये गये? इन प्रश्नों पर यदि अधिदैव दृष्टि

से विचार किया जाय तब तो यह उत्तर हो सकता है कि आदित्यों की संख्या सात इस लिये बतलायी गयी कि वस्तुतः वह सात हैं। इन्द्र एक है इसलिये एक ही बताया गया। जो योगी हो वह इस बात की जाँच करले कि सचमुच आदित्यवर्ग के देव हैं या नहीं और यदि हैं तो कितने हैं। यह भी हो सकता है कि एक एक आदित्य भूः भुवः, स्वः, महः जनः, तपः, सत्य इन सात लोकों में से एक एक का अधिष्ठाता हो। ऋक् २—२७, ८ में कहा है *तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीं रुतद्यून्*—(आदित्य गण) तीनों भूमियों को और तीनों दीप्तिमान लोकों को धारण करते हैं। सायण तीनों भूमि से भूः आदि तीन नीचे के लोक और तीन दीप्तिमान लोकों से महरादि तीन लोकों को लेते हैं। यदि छः लोकों पर आदित्यों का अधिष्ठान है तो सातवें पर भी होगा ही। जैसे इसी सूक्त के पहिले मंत्र में सात में से छः आदित्यों के नाम गिनाये गये हैं परन्तु सारे सूक्त में आदित्यों का ही स्तवगान है। कहीं कहीं केवल मित्र, वरुण और अर्य्यमा के नाम आये हैं। इन सब स्थलों पर यह समझा जाता है कि जो नाम आये हैं वह उपलक्षण मात्र हैं, तात्पर्य्य सातों आदित्यों से है। इसी प्रकार यद्यपि यहां छः लोकों का ही उल्लेख आया है पर समझना चाहिये कि आदित्यों का सातों लोकों पर अधिकार है। एक लोक पर एक का विशेषाधिकार स्पष्टतया कहा नहीं गया है, यह एक अनुमान भर है। हम वह मंत्र (ऋक् ९—११३,२) उद्धृत कर चुके हैं जिसमें कहा गया है कि दिशाएं सात हैं और आदित्य देव सात हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि एक एक आदित्य का एक एक दिशा से सम्बन्ध है। ऋक् १—१६४,१५ में कहा है कि दो दो मास वाले छः ऋतु देवज हैं और सातवें ऋतु में जो एक महीने के अधिक मास में लगता है देवाभाव है। परन्तु इन सातों ऋतुओं को *साकज*—एक ही साथ उत्पन्न हुए, एक ही देव आदित्य से उत्पन्न हुए—कहा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि एक एक आदित्य का एक एक ऋतु पर अधिकार है।

सूर्य्य का *नानात्व* समझना तो बहुत कठिन नहीं है। यह स्मरण

रखना चाहिये कि उस मंत्र में दिशाओं को सात, ऋत्विजों को सात, आदित्यों को सात कहा पर सूर्य्य को सात न कह कर *नाना* कहा। इसका अभिप्राय यही विदित होता है कि वह एक होता हुआ भी अपनी गति के कारण हमको अनेक सा प्रतीत होता है। बारह महीनों या बारह राशियों में घूमने के कारण उसकी संख्या १२ कही जा सकती है, साल भर में २७ नक्षत्रों में घूम आता है इस लिये २७ भी कह सकते हैं, प्रत्येक दिन को सामने रख कर ३६५ सूर्य्य कहना भी युक्त हो सकता है।

सूर्य्य किरणों के सात रंगों या सूर्य्य के सात घोड़ों के विषय में दास तो कहते हैं कि इन्द्र धनुष में, पानी के बुद्बुद में, या शीशे के टुकड़े में सूर्य्य के प्रकाश के अंगभूत सात रंग देखे जा सकते हैं अतः प्राचीन आर्य्यों को इस बात का न्यूटन के प्रयोग के पहिले ही पता रहा होगा। ऐसा होना असम्भव नहीं है। हो सकता है कि वह लोग जानते रहे हों कि श्वेत रंग के विश्लेषण से सात रंग निकलते हैं और इनके पुनः मिलने से श्वेत रंग बन जाता है और इसी लिये सूर्य्य के साथ सात की संख्या बराबर जोड़ देते हों। पर ऐसा मानने में एक आपत्ति है, हम इससे उन ऋषियों की महिमा बढ़ाते नहीं। न्यूटन ने जिन सात रंगों को गिनाया था वह हैं: बैंगनी, नील, श्याम (आस्मानी) हरा, पीला, नारंगी और लाल। परन्तु आज कल के विज्ञानवेत्ता ऐसा मानते हैं कि इस सूची में बैंगनी, नारंगी और नील मिश्रित रंग हैं, अतः शुद्ध रंग श्याम, हरित, पीत और रक्त, चार ही हैं। सूर्य्य का प्रकाश भी शुद्ध श्वेत नहीं वरन् किञ्चित् पीला है। अतः यदि हमारे ऋषि वैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञाता थे और उन्होंने वेद में अपने इस वैज्ञानिक ज्ञान का परिचय दिया है तो यह तो कच्चा ज्ञान है जो आज कल के ज्ञान से कई सौ वर्ष पीछे है। मेरी समझ में ऐसी व्याख्या करनी ही न चाहिये। सूर्य्य और सात के संबंध के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि सूर्य्य ही सातों दिशाओं में चमकते हैं और सातों ऋतुओं के प्रत्यक्ष कारण हैं। दूसरी बात मुझे इसकी भी अपेक्षा अधिक ठीक जंचती है। आदित्य

सात हैं, उन्होंने ने सूर्य्य के लिये आकाश में मार्ग बनाया है, वह सब सूर्य्य पर समान रूप से स्नेह करते हैं, उनको देख कर सूर्य्य चमक उठता है। यह बातें पहिले उद्धृत किये मन्त्रों में आ चुकी हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह सूर्य्य आदित्य देवों का दृश्य प्रतीक है, उनके तेज से इसमें तेज आता है। प्रत्येक आदित्य की शक्ति इसमें अंशतःविद्यमान है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसी लिये सूर्य्य के साथ सात की संख्या लगी है। इस दृश्य सूर्य्य के रूप में हम केवल उस ज्योतिः पिंड को नहीं देखते जिसके देवता—अधिष्ठाता—अदिति के आठवें पुत्र मार्तण्ड हैं प्रत्युत् अप्रत्यक्ष रूप से सातों आदित्य देवों के दर्शन करते हैं।

यदि एक जगह सूर्य्य के दस घोड़ों का उल्लेख आ गया है तो उससे दस महीने का दिन सिद्ध नहीं होता, यही अर्थ निकलता है कि सूर्य्य दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हैं।

यज्ञयाग आर्य्यों की उपासना के स्तम्भ थे। उनका समस्त काल-विभाग, समूचा ज्योतिष, इन्हीं दैनिक, मासिक, वार्षिक सत्रों के चारों ओर गुँधा हुआ है। बहुत से यज्ञों का चलन अब उठ गया है, कभी कभी विशेष आयोजन करके कोई धनिक व्यक्ति कर लेता है परन्तु आज से कई हज़ार वर्ष पहिले यह बात न थी। उस समय यज्ञ होते थे और बहुत होते थे। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भी कुछ यज्ञों का व्यवहार बन्द हो गया था। उनकी स्मृति थी, सम्भवतः उनका विधान भी कुछ लोगों को याद होगा परन्तु सामान्यतः वह उठसे गये थे। ऋग्वेद में कई जगह ऐसा आता है कि अमुक यज्ञ को हमारे पूर्वजों ने (*नः पितरः*) किया था। इससे ध्वनि यही निकलती है कि जिस समय यह मंत्र लिखे गये उस समय स्यात् इन यज्ञों का उतना प्रचार न था। कहीं कहीं और भी पुराने समय का निर्देश करने के लिये *नः पूर्वे पितरः* (हमारे पहिले के पूर्वज—पुराने पूर्वज) कहा गया है। यह पुराने समय के यज्ञ पीछे के लिये आदर्श स्वरूप हो गये, जैसे

यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन् ।
एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व ॥

(ऋक् १-७६,५)

हे अग्नि, जिस प्रकार तुमने मेधावी मनु के यज्ञ में हवियों से देवों का यजन किया था उसी प्रकार आज इस यज्ञ में करो।

मनु के अतिरिक्त कई अन्य पितरों के नाम भी मिलते हैं। भिन्न-भिन्न मंत्रों में अंगिरा, ययाति, भृगु, अथर्वा, दध्यञ्च, अत्रि और कन्व के नाम आते हैं। यह भी भूलना न चाहिये कि इनमें से कई नाम व्यक्तियों के नहीं वरन् गोत्रों या ऋषि-कुटुम्बों के हैं। अथर्वा, भृगु, कगव, अंगिरा—यह सब प्रसिद्ध याजक गोत्र हैं। इन लोगों के द्वारा बहुत से वेद मंत्र प्रकट हुए हैं, यज्ञयागादि की विधि ठीक की गयी है। इसीलिये इनके लिए स्थल स्थल पर बहुवचन का प्रयोग आता है :—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो [illegible]
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि [illegible]

(ऋक् १०-१४,६)

हमारे पितर अंगिरा, नवग्वा, अथर्व और भृगु ([illegible] में आते हैं) सोमपान के योग्य हैं। हम सदा इन [illegible] की सुमति में रहें, हमारा सदा (इनकी कृपा से) कल्याण हो।

ऊपर जो नवग्व शब्द आया है इसकी व्याख्या ऋग्वेद (१०-६२,६) में इस प्रकार की गयी है :—

[illegible] अङ्गिरों में नवग्व और दशग्व हुए थे। सायण ने भाष्य में लिखा है कि जो लोग नौ महीने में यज्ञ समाप्त करके उठते थे वह नवग्व कहलाते थे और जो दस महीने में उठते थे वह दशग्व कहलाते थे। इन अङ्गिरा गोत्र के लोग [illegible] महीने में यज्ञ समाप्त करने वाले होते थे, इसका भी प्रमाण मिलता है :—

[illegible]
[illegible]

(ऋक् १०-६२,६)

मैं सत्यकर्म्मा सुमेधा आङ्गिरस (अङ्गिरा का पुत्र अथवा अङ्गिरा गोत्र में उत्पन्न) बृहस्पति सप्तगु (सात महीने में यज्ञ समाप्त करने वाला) हूँ। मुझको (देव स्तुति विषयक) बुद्धि प्राप्त होती है। देवों का मुझ पर अनुग्रह होना चाहिये। मुझे भाँति भाँति का धन दो।

अब यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन सब पितरों ने अपने अपने समय में कोई एक ही यज्ञ किया था या अलग अलग प्रकार के यज्ञ किये थे। यह भी ठीक ठीक पता नहीं है कि इनके यज्ञों में कितना कितना समय लगा। फिर भी कुछ कुछ संकेत है। और इनमें से कुछ यज्ञ किस उद्देश्य से किये गये इसका भी संकेत है, यथा :—

एहगमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्।

(ऋक् १०-१०८,८)

(पणियों के स्थान पर सरमा गयी थी। उससे उन्होंने कहा कि तू व्यर्थ आयी है। उसने उनको बताया कि) यहाँ सोम पीकर मत्त अङ्गिरस नवग्व आये थे, उन्होंने गउओं के समूह का विभाग कर डाला। इसलिये, हे पणियो, तुमने जो यह कहा कि मैं व्यर्थ आयी इस वाक्य को थूक दो।

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥

(ऋक् ३-३९,५)

जब मित्र इन्द्र ने अपने बलवान सखाओं नवग्वों के साथ घुटने के बल गउओं का पीछा किया तो उन्होंने दस दशग्वों के साथ (मिल कर) सूर्य्य को अँधेरे में रहते देखा।

ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के ४५वें सूक्त के सातवें मंत्र में नवग्वों के दस महीने और ११वें मंत्र में दशग्वों के दस महीने का जिक्र आया है। दशम मंडल के ६२वें सूक्त में अंगिरसों से (जिनमें नवग्व और दशग्व सर्वश्रेष्ठ थे) कई प्रार्थनायें की गयी हैं। यथा

य उदाजन्पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे वलम्।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ (२)

रहती हैं। इस अन्धकारमय मेघ को ही वृत्र, वल, अहि आदि असुर नामों से पुकारते हैं। अपने वज्र के प्रहार से, जिससे महाराव, तुमुल घोष, गर्जन, घरघराहट का नाद होता है, इन्द्र इस असुर को मारते हैं, इसके गढ़ को ढहा देते हैं। इससे गउओं का उद्धार हो जाता है अर्थात् सूर्य का प्रकाश फिर दीखने लगता है और वृष्टि होती है। यह ऐसी कुंजी है जिससे वेद के सैकड़ों मंत्रों का अर्थ लग सकता है'। अब देखना यह है कि इन अंगिरसों के यज्ञ में इससे काम चलता है या नहीं। मैं समझता हूँ किसी को भी यह मानने में आपत्ति न होगी कि यहाँ पर भी वही प्रसंग है। वल ने गउओं को (सूर्य्य की रश्मियों को तथा जलधाराओं को) पकड़ कर क़ैद कर लिया है। हर साल ही ऐसा करता है। इसलिये पहिले से ही उपाय करना पड़ता है। दस महीने तक सत्र होता है। नवग्वु, दशग्वु तथा अन्य होता इसमें लगे रहते हैं। इस सत्र के प्रताप से इन्द्र को भी बल की प्राप्ति होती है। यही अंगिरसों की सहायता है। इससे पुष्ट होकर इन्द्र वल को मारते हैं, गउओं को छुड़ाते हैं। सूर्य्य भी बादलों के पीछे अंधेरे में उन्हें मिलते हैं। यज्ञ प्रतिवर्ष किया जाता था और वर्षा के पहिले समाप्त हो जाता था, इसीलिये कहा गया है कि वल को परिवत्सर—सत्र के अथवा वर्ष के अन्त में—मारा गया। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है जो ध्रुवप्रदेश से विशेष संबंध रखती है। कहीं नौ दस महीने के दिन की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। जिस मंत्र को तिलक उषा से विशेष संबन्ध दिखलाने के प्रमाण में पेश करते हैं वह भी कोई ऐसी बात नहीं कहता। वह मंत्र इस प्रकार है :—

ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे तेनो हिन्वन्तूषसो व्युष्टिषु।
उषा न रामीररुणैरपोर्णुते महो ज्योतिषा शुचता गो अर्णसा॥

(ऋक् २—३४, १२)

वह दशग्व रूपी मरुद्गण जिन्होंने पहिले यज्ञ किया प्रभातकालों में हमारी बुद्धि को प्रेरित करें। जिस प्रकार उषा रात के अंधेरे को दूर करती है

उसी प्रकार वह सूर्य के ढंकने वाले वृत्रादि को हटाकर जगत् को प्रकाशमान करते हैं।

इन सत्रों का संबंध किसी कई महीने लंबे दिन और उसके पीछे आने वाली रात से नहीं था वरन् वर्षा से था, यह बात निम्न-लिखित मंत्रों से भी प्रकट होती है। यह मंत्र ऋग्वेद के पाँचवे मंडल के ४५ वें सूक्त से लिये गये हैं :—

विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गुः ।
अपावृत व्रजिनीरुत्स्वर्गाद्वि दुरो मानुषीर्देव आवः ॥ १

अंगिरों के स्तवपाठ पर इन्द्र ने वज्र मारकर गउओं को छुड़ाया। उषा का प्रकाश चारों ओर छिटक गया। अँधेरा दूर हुआ। सूर्य ने मनुष्यों के द्वारों को खोल दिया।

विसूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद्गवां माता जानती गात् ।
धन्वर्णसो नद्यः खादो अर्णाः स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः ॥ २

सूर्य ने अपने प्रकाश को (ठोस) पदार्थ की भाँति फैलाया है। प्रकाश के किरणों की माता (उषा), उस (सूर्य) का आना जानकर विस्तीर्ण अन्तरिक्ष से उदित होती है। नदियाँ अपने किनारों को तोड़ती हुई बहती हैं। आकाश खम्भे की भाँति दृढ़ है।

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन्दश मासो नवग्वाः ।
अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः ॥ ११

हे देवगण, हम तुम्हारी वही सब कुछ देने वाली स्तुति जल के निमित्त करते हैं जिसे नवग्वों ने दस महीने तक किया था। इससे हम देवरक्षित होंगे और पाप को पार कर जायंगे।

यह अन्तिम मंत्र तो नवग्वों के सत्र के तात्पर्य को बिलकुल ही खोल देता है। दीर्घतमा के आख्यान में भी तिलक को वही ध्रुवप्रदेश निवास का संकेत मिलता है। दीर्घतमा की कथा महाभारत में भी दी हुई है। कहा जाता है कि उनके पिता का नाम उचथ्य और माता का ममता था। वह जन्म के अन्धे थे। उनकी पत्नी का नाम प्रद्वेषी था।

उनके कई लड़के हुए। उनको खिलाते खिलाते तंग आकर लड़कों ने गंगा में बाँस पर रखकर बहा दिया। बहते बहते वह बलि के हाथ लगे। बलि के यहाँ उनको एक दासी से तथा बलि की पत्नी से कई लड़के हुए। ऋग्वेद में इनकी कथा कई मंत्रों में आयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अश्विनों के विशेष रूप से कृपापात्र थे। इनसे संबंध रखने वाले कुछ मत्र नीचे दिये जाते हैं :—

उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मामामिमे पतत्रिणी विदुग्धाम्।
मामामेधो दशतयश्चितोधाक् प्रयद्वां बद्धस्त्मनि खादतिक्षाम्॥

(ऋक् १—१५८, ४)

नमा गरन्नद्यो मातृतमा दासायदीं सुसमुब्धमवाधुः।
शिरोयदस्य त्रैतनो वितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपिग्ध॥

(ऋक् १—१५८, ५)

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्माभवति सारथिः॥

(ऋक् १—१५८, ६)

[जब औचथ्य (उचथ्य के लड़के) के भरण-पोषण के बोझ से ऊब कर घरवालों ने उनको आग में झोंक दिया तब वह अश्विनों की कृपा से न जले, फिर जल में फेंक दिया उसमें भी वह न डूबे तब त्रैतन नाम के दास ने उनको घायल किया उसी की यह कथा है] हे अश्विनो, यह चक्कर खाने वाले दिन रात मुझे दुःख न दें, यह दस बार जलायी हुई आग मुझे न जलाये, ऐसा न हो कि तुम्हारा सेवक (तुमसे संबंध रखनेवाला) मैं उचथ्य बंधा हुआ भूमि पर लोटता रहूँ।

माता समान नदियां मुझे न डुबायें, जब कि दासों ने मुझे सिर औंधा करके ढकेल दिया। (यह तुम्हारी महिमा है कि) जैसे दास त्रैतन ने उसके (अर्थात् औचथ्य) के सिर को घायल किया वैसे ही उसने स्वयं अपने वक्षस्थल और कंधे में मार लिया।

मामतेय (ममता का पुत्र) दीर्घतमा दसवें युग में बुड्ढा हो गया। तब वह जलों का, अर्थों के लिये यतियों का, ब्रह्म सारथी हुआ।

पहिले दो मंत्र तो सरल हैं। दूसरे मंत्र में त्रैतनकानाम आया

है। इसी से मिलता जुलता नाम त्रित है जो ऋग्वेद में कई जगह आया है। कथा यह है कि अग्नि ने यज्ञ में गिरे हुए हव्य को धोने के लिये जल से तीन देव एकत, द्वित और त्रित बनाये। जल से बनने के कारण यह आप्त्य हुए। आप्त्य जल पीते समय कुएं में गिर पड़े। असुरों को जब इसका पता चला तो उन्होंने कुएं का मुँह बन्द कर दिया पर त्रित किसी न किसी प्रकार निकल आये। इन्होंने और भी कौशल दिखलाया है, यथा:—

सपित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः।

(ऋक् १०—८,८)

इन्द्र की प्रेरणा से आप्त्य पिता के शस्त्रों को लेकर लड़ा। फिर उसने सप्तरश्मि (सात किरण वाले) त्रिशिरस्क (तीन सिरवाले) मुझ त्वाष्ट्र (त्वष्टा के पुत्र) को मारा और गउएं छुड़ा ले गया।

स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितोन्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन्॥

(ऋक् १०—९९,६)

उन्हीं इन्द्र ने लड़ाई में भयंकर शब्द करने वाले वृत्र को मारा। तीन सिर छः आँखवाले त्वष्टा के पुत्र को मारने की इच्छा की। किन्तु इन्द्र के ओज से वृद्धि को प्राप्त हुए त्रित ने लोहे के समान नख वाली अंगुली से वराह को (जल पूर्ण मेघ को) मार दिया।

बहुत सम्भव है—कम से कम ए० सी० दास का ऐसा ही अनुमान है—कि त्रित का ही नाम त्रैतन हो। यद्यपि त्रित अग्निपुत्र देव हैं और त्रैतन दास है, फिर भी दीर्घतमा की जीवन घटनाएं कुछ कुछ दोनों के जीवन में घटी थीं।

पीछे दीर्घतमा विषयक तीसरा मंत्र दिया गया है उसकी व्याख्या के संबध में मतभेद है। पहिला मतभेद तो युग के अर्थ के विषय में है। साधारणतः लोग ५ वर्ष अर्थ लगाते हैं, जो वेदांग ज्योतिष के अनुकूल है। इस प्रकार इसका यह अर्थ हुआ कि दीर्घतमा ५० वर्ष में बुड्ढा

हो गया। उन दिनों के लिये ५० वर्ष कम अवश्य है परन्तु जो व्यक्ति इस प्रकार सताया गया हो उसका ५० वर्ष में ही बुड्ढा हो जाना अस्वाभाविक बात नहीं है। अस्तु, बुड्ढे होकर उन्होंने क्या किया ? अन्तिम वाक्य बड़ा टेढ़ा है। सायण के अनुसार अप, जल, का अर्थ कर्म्म—वैदिक यज्ञयागादि—है और यति का अर्थ है प्राप्त करने वाला। अतः कुल का तात्पर्य्य है, अपने फलों को प्राप्त करने वाले। कर्म्मों का ब्रह्मासदृश सारथी हुआ—अर्थात् कर्म्मों के फलों के पास पहुँचाने वाला हुआ अर्थात् देवत्व को प्राप्त हुआ। यह अश्विनों का उसके लिये प्रसाद था।

तिलक को यह अर्थ अभिमत नहीं है। वह युग का अर्थ मास करते हैं और इसके लिये बहुत से प्रमाण देते हैं। हम उस सारे शास्त्रार्थ को दुहराना नहीं चाहते। तिलक के अनुसार इस मंत्र का यह अर्थ है: दीर्घतमा दसवें महीने में बुड्ढा हो गया था और अपने गन्तव्यस्थान को जाने वाले जलों का ब्राह्मण सारथी हो गया अर्थात् जहां जल जा रहा था वहां उसके साथ गया। दीघतमा से सम्बन्ध रखने वाला एक मंत्र है जो ऋग्वेद में दो जगह आया है, प्रथम मण्डल के १४७ वें सूक्त में ३ रे स्थान पर तथा चौथे मण्डल के ४ थे सूक्त में १३ वें स्थान पर। वह मंत्र यह कहता है कि उन पर दया करके अग्नि ने उनके अन्धेपन को दूर कर दिया।

अब इस आख्यान को एक तो किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का इतिवृत्त मान सकते हैं। हजारों बरसों में बहुत सी बातें जुड़ गयी होंगी पर यह हो सकता है कि उचथ्य और ममता को दीर्घतमा नाम का जन्मान्ध लड़का रहा हो। वह अश्विनों का उपासक होगा। अन्धा होने के कारण घरवालों ने उसे बहुत सताया होगा पर वह बचता गया होगा। इन्हीं सब विपत्तियों को झेलते झेलते वह ५० वर्ष में ही बुड्ढा हो गया। कर्म्मठ मनुष्य था, लोग उसका आदर करते थे, इसलिये देवतुल्य माना जाने लगा (या उसके मरने पर लोग उसको देववत्

प्रतिष्ठा करने लगे)। पर यह भी हो सकता है कि इस कथा में किसी प्राकृतिक दृग्विषय का रूपक बांधा गया है। तिलक तो कहते हैं कि यहाँ सूर्य्य का नाम दीर्घतमा है। वह दस महीने तक चमकने के बाद बूढ़े हो गये। फिर जलों, अन्तरिक्षस्थित जलधाराओं, के साथ उनके गन्तव्यस्थान समुद्र को चले गये अर्थात् क्षितिज के नीचे चले गये। उनके पुनः उदय होने को अग्निद्वारा उनको दृष्टिदान कहकर बतलाया गया है। मेरी समझ में यह कष्ट कल्पना है। दीर्घतमा सूर्य्य हों और युग का अर्थ मास हो तब भी इतनी ही बात आती है कि वर्षा में वह बादलों से छिप गये, फिर वर्षा के अन्त में उदय हुए।

त्रित की कथा भी इस बात का समर्थन करती है। त्रित को अग्नि ने बनाया। वह कुएं में, जहाँ अन्धकार रहा होगा, गिर गये पर बाहर निकल आये। उन्होंने पिता—अग्नि—के तेजोमय या विद्युन्मय, बिजली स्वरूपी, अस्त्र से काम लेकर असुर को मारा, जलपूर्ण बादल को नख से फाड़ डाला और गउओं का—सूर्य की किरणों या जलधाराओं का—उद्धार किया। वृत्र बड़ा शोर करने वाला, गरजने वाला था। असुर ने सूर्य्य की सातों किरणों को चुरा लिया था, इसीलिये वह सप्तरश्मि कहलाया। सम्भवतः वर्षा के तीन महीनों की प्रचण्डता के कारण उसे तीन सिर वाला कहा है। जब तीन सिर हुए तो छः आँखें हुई ही या यह भी हो सकता है कि इन तीन महीनों में सूर्य्य के छः नक्षत्र निकल जाते हैं, इसलिये उसे छः आँख वाला कहा हो। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि इस उपाख्यान में ध्रुवप्रदेश की कोई बात नहीं है। एक शंका फिर भी रह जाती है। यदि यहाँ केवल वर्षा के अन्धकार का ही ज़िक्र है तो सूर्य्य को दीर्घतमा—गहिरे अंधेरे में रहने वाला—क्यों कहा? यह उपाधि तो ध्रुवप्रदेश में ही ठीक होती। अब ठीक लगने को तो चाहे जो ठीक लगे पर वेद में अन्धकार और वृत्रादि असुरवाची शब्द मेघ के ही पर्य्याय होकर प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे स्पष्ट प्रयोग के मिलते हुए तर्क लगाना अनावश्यक है। हम इस सम्बन्ध के दो एक प्रमाण देते हैं :—

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ॥

(ऋक् १—३३, १०)

जब जल आकाश से पृथिवी पर नहीं गिरा और इस धनदा को अन्नादि से परिपूर्ण नहीं किया, तब इन्द्र ने अपना वज्र उठाया और ज्योतिरहित अन्धकार (बादलों) से गऊ को दुहा (जल गिराया)।

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः ।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणाहिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते ॥

(ऋक् १—५४, १०)

जल की धारा को अन्धकार ने रोक लिया था। बादल वृत्र के पेट में था। जल को वृत्र ने ढंक लिया था, परन्तु इन्द्र ने इन विश्वव्यापी जलों को पृथ्वी के नीचे से नीचे भागों तक गिरा दिया।

इस प्रकार के और पचासों मंत्र मिलेंगे और ऐसा स्यात् एक भी स्थल नहीं मिलेगा, जहाँ सामान्य रात्रि का अन्धकार या वर्षा का अन्धकार अर्थ करने से काम न चल सकता हो। ऐसी दशा में खैंचा-तानी करके दूसरा अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है।

पहिले मंडल के १६४ वें सूक्त के १२ वें मंत्र में वर्ष का इस प्रकार वर्णन है :—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथे ये अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ॥

लोग कहते हैं कि आकाश के उधर वाले (दूर वाले) आधे में द्वादश आकृतिवाला पाँच पाँव वाला पुरीषी (भाप से ढंका हुआ) पितर है। यह दूसरे कहते हैं कि इधर वाले आधे में सात पहिये और छः धुर वाले रथ में विचक्षण (दूरदर्शी) बैठा है।

तिलक कहते हैं कि इस एक मंत्र में दो विभिन्न प्रकार के वर्षों का जिक्र है। पहिले आधे में ध्रुवप्रदेश का वर्ष है। है तो वह द्वादशाकृति, बारह महीने वाला, परन्तु उसके पाँव पाँच हैं, अर्थात् ऋतु पाँच ही हैं। वह पुरीष से ढंक गया है, इसका भावार्थ यह है कि उस समय दस

महीने तक ही व्यवहार दृष्टि से वर्ष की गणना होती थी और इस अवधि में दो-दो महीने के पाँच ऋतु होते थे। इसके बाद सूर्य्य पुरीष से ढँक जाता था, जल के भाप से ढँक जाता था, जल से ढंक जाता था अर्थात् क्षितिज के नीचे जाकर अदृश्य हो जाता था। दूसरे आधे में सप्तसिन्धव का वर्ष है। इसीलिये यह दूसरे—यह जो सामने हैं, अर्थात् इस काल के मनुष्य—कहते हैं, ऐसा प्रयोग है। यहाँ षडर—छः धुरे, छः ऋतुओं का ज़िक्र है। यह सूर्य्य विचक्षण है, दूर-दर्शी है अर्थात् उस सूर्य्य की भांति अँधेरे से ढंका नहीं है। वह सूर्य्य किसी पहिले युग की स्मृति मात्र रह गया है, इसलिये वह आकाश के उधर वाले—दूरवाले—आधे में रहने वाला वताया गया है, यह सूर्य्य प्रतिदिन देखा जाता है इसलिये इसका स्थान आकाश के इधर वाले आधे में वतलाया गया है।

विचार करने से यह व्याख्या ठीक नहीं जँचती। यह माना कि सूर्य्य दस महीनें के वाद क्षितिज के नीचे चला गया पर सव मनुष्य तो दो महीने तक वेहोश पड़े नहीं रहते थे। उनको तो जाड़ा गरमी का अनु-भव होता ही होगा, फिर इन अँधेरे दो महीनों में उन्होंने ऋतु क्यों नहीं माना ? ऋतु रहा होगा और उनको भोगना पड़ा होगा। फिर पाँच ऋतु गिनने का कोई कारण नहीं है। पुराने भाष्यकारों ने तो यह कहा है कि कभी कभी वर्षा और शरत् कभी कभी हेमन्त और शिशिर, को एक गिन लेते थे। वर्षा और शरत् के रूप में तो काफ़ी भेद है पर हेमन्त और शिशिर का मिलाया जाना अस्वाभाविक नहीं है। ऐतेरय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता भी इस मत का समर्थन करते हैं। इन वातों को ध्यान में रखते हुए दास यह अर्थ करते हैं कि साल के दो भाग थे। एक भाग वह था जिसमें वर्षा ऋतु अन्तर्भूत था, उस समय सूर्य्य पुरीपी था। दूसरे भाग में वर्षा वीत चुका था अतः सूर्य्य विचक्षण था।

यह मत भी मुझे समीचीन नहीं जँचता। दो भाग तो हुए—मंत्र स्वयं दो अर्धों का उल्लेख करता है—परन्तु यदि मंत्र की पहिली पंक्ति में वर्ष के वर्षा वाले भाग का ज़िक्र था तो उस एक आधे में तो पाँच

ऋतु हो नहीं जाते थे। इसी प्रकार वर्ष के दूसरे आधे में छः ऋतु नहीं होते थे। यह भी हो सकता है कि पहिली पंक्ति में वर्ष के पूर्वार्ध का ज़िक्र है जो वर्षा ऋतु को लेकर ५ महीने का होता होगा और दूसरी पंक्ति में उत्तरार्ध का, जो सात महीने का होता होगा। पहिला आधा चैत्र से श्रावण तक और दूसरा भाद्र से फागुन तक होता होगा। पहिले के अन्त में सूर्य्य पुरीषी और दूसरे में विचक्षण होगा। तव फिर मंत्र का अर्थ होगा : वर्ष *द्वादशाकृति* (वारह महीनों वाला) और षडर (छः ऋतुओं वाला) है। इसका पूर्वार्ध *पंचपाद* (पाँच महीनों वाला) और पुरीषी है तथा उत्तरार्ध *सप्तचक्र* (सात महीनों वाला) और विचक्षण है। सायण ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है : कुछ लोग कहते हैं कि सव को प्रसन्न करने वाला, अथच पितर, पाँच ऋतुओं (हेमन्त शिशिर को एक मानकर) के कारण पंचपाद, वारह महीनों वाला द्वादशाकृति, दृष्टि से सवको तुष्ट करने वाला होने से पुरीषी, संवत्सरचक्र द्युलोक के उधर वाले अर्ध अर्थात् अन्तरिक्ष के ऊपरी भाग में रहने वाले सूर्य्य के आधीन है; दूसरे लोग कहते हैं कि छः ऋतु रूपी धुरों वाले और सात किरणों से या अयन ऋतु मास पक्ष अहोरात्र मुहूर्त से सात पहियों वाले संवत्सर के अधीन विचक्षण अर्थात् विविध दर्शी सूर्य्य है। अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि काल की गति सूर्य्य के अधीन है और दूसरे लोग कहते हैं कि सूर्य्य काल गति के अधीन है।

यह अर्थ भी विषय के अनुकूल है। इनमें से कोई भी अर्थ ऐसा नहीं है जिसमें विषय से वहुत दूर जाकर ऐसी कल्पना करनी पड़े जिसके लिये प्रत्यक्ष समर्थन मिलना कठिन हो और इधर उधर के छिपे हुए संकेतों का आश्रय लेना पड़े। अतः इस मंत्र से ध्रुव प्रदेश निवास का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अधोनोट

जिस प्रकार वैदिक आर्य्य सात लोक और सात आदित्य मानते थे उसी प्रकार पारसियों के यहां भी सात कर्श्वरे और सात अधिष्ठाता माने जाते हैं। उनका

ऐसा विश्वास है कि एक ही अहुरमज्द सप्तधा होकर इन सात लोकों का शासन करता है। इन सात असुरों को अमेषस्पेन्त (अमर हितकारी) कहते हैं। सातों कर्शवरों के नाम अर्ज़हे-सवहे, फ्रदधफ़्शु—विदधफ़्श, वौरुबरेश्ति—वूरुज़रेश्ति, ख्वनिरथ, हेतुमन्त, अशि और चिस्त हैं और इनके सातों असुरों के नाम वहुमनो, अशवहिश्त, क्षत्रवैर्य, स्पेन्त आर्मैति, हौर्वताट और अमरताट हैं। भूलोक का नाम ख्वनिरथ है। इसके स्वामी क्षत्रवैर्य हैं। जल और प्रकाश के लिये जैसा निरन्तर युद्ध वेदों में दिखलाया गया है वैसा ही अवेस्ता में वर्णित है। कहीं तो ख्वरेनो के प्रकाश के लिये आतर (अग्नि) और अज़ि (अहि) दहाक में लड़ाई होती है; कहीं अपौष वर्षा को रोक लेता है, तिश्त्र्य उससे लड़ते हैं। पहिले हार जाते हैं, फिर यज्ञ से बल प्राप्त करके उसे अपनी गदा, अग्निरूपी वाज़िश्त, से मारते हैं और फिर मरुतों के बताये मार्ग से जल बह निकलता है।

त्रैतन की कथा अवेस्ता में भी है। वह जिस रूप में है उसमें त्रैतन और त्रित आप्त्य दोनों की कथाओं का मेल है। इससे भी अनुमान होता है कि त्रैतन और त्रित आप्त्य एक ही हैं। अवेस्ता के अनुसार थ्रैतौन आथ्व्य से अज़ि दहाक (अहि दैत्य) की, जो त्वाष्ट्र की भाँति तीन सिर और छः आँख वाला था, चतुष्कोण वरेण (वरुण=आकाश) में लड़ाई हुई। थ्रैतौन ने अहि को मार डाला।

पन्द्रहवां अध्याय

प्रवर्ग्य

कई ऐसे यज्ञ हैं जिनके विधान से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि वह किस समय किये जाते थे। ऐसे ही सत्रों में प्रवर्ग्य है, जिसका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में है। यह सोमयज्ञ के पहिले होता था और लगातार तीन दिन तक चलता था। संक्षेप में इसकी प्रक्रिया यह है कि यज्ञवेदी पर मिट्टी का एक गोला वृत्त बनाया जाता है। यह मिट्टी गधे (खर) की पीठ पर लाद कर लायी जाती है और इस वृत्त को भी खर कहते हैं। इसके ऊपर मिट्टी का एक विशेष प्रकार का घड़ा रखते हैं जिसे धर्म या महावीर कहते हैं। यह घड़ा खूब गर्म किया जाता है, फिर दो शफों (लकड़ी के टुकड़ों) की सहायता से उतारा जाता है और इसमें कुछ गऊ का दूध और कुछ ऐसी बकरी का दूध जिसका बच्चा मर गया हो डाला जाता है। फिर इसमें का प्रायः सब दूध आह्वनीय अग्नि में डाल दिया जाता है। जो थोड़ा सा बचता है उसे होता खा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण इस यज्ञ की यह व्याख्या करता है कि घड़े में का दूध बीज है और अग्नि देवों का गर्भ है। इसीलिये अग्नि में दूध को डालते हैं कि इससे प्रजनन हो। तिलक कहते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवप्रदेश की लंबी रात के पहिले यह यज्ञ होता होगा। इस लंबी रात में यज्ञादि कर्म्म बंद हो जाते थे, सूर्य्य भी अदृश्य रहता था। पर कुछ महीनों के बाद सूर्य्य भी निकलता था, यज्ञ भी आरम्भ हो जाते थे। इस प्रवर्ग्य सत्र में दूध रूपी बीज से तात्पर्य्य सूर्य्य या यज्ञ से है जो कुछ काल के लिये गर्भ में चला जाता था अर्थात् छिप जाता था, फिर उत्पत्ति होती थी अर्थात् सूर्य्य या यज्ञ का फिर जन्म होता था। उस अवसर पर जो मंत्र पढ़ा जाता है उससे भी इस मत की कुछ पुष्टि सी होती है। वह मंत्र यह है:-

आ दशभिर्विवस्वत इन्द्रः कोशमचुच्यवीत् खेदया त्रिवृतादिवः ॥

(ऋक् ८—६१, ८)

विवस्वत् के दस के साथ अपने त्रिवृत्त वज्र से इन्द्र ने आकाश का कोश गिरा दिया।

इसका अर्थ वह यह निकालते हैं कि सूर्य्य के दस महीनों के बाद अर्थात् दस महीने के लंबे दिन के बाद इन्द्र ने अपने वज्र से आकाश में स्थित जलों की बालटी को उलट दिया। आकाश में स्थित जल से जलधारा से तात्पर्य्य नहीं है, वरन् अन्तरिक्ष की अमूर्त तरंगों से। यह गिर जाती हैं और इनके साथ सूर्य भी गिर जाता है, अर्थात् छिप जाता है। दो महीने के लिये रात हो जाती है।

यह व्याख्या ठीक नहीं है। पहिले तो इस मंत्र का अर्थ भी दूसरे प्रकार से किया जाता है। सायण भाष्य यों करते हैं कि यज्ञ करने वाले की दसों अंगुलियों की याचना से (अर्थात् हाथ जोड़कर प्रार्थना करने पर) (प्रसन्न होकर) इन्द्र ने अपनी तिहरी किरणों से आकाश के बादलों को फाड़ दिया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि इन्द्र ने वृष्टि कर दी। चाहे यह कहिये कि दस महीने बीत जाने के बाद वर्षा हुई, चाहे यह कहा जाय कि यज्ञकर्ता की उपासना से तुष्ट होकर ऐसा हुआ, पर आकाश की बालटी के उलटने या गिरा देने का अर्थ तो पानी बरसना ही हो सकता है, दो महीने तक अँधेरा रहना अर्थात् सूर्य्य का छिप जाना नहीं।

अपने मत की पुष्टि में तिलक दो प्रमाण देते हैं। एक तो इसके ठीक पहिले का मंत्र है :—

दुहन्ति सप्तैकामुपद्वा पञ्च सृजतः।
तीर्थे सिन्धोरधिस्वरे ॥

सात एक को दूहते हैं, दो पाँच को उत्पन्न करते हैं, समुद्र (या नदी) के शब्दायमान किनारे पर।

तिलक इसका अर्थ यह लगाते हैं कि सात होता मिलकर एक अर्थात्

उषा को दूहते हैं, उससे दो अर्थात् दिन रात उत्पन्न होते हैं, उनसे पाँच ऋतु (दस महीने के दो-दो मास वाले पाँच ऋतु) उत्पन्न होते हैं। सायण के अनुसार इस मंत्र का संबंध प्रवर्ग्य यज्ञ से है। जिस किसी नदी के तट पर ऋषि यज्ञ करता होगा वहाँ सात ऋत्विज मिलकर धर्म (मिट्टी के घड़े) को दूहते हैं। उनमें से दो दो प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु पाँच दूसरों अर्थात् यजमान, ब्रह्मा, होता, अग्नध्रि और प्रस्तोता की सृष्टि करते हैं (अर्थात् यह पाँच उनके पीछे आते हैं)। यह व्याख्या ठीक प्रतीत होती है और आगे के मंत्र से संबद्ध भी प्रतीत होती है।

उनका दूसरा प्रमाण ऋग्वेद के सातवें मंडल के १०१ वें सूक्त का ४था मंत्र है :—

यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावास्त्रेधा सस्रुरापः।
त्रयः कोशास उपसेचेनासो मध्व श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥

जिसमें सब भुवन स्थित हैं, तीनों लोक जिसके अधीन हैं, त्रिधा जल जिससे गिरता है, सींचने वाले तीनों बादल जिस महान के चारों ओर मीठा जल बर्साते हैं। [तीन प्रकार के जल और बादल का अर्थ सायण ने उत्तर, पूर्व, और पश्चिमवर्ती लिया है। दक्षिण से बादल आकर वर्षा नहीं होती। मेघ पूर्व, पश्चिम या उत्तर का कोना लिये ही प्रायः आता है।]

यहाँ तो साधारण जल और वृष्टि का ही वर्णन है, अन्तरिक्ष में सञ्चार करने वाले अदृश्य बादलों और जलों तथा उनके साथ प्रवाहित होने वाले सूर्य का कोई चर्चा नहीं प्रतीत होता। इसके आगे का मंत्र इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है :

इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत्।
मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः ॥

यह वचन अपने प्रकाश से दीप्तिमान पर्जन्य के लिये किया जाता है, यह उनको हृदयंगम हो और पसन्द आये। उनके प्रसाद से हमारे लिये सुख देने वाली वृष्टि हो और देवगोपा (देवरक्षित) ओषधियां फल युक्त हों।

अब यदि यहां भी पर्जन्य का सामान्य अर्थ—मेघ या तदधिष्ठाता देवता-छोड़ कर तिलक के अनुसार व्याख्या की जाय और अन्तरिक्ष में

प्रवाहित होने वाली किन्हीं अदृश्य धाराओं की कल्पना की जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जब अँधेरा छा जाता था और सूर्य्य छिप जाता था उस समय ओषधियों के फलने फूलने के दिन होते थे। यह अप्राकृतिक बात है और अग्राह्य है। तिलक के मत में एक और दोष है। इन्द्र की महिमा इस लिये गायी जाती है कि वह वृत्र, वल आदि असुरों को मार कर अन्धकार को दूर करते हैं और प्रकाश फैलाते हैं पर यदि प्रवर्ग्य के समय पढ़े जाने वाले मंत्र का अर्थ वही हो जो तिलक करते हैं तो यह कहना पड़ेगा कि दस महीने के बाद इन्द्र ने स्वयं अँधेरा कर दिया !

अतः यदि प्रवर्ग्य सत्र का यह भाव है कि यज्ञ या सूर्य्य कुछ काल के लिये अन्तर्हित हो जाता है तो उसका लक्ष्य ध्रुव प्रदेश की लंबी रात से नहीं किन्तु वर्षा ऋतु से ही हो सकता है। एक और प्रकार से भी इस मत की पुष्टि होती है। शुक्ल यजुर्वेद के ३६ वें अध्याय में प्रवर्ग्याग्नि सम्बन्धी मंत्र हैं। इनकी संख्या चौबीस है। इनमें जहां इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति, विष्णु से शम्—कल्याण की प्रार्थना की गयी है, वहाँ १० वीं कण्डिका में कहा है:

शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु

हमारे लिये देव पर्जन्य कल्याणकारी (होकर) वर्षा करें।

यहां पर्जन्यदेव के लिये *कनिक्रदत्*—खूब कड़कड़ाता, गरजता हुआ—विशेषण आया है। इसका उद्देश्य वर्षाकालीन मेघ ही हो सकता है। फिर १२ वीं कण्डिका में कहा है:—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

दीप्यमान जल हमारे अभिषेक (स्नान) और पान (पीने) के लिये कल्याणकारी हों। (जल) हमारे रोगों के शमन तथा भयों को दूर करने के लिये गिरें।

यहाँ भी वृष्टि का ही प्रसङ्ग है।

सोलहवां अध्याय

गवामयनम्

तिलक स्वयं भी कहते हैं कि प्रवर्ग्य से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र बहुत स्पष्ट नहीं हैं, अर्थात् इतने स्पष्ट नहीं हैं कि उनसे यह बात ठीक ठीक निकाली जाय कि वह ध्रुव प्रदेश से सम्बन्ध रखते हैं या नहीं। परन्तु कुछ और सत्र हैं जिनकी व्याख्या में ऐसी द्विविधा नहीं है। उनमें से गवामयनम् है। यह एक वार्षिक सत्र था अर्थात् इसको पूरा करने में प्रायः एक साल लगता था। और भी कई वार्षिक सत्र थे पर उनका समय विभाग गवामयनम्—गउओं के मार्ग या चलने—से मिलता जुलता था। मैंने ऊपर कहा है कि इसमें प्रायः एक साल लगता था। इस 'प्रायः' का अर्थ तथा इस सत्र का माहात्म्य इस अवतरण में मिलता है जो ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इससे मिलता-जुलता वर्णन तैत्तिरीय सहिंता में भी मिलता है :—

गावो वै सत्रमासत। शफाँ छृंगाणि सिपासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः श्रृंगाण्यजायंत। ता अब्रुवन् यस्मै कामाया दीक्षामहयापाम तमुत्तिष्ठामेति। ता या उदतिष्ठंस्ता एता श्रृंगिण्योऽथ याः समापयिष्यामः संवत्सरमित्यासत तासामश्रद्धया श्रृंगाणि प्रावर्तंत। ता एतास्तूपरा ऊर्जं त्वसुन्वंस्तस्मादुताः सर्वानृतून्प्रापोत्तरमुत्तिष्ठंत्यूर्जं ह्यसुन्वन् सर्वस्यप्तो वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः। सर्वस्य प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गच्छति य एवं वेद।

(ऐतरेय ब्राह्मण—४, १७)

इसका अर्थ यह है :—हमको खुर और सींग निकल आयें इसलिये गउओं ने यज्ञ किया। दसवें महीने में उनको खुर और सींग निकल आये। उन्होंने कहा जिस लिये हमने यज्ञ किया था वह प्राप्त कर लिया, अब उठें। जो उठ गयीं वह सींग वाली हुईं। जिन्होंने यह सोचा कि हम साल पूरा कर

तें उनकी सींगें उनकी अश्रद्धा के कारण चली गयीं। वह वेसींग वाली रहीं। उनको ऊर्ज (शक्ति) प्राप्त हुआ। सब ऋतुओं को प्राप्त करके अर्थात् बारहों महीने यज्ञ करके वह ऊर्ज के साथ उठीं। (इस प्रकार) गौएं सब की प्रेमास्पद हुईं, सबसे उन्हें चारुता मिली (सबने उन्हें सजाया)। जो ऐसा जानता है वह सबका प्रेमास्पद होता है, सब से चारुता पाता है।

इसी लिये मैंने ऊपर कहा था कि यह सत्र प्रायः एक वर्ष में समाप्त होता था। इस अवतरण से विदित होता है कि कुछ गउओं ने दस महीने में ही समाप्त कर दिया, कुछ बारह महीने तक लगी रहीं। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि यज्ञ चाहे दस महीने में समाप्त किया जाय चाहे बारह महीने में फल एक ही है। इसका किसी ने कारण नहीं बतलाया कि एक ही यज्ञ की समाप्ति के संबंध में दो वैकल्पिक विधान क्यों हैं। ऐसा पहिले से होता आया है, बस यही कहा जाता है।

तिलक कहते हैं कि तैत्तिरीय तथा ऐतरेय संहिता के रचयिताओं तथा भाष्य और टीका करने वालों को यह पता नहीं था कि उनके पूर्वज कभी ध्रुव प्रदेश में रहते थे। गऊ शब्द वेदों में गो-पशु के सिवाय प्रकाश की किरणों और जल की धाराओं के लिये भी आता है। कहीं-कहीं इसका प्रयोग उषा या उषा से सम्बद्ध दिन-रात के लिये भी हुआ है। यहाँ, तिलक के अनुसार, यही अर्थ है। दिन रात दस महीने तक चलते गये। इसके बाद रात आ गयी, चलना बन्द हो गया। यह तो पुराने निवासस्थान की स्मृति हुई। जब सप्तसिन्धव में आकर बसे तो वह कठिनाई न थी, पूरे बारह महीने तक दिन रात चलते रहे। इसी के अनुसार जब वह लोग ध्रुव प्रदेश में रहते थे तो सत्र को दस महीने में समाप्त करना पड़ता था, जब सप्तसिन्धव देश में आये तो सत्र को फैला कर बारह महीने में करने लगे, यद्यपि कुछ लोग अब भी पुरानी प्रथा का अनुसरण करके दस महीने की ही अवधि मानते थे। इस प्रकार दस और बारह महीने की संख्या का तो कुछ अर्थ निकल आया परन्तु कई बातें अब भी वैसी ही रह गयीं। गउओं ने किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये यज्ञ किया था। वह उद्देश्य क्या था ? खुर और सींग से क्या

तात्पर्य है ? यदि गऊ का अर्थ दिन रात है तो दिन-रात दस महीने तक चल कर किस सुखद परिणाम पर पहुँचे ? दो महीने के लिये घोर अन्धकार से अभिभूत हो जाना तो यज्ञ फल की प्राप्ति नहीं कहा जा सकता ?

वेदों में कई जगह ऐसा आता है कि अमुक अमुक ने इस यज्ञ को किया। यह बात दो प्रकार से कही गयी है। कहीं तो ऐतिहासिक इतिवृत्त बतलाया गया है। 'अमुक उद्देश्य से मनु ने यह यज्ञ किया' ऐतिहासिक बात हो सकती है। सचमुच ऐसी घटना हुई थी या नहीं, इसके जाँचने का हमारे पास कोई साधन भले ही न हो पर ऐसा होना असम्भव नहीं है। परन्तु जहाँ यह कहा गया है *गावो अयजंत*—गउओं ने यज्ञ किया—तो वहां ऐतिहासिक घटना का उल्लेख हो ही नहीं सकता। गउएं यज्ञ नहीं कर सकतीं। उनका यज्ञ करना प्रकृति के प्रतिकूल है। अतः गउओं के यज्ञ करने की बात अर्थवाद है। ऐसा कह कर यज्ञ की महत्ता बतलायी गयी है। इससे तात्पर्य यह है कि यदि गऊ भी इस यज्ञ को करे तो उसको अमुक अमुक फल प्राप्त हो सकता है। इससे यज्ञ करने वाले को प्रोत्साहन मिलता है। गवामयनम् के संबंध में हमने ऐतरेय संहिता से जो अवतरण दिया है उसके अंत में कहा ही है कि जो इस बात को जानता है अर्थात् जो इन गउओं की भांति यज्ञ करेगा वह भी उनकी ही भांति लोगों का प्रेमास्पद हो जायगा। और उनसे चारुता प्राप्त करेगा। अतः यहाँ गउओं का अर्थ अहोरात्रादि करने की आवश्यकता नहीं है। इसे अर्थवाद मानना चाहिये और यह समझना चाहिये कि मनुष्यों ने यज्ञ किया। उद्देश्य यह था कि गउओं को खुर और सींग निकल आयें। दस महीने के यज्ञ के बाद यह उद्देश्य सिद्ध हुआ। खुर और सींग निकले। पर कुछ लोग बारह महीने तक यज्ञ करते गये। फलतः खुर और सींग तो चले गये पर ऊर्ज-बल-की प्राप्ति हुई। यह लोग भी दशमासिकों की भांति लोकप्रिय हुए। इसका अर्थ तो यह समझ में आता है कि लोगों ने वर्षा के लिये यज्ञ किया। दस महीने के यज्ञ के बाद

वर्षारम्भ में नये बादल देख पड़े। यह बादल आकाश में इधर उधर उठते थे, इनकी फटी कोर खुर सींग जैसी प्रतीत होती थी। कुछ लोग उस समय यज्ञ बन्द कर देते थे। अब बादल तो आ ही गये, वर्षा होगी ही, ऐसा मानकर उठ जाते थे। परन्तु कुछ लोग मेघदर्शन मात्र से सन्तुष्ट न होते थे। बादल आकर भी तो चले जा सकते हैं। अतः वह यज्ञ जारी रखते थे। फलतः कटे छँटे बादल लुप्त हो जाते थे—खुर और सींग गिर जाती थीं—और उनकी जगह सारे नभोमण्डल पर छा जाने वाले बादल आ जाते थे। इन बादलों में ऊर्ज शक्ति, अन्नादि उत्पन्न करने की शक्ति, होती थी। यह दूसरे याजक पूरे साल भर तक यज्ञ करके उठते थे। इस यज्ञ के फल स्वरूप वृष्टि हुई, धनधान्य की वृद्धि हुई, इस लिये यज्ञ करने वाले जनता के स्नेह पात्र हुए। आगे भी जो इस यज्ञ को करेगा वह यह फल पायेगा। दास की इस व्याख्या में कोई खींचातानी नहीं प्रतीत होती, जैसी कि तिलक की व्याख्या में है। उनको एक ही छोटे से आख्यान के दो पास पास के वाक्यों को समझाने के लिये कई हजार वर्ष पीछे जाना पड़ता है और फिर भी आख्यान के कई अंशों का कोई सन्तोषजनक अर्थ नहीं निकलता। अतः इस सत्र या इसी प्रकार के अन्य वार्षिक सत्रों से ध्रुवप्रदेश के पक्ष की पुष्टि नहीं होती।

तिलक ने रात्रिसत्रों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। कई ऐसे यज्ञ हैं जो रात्रिसत्र या रात्रिक्रतु कहलाते हैं। यह नाम यह बतलाता है कि यह यज्ञ रात में किये जाते थे। इनमें से कोई एक रात में समाप्त होता था, कोई दसमें, पर सबसे लंबा सत्र सौ रात्रि तक जाता था। मीमांसकों का मत है कि यहां रात्रि का अर्थ दिन करना चाहिये। यदि यह मान भी लिया जाय तब भी यह प्रश्न रह जाता है कि यह सत्र अधिक से अधिक सौ रात्रि (या सौ दिन या सौ दिन-रात) तक ही क्यों होते थे। प्राचीन ग्रंथकारों ने तो न यह प्रश्न उठाया है, न इसका उत्तर दिया है। तिलक ने प्रश्न भी उठाया है और उत्तर भी दिया है। वह कहते हैं कि यह सौ रात का सत्र ध्रुवप्रदेश के किसी ऐसे प्रदेश

की याद दिलाता है जहां सात महीने तक दिन होता था। एक-एक महीना सवेरे संध्या में चला गया। अब तीन महीने के लगभग वच गये। यह वहां को लंबी रात हुई। यदि ३६५ दिन का वर्ष माना जाय तो ९५ दिन वचे। इसी से यह क्रतु सौ रात (या रात दिन) तक चलता है। यह लंवो रात वह समय था जब कि इन्द्र की वृत्र, वल आदि असुरों से लड़ाई होतो थी। यह कैसे हो सकता था कि इन्द्र तो युद्ध में व्यस्त हों और उनके उपासक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। उधर इन्द्र लड़ते थे, इधर यज्ञ करके लोग उनको सोमपान कराते थे, उनका प्रोत्साहन करते थे, यशोगान करते थे।

इस विषय में हमको इतना ही कहना है कि हम पहिले अध्यायों में देख चुके हैं कि इन्द्र और वृत्रादि की लड़ाई वर्षा काल से सम्बन्ध रखती थी, ध्रुवप्रदेश से नहीं। अतः यह सत्र वर्षा के तीन महीनों में किया जाता था। तिलक ने लाट्यायन श्रौत सूत्र से एक वाक्य उद्धृत किया है जो रात्रिसत्रों का समय वतलाता है। वह वाक्य यह है :—

समाप्ते वा संवत्सरे रात्रिसत्रेषु राजानं क्रीणीयुः।

वर्ष (अर्थात् वार्षिक सत्र) के समाप्त होने पर रात्रि-सत्रों में राजा (सोम) को मोल लिया जाय।

वार्षिक सत्र गवामयन दस महीने पर समाप्त हो सकता था जव कि गउओं को सींग और खुर निकल आते थे। उसके वाद वर्षा होगी और रात्रि सत्र होते रहेंगे। उसी समय सोम मोल लेने का आदेश है।

ऋग्वेद में इन्द्र को शतक्रतु कहा है। इसका एक अर्थ तो है सौ अर्थात् सैकड़ों शक्तियों वाला अर्थात वड़ा वलवान और विभूति-मान। दूसरा अर्थ है सौ यज्ञों वाला। तिलक का अनुमान है कि चूँकि इन्द्र के लिये शतरात्र यज्ञ होता था इसलिये वह शतक्रतु कहलाते हैं। यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है। पुराणों में कहा गया है कि जो सौ अश्वमेध यज्ञ करता है वह इन्द्र पद पाता है। अश्वमेध भी सोम सत्रों में से ही है पर उसकी अवधि घोड़े की यात्रा के ऊपर निर्भर करने के कारण अनिश्चित है। सम्भवतः यह पौराणिक विश्वास वैदिक काल की इस प्रथा

की स्मृति है कि इन्द्र के लिये यज्ञ करने वाले सौ रातों तक सत्र किया करते थे। अवेस्ता में वेरेथ्रघ्न को मेषहे सतोकरहे—सत (शत-सौ) शक्तियों वाला मेष (मेढ़ा) कहा है। ऋक् ८—२,४० में कहा गया है कि मेध्यातिथि की सहायता के लिये इन्द्र मेष बने थे।

तिलक का अनुमान है कि सतोकरहे का अर्थ सौ शक्तियों वाला नहीं वरन् सौ क्रतुओं (यज्ञों) वाला है। यह सौ दिन रात जब कि यज्ञ होता रहता था इन्द्र के लिये गहरी लड़ाई के दिन थे। लड़ाई का कुछ अनुमान इस मंत्र से होता है :—

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वीः ।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै ॥

(ऋक् २-१४, ६)

हे अध्वर्युओ, जिस इन्द्र ने शम्बर के सौ पुराने पुरों को वज्र से तोड़ डाला, जिसने वर्ची के सौ-हज़ार, बहुत से, लड़के मार डाले, उसको सोम पिलाओ।

शंवर का अर्थ है जल को ढकने वाला। यही शब्द जादू टोना करने वालों की बोली में सामरी हो गया। यह शंवर आदि असुर क्या करते थे यह इसी मंत्र के चार मंत्र आगे वतलाया गया है। उसमें (ऋक् २—१४,२) में अध्वर्युओं से कहा गया है कि वह उस इन्द्र को सोम पिलावें '*यो अपो वव्रिवांसं वृत्र जघानाशन्येव वृक्षम्*' जिसने पानी को ढंकने वाले वृत्र को उस प्रकार मारा जिस प्रकार विजली वृक्ष को मार डालती है। यह शब्द इस वात को स्पष्ट कर देते हैं कि जिन सौ दिनों तक रात्रि सत्र होता रहता था उनमें इन्द्र उत्तरी ध्रुवप्रदेश की सौ दिनों की लंबी रात के अंधेरे से नहीं वरन् वर्षा के काले वादलों से और उनके घिर आने से उत्पन्न अंधेरे से लड़ते रहते थे। पुरों को तोड़ने के कारण ही इन्द्र के पुरभिद् और पुरंदर नाम पड़े।

किसी समय सभी आर्य्यों में वर्ष की गणना दस महीने की होती थी, जो कि ध्रुव प्रदेश के दस महीने के लंबे दिन के कारण ही

हो सकता था, इसके प्रमाण में तिलक यह बात पेश करते हैं कि रोमन वर्ष के पिछले चार महीनों के नाम सेप्टेम्बर (सप्तम मास), आक्टोबर (अष्टम मास), नावेम्बर (नवम मास) और डेसेम्बर (दशम मास) हैं। यदि मान भी लिया जाय कि रोमन लोग आर्य्य थे तो भी यह बात समझ में नहीं आती कि ध्रुवप्रदेश में दस ही महीने का वर्ष क्यों हो। यदि वह लोग अपने लंबे दिन का ठीक ठीक विभाग करके उसके दस महीनों में बाँट सकते थे तो रात को इसी प्रकार दो महीनों में बाँटने में कौन सी बाधा थी ? यह तो था ही नहीं कि रात लगते ही वह घोर मूर्छा में पड़ जाते थे और फिर नये दिन के उदय होने पर ही जागते थे। जब वह इस अँधेरे में जागते रह कर रात्रिसत्र करते थे, और इस लंबी रात को दिनों में बाँटने की क्षमता रखते थे, तो फिर महीनों में क्यों नहीं बाँट पाते थे और वर्ष की गणना में इन दो महीनों को क्यों नहीं जोड़ते थे ? कहा जाता है कि न्यूमाने रोमन पञ्चाङ्ग का सुधार किया। इसके विषय में दो जनश्रुतियां हैं। प्लूटार्कने न्यूमा के जीवन-चरित में लिखा है कि कुछ लोग कहते हैं कि उसने वर्ष में, जो उसके समय तक दस महीने का होता था, दो महीने जोड़े, दूसरों का कहना है कि उसने दो पिछले महीनों को वर्ष के आरंभ में कर दिया। तिलक पहिली कथा को ठीक मानते हैं। हमारी समझ में दूसरी ठीक है। न्यूमा के पहिले वर्ष मार्च से आरम्भ होता होगा। तब सेप्टेम्बर आदि चार महीने सचमुच सातवें, आठवें, नवें और दसवें मास रहे होंगे। इनके बाद जनवरी और फरवरी आते होंगे। न्यूमा ने वर्ष को जनवरी से आरम्भ किया। इससे सेप्टेम्बर आदि के नाम तो वही पुराने रह गये पर इनके स्थान नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें हो गये।

सत्रहवां अध्याय

वैदिक आख्यान

(क) अवरुद्ध जल

वेदों में सैकड़ों कथाएं भरी पड़ी हैं। इनमें से कई तो परिवर्धित और परिवर्तित रूप में पुराणों में भी आगयी हैं और गाँव गाँव में फैल गयी हैं, कुछ का ऐसा प्रचार नहीं हो सका। इन आख्यानों की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है और हुई है। इन पद्धतियों को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक व्याख्याता ऐसा मानता है कि वेद मनुष्य को मोक्षमार्ग बतलाने के लिये प्रकट हुए हैं। कहीं कहीं तो मोक्ष का उपदेश स्पष्ट रूप से दिया जाता है, कहीं कहीं किसी कथा का रूपक बाँधा गया है। अध्यात्मवादियों के अनुसार बहुत से मंत्रों में सत्य, धर्म्म आदि की महिमा गायी गयी है और अधर्म्म, असत्य आदि की निन्दा की गयी है। आधिदैविक व्याख्याकार ऐसा मानता है कि देव दैत्यादि की सत्ता वस्तुतः थी और है। सूक्ष्म देहधारी होने के कारण हमको सामान्यतः इनका साक्षात्कार नहीं होता। यों भी कह सकते हैं कि जो महाशक्ति—उसको ईश्वर कहिये या किसी और नाम से पुकारिये—इस जगत् का परिचालन कर रही है वह अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। वही वायु नाम से हवा बहाती है, वही अग्नि नाम से जलाती है, वही ब्रह्मा नाम से सृजन करती है, वही सूर्य नाम से प्रकाश देती है, इत्यादि। प्रत्येक वेद मंत्र किसी अवसर विशेष पर किसी ऋषि के द्वारा प्रकट हुआ है और उसका समुचित ढंग से उपयोग करने से तत्तत् दैवी शक्ति जागती है और काम देती है। कोई देव विशेष पुरुष वर्ग में हो या स्त्री वर्ग में, उसको उन मंत्रों का, जिनके द्वारा उसकी शक्ति उद्बुद्ध की जाती है, देवता कहते हैं। हिन्दी में

देवता का प्रयोग पुँलिंग में भी हो जाता है पर वह वस्तुतः स्त्रीलिंग शब्द है और शक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। शक्तिधारियों को लिंग-भेद से देव या देवी कहना चाहिये। इन्द्र, अग्नि, वरुण देव हैं, उषा देवी हैं परन्तु जिन मंत्रों का अग्नि या इन्द्र या उषा से सम्बन्ध है उनके साथ यह कहा जायगा कि इस मंत्र की देवता उषा हैं, इसकी देवता अग्नि हैं, इसकी देवता इन्द्र हैं क्योंकि इन मंत्रों में उन शक्तियों का आह्वान होता है जिनको इन्द्रादि में पुञ्जीभूत मानते हैं या इन नामों से पुकारते हैं।

आधिभौतिकवादी भी दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो ऐतिहासिक कहलाते हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि जिन लोगों को देव दैत्य आदि कहा गया है वह सचमुच भले या बुरे मनुष्य थे। उनके पराक्रम की स्मृति लोकबुद्धि पर अपनी गहिरी लीक छोड़ गयी और सैकड़ों हज़ारों वर्षों के हेरफेर में वह देव-दैत्य कहलाने लगे। देवों के वास्तविक या काल्पनिक गुणों पर मुग्ध होकर लोग उनकी पूजा तक करने लगे। अधिभूतवादियों में दूसरी शैली यास्क और दूसरे नैरुक्तों की है। यह लोग प्रत्येक मंत्र को किसी प्राकृतिक दृग्विषय का वर्णन मानते हैं। प्राचीन नैरुक्त इन मंत्रों में या तो अँधेरे और उजाले की लड़ाई, सवेरे के समय अँधेरे को टालकर उषा का निकलना, सूर्य का उदय होना, आकाश में घूमना, पाते हैं या बादलों का घिरना, सूखा पड़ना, बिजली चमकना, मेघ गर्जन, वर्षा, नदियों में बाढ़ आना, देखते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों को यहाँ वसन्त और जाड़े के संघर्ष की ध्वनि मिलती है। तिलक ने इन्हीं मंत्रों में ध्रुव-प्रदेश के दृग्विषयों के वर्णन की छाया पायी है।

इन शैलियों में कौन सी शैली ठीक है यह नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार देगा। जो श्रद्धालु मनुष्य शुद्ध अध्यात्म या अधिदैववादी है वह जहाँ तक व्याख्या कर सकेगा करेगा, जहाँ बुद्धि काम न करेगी वहाँ यह मान लेगा कि यह विषय गम्भीर है, सामान्य बुद्धि इसका ग्रहण नहीं कर सकती, जिसकी बुद्धि यज्ञ यागादि कर्म्मानुष्ठान और योगाभ्यास द्वारा परिष्कृत

होगी वह समझ सकेगा। ऐतिहासिक का भी मार्ग कुछ हद तक सरल है। परन्तु जो मनुष्य नैरुक्त शैली पर चलना चाहता है या इस शैली को और शैलियों के साथ मिलाना ठीक समझता है उसका मार्ग कठिन है। वह किसी मंत्र को यह कह कर नहीं छोड़ना चाहेगा कि इसका विषय अदृश्य है या केवल योगी के समझने योग्य है।

एक ही मंत्र का कई प्रकार अर्थ कैसे हो सकता है उसका एक छोटा सा उदाहरण पर्याप्त है। इन्द्र ने वृत्र को मारकर गउओं को छुड़ाया, यह कथा बार बार आती है। वृत्र का अर्थ है ढकने वाला। दर्शनों के अनुसार अविद्या या अज्ञान ने अन्तःकरण को ढक लिया है, यही जीवात्मा के बन्धन का कारण है। गो शब्द दार्शनिक परिभाषा में इन्द्रियों के लिये भी आता है और वाणी का भी नाम है। अतः इस वाक्य के कम से कम इतने अर्थ तो हो ही सकते हैं :—

(१) ज्ञान ने अज्ञान को दूर कर दिया और इन्द्रियों को जो इस अविद्या के कारण क़ैद थीं अर्थात् विषयाभिमुख जाने के लिये विवश थीं मुक्त कर दिया या स्वस्थ कर दिया। अब वह इन्द्र अर्थात् ज्ञान की प्रेरणा के अनुसार चलने लगीं। प्रकाश की किरण के अर्थ में गो को लेकर कह सकते हैं कि ज्ञान ने अविद्या का नाश कर दिया और प्रकाश की किरणें मुक्त हो गयीं अर्थात् आत्मा अपनी स्वयंज्योति, अपने स्वरूप में स्थित हो गया। यहाँ ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्षसिद्धि का उपदेश है।

(२) धर्म्म ने अधर्म्म को जीता और वाणी को मुक्त किया। जब तक समष्टि में, समाज में, अधर्म्म रहता है तब तक वाणी का दुरुपयोग होता है। वह पारमार्थिक विषयों की सेवा में प्रयुक्त न होकर भौतिक विषयों के पीछे चलती है। अब वह फिर सदुपयोग में लगी। अथवा जब व्यक्ति ने धर्म्म से अधर्म्म को, सत्य से असत्य को जीता तो उसकी वाणी मुक्त हुई, उसको क्रियाफलाश्रयित्व प्राप्त हुआ। जो उसके मुँह से निकला वह हुआ। योग दर्शन कहता है कि सत्य के अभ्यास की चरम सीमा में ऐसा ही होता है। यहां धर्म्म या सत्य का माहात्म्य दिखला कर उसके लिये प्रेरणा की गयी है।

(३) इन्द्रनामक देव ने वृत्र नामक दैत्य को मारा अर्थात् उन दिव्य, लोकहितकर, शक्तियों ने जिनका सामूहिक नाम इन्द्र है उन लोक संतापकारी शक्तियों को, उन उपद्रवों को, शमन किया जिनका सामूहिक नाम वृत्र है और उन शक्तियों को, जो धनधान्य की वृद्धि करने के कारण गउ कहलाती हैं, मुक्त कर दिया।

(४) इन्द्र नामक महाशक्तिमान पुण्यात्मा नरेश ने वृत्र नामक बलवान और दुष्ट राजा को मार डाला और उन गउओं को, जिन्हें वह लूट ले गया था, छुड़ा लिया।

(५) प्रकाश ने अन्धकार पर विजय पायी, रात गयी दिन आया और सूर्य्य की किरणें देख पड़ने लगीं।

(६) बादल फटे और जल धारा फूट पड़ी या सूर्य्य की किरणें जो छिप गई थीं फिर देख पड़ीं।

(७) ध्रुव प्रदेश की लंबी रात समाप्त हुई और उषा का उदय हुआ। इनमें से कई अर्थ एक में मिलाये भी जा सकते हैं। यह सम्भव है कि (४) ऐतिहासिक घटना सत्य हो और किसी वास्तविक मानव इन्द्र ने किसी वास्तविक मानव वृत्र को मारा हो। उसी को लेकर एक ओर तो (५), (६), (७) में से किसी एक दृग्विषय का (या युगपत् सब का) वर्णन किया गया हो और दूसरी ओर उसी रूपक में (१), (२) और (३) के आध्यात्मिक या आधिभौतिक तथ्यों को भी कह दिया हो।

यद्यपि कौन सा अर्थ लिया जाय यह अपनी अपनी श्रद्धा और रुचि पर निर्भर करता है फिर भी साधारणतः यह देखने का प्रयत्न किया जाता है कि मंत्रों की कहां तक निरुक्ति हो सकती है। सम्भव है कि यह शैली वस्तुस्थिति से विपरीत हो। एक मत तो यह है ही कि वेद उन अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं जिनको मनुष्य अपनी बुद्धि से नहीं निकाल सकता। अमुक यज्ञ करने से अमुक फलकी प्राप्ति होगी यह बात मनुष्य किसी अन्वेषण से नहीं पा सकता। यज्ञ करने पर फल होता है या नहीं इसकी जाँच

की जा सकती है परन्तु यज्ञ किसी ज्ञात प्रकार से नहीं ढूँढ़ निकाला जा सकता। इसी लिये मीमांसा दर्शन में जैमिनि कहते *चोदना लक्षणोऽर्थोधर्म्मः । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्*—धर्म्म का लक्षण है चोदना, यह प्रेरणा कि ऐसा करो; वेद का प्रामाण्य इसी बात में है कि वह ऐसी प्रेरणा करता है। वेद कहता है कि अमुक यज्ञ करो। इस लिये उस यज्ञ का करना धर्म्म है। उस यज्ञ के करने से जो लाभ वेद बतलाता है वह लाभ सचमुच होता है, इस लिये वेद प्रामाणिक है। यह तर्क अकाट्य है। यदि सचमुच वेदविहित यज्ञों से निर्दिष्ट फलों की प्राप्ति होती है तो फिर और कुछ कहने सुनने की जगह नहीं रह जाती। जिस मनुष्य का ऐसा विश्वास या अनुभव है उसके लिये वेद-मंत्रों को प्राकृतिक दृग्विषयों का वर्णन करने वाली कविताओं का संग्रह बताना वेद का अपमान करना है। सूर्य्योदय हुआ, प्रभात हुई, रात हुई, अँधेरा हुआ, सूखा पड़ा, पानी बरसा, सर्दी पड़ी यह बातें मनुष्य आप जान लेता है, इनको बताने के लिये ईश्वर को कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कुछ पुराने कवियों ने इन बातों का सुन्दर वर्णन किया है तो उनकी कविता पढ़ी जा सकती है, उसका रसास्वाद किया जा सकता है, उसकी पूजा नहीं की जा सकती।

यह बात ठीक है परन्तु उन लोगों में भी जो वेद को परम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उसको श्रुति और अपौरुषेय मानते हैं, नैरुक्त शैली चली आ रही है। निरुक्त की गणना वेद के छः अंगों में है। यास्क ने बहुत से देवादिवाची शब्दों के प्राकृतिक अर्थ किये हैं और परम आस्तिक सायण ने भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वानों के सामने, जिनके लिये वेद धर्म्म का आधार नहीं है, व्याख्या का दूसरा मार्ग ही नहीं है।

तिलक का कहना है कि यह मार्ग प्रशस्त है परन्तु अब तक इसका पूरा पूरा उपयोग नहीं हो सकता। भारतीय नैरुक्त केवल भारत के जलवायु, सूर्य्य, दिन-रात, ऋतुक्रम आदि से परिचित थे इस लिये वह सब मंत्रों का अर्थ इन्हीं बातों पर घटाते थे। पश्चिम वालों का

भौगोलिक ज्ञान इनसे अधिक विस्तृत था पर उनका ध्यान मध्य एशिया या वायव्य यूरोप पर केन्द्रीभूत रहता था। दोनों असफल हुए। अब जब कि यह सिद्ध हो गया है कि एक ऐसा समय था जब ध्रुव प्रदेश में रहना सम्भव था तो मंत्रों के अर्थ को ठीक ठीक समझने की कुंजी हमारे हाथ में आ गयी है। कई कथाएँ ऐसी हैं जो अन्यथा किसी प्रकार समझ में आ ही नहीं सकतीं।

उदाहरण के लिये इन्द्र और वृत्र की कथा लीजिये। इन्द्र का वृत्र, वल, शुष्ण आदि दैत्यों को मार कर गउओं अर्थात् जलों या प्रकाश की किरणों को मुक्त करना सैकड़ों मंत्रों का विषय है। पर जिन लोगों ने यह अर्थ लगाया है वह कहीं-कहीं असफल हो जाते हैं क्योंकि जिस बादल-वर्षा, दिन-रात से वह परिचित थे उस पर मंत्र घटते नहीं। फिर, प्रत्येक मंत्र में एक ही राग का अलाप सुनते-सुनते जी ऊब जाता है। आखिर आजकल भी यह बातें होती हैं, इन पर कवि लोग रचनायें भी करते हैं पर न तो इन दृश्यों के पीछे कोई पागल हो जाता है, न यह कविता का एक मात्र विषय है, न ऐसी कविता अन्य कविता से विलक्षण मान कर पुजती ही है। यदि यह मान लिया जाय कि उन दिनों यज्ञ-याग होते थे अतः इन बातों का अधिक महत्व था, फिर भी कई बातें अंधेरे में रह ही जाती हैं।

तिलक कहते हैं कि इन्द्र और वृत्र के युद्ध में इन्द्र की विजय से चार परिणाम युगपत् निकलते बतलाये गये हैं: (क) गउओं का उद्धार (ख) जलों का उद्धार (ग) उषा का उदय और (घ) सूर्य्य का उदय। उषा के उदय के उपरान्त सूर्य्य का उदय होना अवश्यम्भावी मान लिया जाय, तब भी (क), (ख), और (ग) रह जाते हैं। यदि गो शब्द का अर्थ जल किया जाय तो (क) और (ख) में कोई भेद नहीं रह जाता परन्तु बहुत से स्थलों पर अंधेरे को हटा कर प्रकाश के निकलने का उल्लेख है। अतः यह मानना चाहिये कि इन्द्र के हाथों जल और प्रकाश दोनों पर से पर्दा हटा। अब यह सोचने की बात है कि इन बातों के साथ उषा के उदय होने का क्या सम्बन्ध हो सकता

है। यदि वृत्र अन्धकार और बादल का नाम है तो वह जब भी घिर आयेगा प्रकाश को ढक लेगा और उसके गर्भ में जल होगा। अतः उसके फटने पर प्रकाश और जल का उद्धार होना कह सकते हैं। परन्तु ठीक प्रभात के समय क्षितिज पर बादल का होना नित्य के अनुभव की बात नहीं है। ऐसा कभी कभी ही होता है, अतः बादल के नाश होने पर उषा का उदय होना आकस्मिक सी बात है जो साल में दो चार बार ही होती होगी। ऐसी दशा में वेदों में इसका इतना विस्तार से ऐसा वर्णन कि जैसे वृत्रवध के बाद उषा का उदय होना अनिवार्य्य रूप से होता ही है समझ में नहीं आता। यदि वेद अनिवार्य्यता नहीं भी दिखलाते तो भी बादलों के हटने और उषा के देख पड़ने का साथ जैसा वह दिखलाते हैं वैसा सामान्यतः वर्षा में देख नहीं पड़ता।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के पन्द्रहवें सूक्त के छठें मंत्र में कहा है :—

सोदञ्चं सिन्धुमरिणान्महित्वा ।

उस (इन्द्र) ने अपनी शक्ति से सिन्धु को (नदी को) उदञ्च (उत्तर को अथवा ऊपर को) बहने वाली कर दिया।

यह बात—नदी का उलटा बहना—वर्षा ऋतु में कहीं देख नहीं पड़ता।

इन्द्र और वृत्र की लड़ाई के संबंध में कई जगह पर पर्वत, गिरि, अद्रि शब्द आते हैं, जैसे :—

भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥

(ऋक् २-१५,८)

अंगिरों से स्तूयमान होते हुए इन्द ने वल (नामक असुर) को मारा तथा पर्वत के (शिलाओं से) दृढ़ किये हुए द्वारों को खोला। इन (पर्वतों) के कृत्रिम (क्रिया द्वारा) बन्द (किये गये) द्वारों को खोला।

नैरुक्त इन पर्वतादि शब्दों का अर्थ बादल करते हैं क्योंकि यही अर्थ उनके वर्षा वाले सिद्धान्त से मिलता है पर यह विचारणीय है कि

वेदों ने मेघ और अभ्र जैसे प्रचलित शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं किया। फिर, आठवें मंडल के ३२वें सूक्त का २६ वां मंत्र कहता है:—

अहन्वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम् । हिमेनाविध्यदर्बुदम् ॥

दीप्तिमान इन्द्र ने वृत्र को, और्णवाभ को और अहीशुव को मारा। (उन्होंने) अर्बुद को हिम से विद्ध किया।

नैरुक्त इस मंत्र में अर्बुद, का अर्थ बादल और हिम का अर्थ जल कर देते हैं। पर हिम का अर्थ तो वर्फ़ है। यह ठीक है कि वर्फ़ जल से ही बनती है पर सीधा अर्थ छोड़ कर इतनी दूर जाना अनुचित है। अर्बुद चाहे कोई असुर हो चाहे कुछ और पर वह वर्फ़ से छेदा गया। वर्सात में वर्फ़ नहीं पड़ती अतः बादल का वर्फ़ से छेदा जाना नहीं कहा जा सकता।

वृत्र के जिन सौ पुरों को भेदने के कारण इन्द्र का पुरन्दर नाम पड़ा उनको शारद कहा गया है। इसका समाधान यों किया जाता है कि किसी समय वर्षा और शरत् एक में गिने जाते थे परन्तु दशम मण्डल के ६२वें सूक्त के २२वे मन्त्र में कहा गया है कि वल परिवत्सरे—वर्ष के अन्त में मारा गया। यदि वर्षा और शरत् को एक माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि उन दिनों वर्ष का अन्त वर्षा-शरत् में होता था पर इसका कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता। यह मानना कठिन है कि जहाँ जहाँ शरत् का नाम आये वहाँ वहाँ वर्षा का अर्थ किया जाय। वर्षा का सीधे नाम न लेने का कोई कारण समझ में नहीं आता। एक मन्त्र तो वह तिथि तक वतलाता है जब इन्द्र ने एक असुर को मारा। वहाँ शरत् का ही उल्लेख है, यथा:

यः शंवरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥

(ऋक् २—१२, ११)

जिसने पर्वत में छिपे हुए शंवर को चालीसवें शरत् में ढूंढ़ निकाला, जिसने (उस) बलवान दानव अहि को मारा, हे लोगो वह इन्द्र है।

अब *जीवेम शरदः शतम्*—हम सौ शरत् जियें—ऐसे प्रयोग में शरत् का अर्थ वर्ष होता है। उसी प्रकार यदि यहाँ भी शरत का अर्थ वर्ष किया जाय और नैरुक्त पद्धति के अनुसार पर्वत का अर्थ बादल किया जाय तो मंत्र की पहिली पंक्ति का अर्थ होगा कि शंबर बादल में चालीस वर्ष तक छिपा रहा। सायण ने यही अर्थ लिया है। वह कहते हैं कि शंबर *इन्द्राभया*—इन्द्र के डर से—छिपा रहा, परन्तु चालीस वर्ष तक किसी के बादलों में छिपने का अर्थ क्या होगा? ऐसा तो कोई भी बादल नहीं होता जो इतने दिनों तक लगातार चला जाय, फिर शंबर छिपा कहाँ और कैसे? यहाँ तो प्रचलित नैरुक्त शैली काम नहीं करती।

तिलक कहते है कि शैली निर्दोष है पर इसके साथ ही अपूर्ण है। अपूर्णता का कारण यह है कि हमारे विद्वानों और उनके यूरोपियन अनुयायियों को इस बात का पता न था कि कभी आर्य लोग ध्रुवप्रदेश में बसते थे और वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों को देख चुके थे। यदि यह बात सामने रख ली जाय तो वह सब अंश जो यों समझ में नहीं आते स्पष्ट हो जायं।

ध्रुवप्रदेश का अँधेरा एक दो दिन का नहीं, कई महीनों का होता था। उस अन्धकार रूपी वृत्र के मारे जाने पर उषा का, सूर्य्य का तथा प्रकाश का छुटकारा पाकर निकलना प्राकृतिक बात है। यह दृश्य आज भी देखा जा सकता है। उषा का उदय होना आकस्मिक नहीं, अँधेरे, अर्थात् लम्बी ध्रुवनिशा, के अन्त होने पर अवश्यम्भावी है। अर्बुद का हिम से मारा जाना भी समझ में आता है। वहाँ सर्दी में अर्थात् लंबी रात में तुषारपात होता ही है। शंबर का चत्वारिंश्याम् शरदि पहाड़ में मिलना भी सुबोध हो जाता है। इन्द्र को शंबर शरत्ऋतु के चालीसवें दिन मिला। ऋतु वर्ष में छः होते हैं और शरत् चौथा ऋतु है। वर्ष उन दिनों आज कल की ही भाँति वसन्त ऋतु से आरम्भ होता था। शरत् के चालीसवें दिन का अर्थ हुआ वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा के बीत जाने के चालीस दिन बाद। एक महीना तीस दिन का होता है, अतः शंबर वर्ष

के आरम्भ से २२० वें दिन—७ महीना १० दिन पर—मिला। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि वर्ष आरम्भ होने के ७ महीने और १० दिन बाद इन्द्र का शंबर से युद्ध आरम्भ हुआ अर्थात् ७ महीना १० दिन बाद अँधेरा छा गया, दिन का अन्त हुआ, रात का आरम्भ हुआ। यह सात महीने १० दिन का लंबा दिन ध्रुवप्रदेश में ही हो सकता है।

अब रही जलों के मुक्त होने, उनके पर्वतों में से निकलने और ऊपर की ओर बहने की बात। तिलक कहते हैं कि यहाँ पर सभी पुराने और नये टीकाकारों ने भूल की है। यह ठीक है कि कहीं कहीं भौतिक जल और वर्षा का भी उल्लेख है परन्तु अधिकांश स्थलों में वेद ने दूसरी ही वस्तु को लक्ष्य करके गो जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। प्राचीन आर्य्यों का—न केवल वैदिक आर्यों का वरन् पारसियों का भी—यह मत था कि पृथ्वी के ऊपर और नीचे, दाहिने और बायें, उसको चारों ओर से घेरे हुए सूक्ष्म जलकणों का एक मण्डल है। यह जल वाष्प रूप में है। यह निरन्तर गतिशील है और पृथ्वी के चारों ओर घूमता रहता है। चन्द्र, सूर्य्य, तारे इसी की गति से चलते हैं। वृत्र शंबर आदि असुर पृथ्वी के नीचे के प्रदेश में रहते थे। वह इस जल को रोक लेते थे। यह क़ैद हो जाता था। इसकी गति के अवरोध से सूर्य्य की भी गति रुक जाती थी। सूर्य्य जब डूबता था तो महीनों उदय नहीं हो पाता था। इन्द्र जब वृत्र को मारते थे तो जल अपनी गति फिर पाता था। वह ऊपर को उठता था। उसके साथ ही उषा और सूर्य्य भी उठते थे, अर्थात् जल और प्रकाश का उद्धार साथ साथ ही होता था। ऐसा माना जाता था कि क्षितिज पर पहाड़ हैं, उन्हीं में के छिद्रों और खोहों के मार्ग से सूर्य्यादि निकलते थे। वृत्र सैन्य उन मार्गों को बन्द कर देती थी। इन्द्र उनको फिर से खोलते थे। आजकल भी लोग ऐसा मानते हैं कि सूर्य्य उदयाचल पहाड़ से उदय होता है और अस्ताचल पहाड़ पर डूबता है।

इस मत के प्रमाण अवेस्ता में तो पदे पदे मिलते ही हैं, वेदों में भी इसकी ओर पर्याप्त संकेत है :

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयञ्जाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

(ऋक् ७—४९, २)

जो दिव्य जल हैं या जो बहते हैं या जो खोदने से निकलते हैं या जो स्वयं प्रकट होते हैं या समुद्र की ओर जाते हैं, यह सब प्रकाशमान पवित्र करने वाले जल मेरी रक्षा करें।

यहां *दिव्यः आपः*, दिव्यजल, अन्य सब प्रकार के जलों से भिन्न बतलाया गया है। यह दिव्य जल अन्तरिक्ष में सञ्चार करता था। यह दिव्य जल ही जगत् का उपादान कारण है, इसी से क्रमात् जगत बना है। दशम मण्डल के १२९ वें (नासदीय) सूक्त का ३ रा मंत्र कहता है: *तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम्*—आदि में तम से घिरा हुआ तम था; वह अप्रकेत—अप्रज्ञायमान था—और सलिल (जल) था। इसी प्रकार इसी मण्डल के ८२ वें सूक्त के ५ वें और ६ वें मंत्र में कहा गया है कि *गर्भं प्रथमं दध्र आपः*—पहिले जल (था उस) ने गर्भ धारण किया। शतपथ ब्राह्मण (११-१, ६, १) कहता है: *आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास*—आदि में यह (जगत) आपः (जल) सलिल (जल) ही था। यह दिव्य जल पृथिवी के चारों ओर घूमता रहता था ऐसा स्पष्ट लिखा तो नहीं मिलता पर दो लोकों का तथा पृथिवी के ऊपर और नीचे का जिक्र आता है। सातवें मण्डल के ८० वें सूक्त का १ ला मंत्र कहता है कि *विवर्तयन्ती रजसी समन्ते आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा*—एक जगह मिलने वाले दोनों रजसों (लोकों) को (उषा) खोलती और अखिल जगत् को प्रकट करती है। ७ वें मंडल के १०४ वें सूक्त के ११ वें मंत्र में शत्रु को शाप दिया गया है कि वह *तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु*—तीनों पृथिवियों (लोकों) से नीचे जाय और १ ले मंडल के ३४ वें सूक्त के ८ वें मंत्र में अश्विनों को *तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा*—तीनों पृथिवियों (लोकों) के ऊपर चलने वाले कहा गया है। सूर्य के लिये कहा गया

है कि *आ देवो यातु सविता परावतः* (ऋक् १—३५, ३)—सविता परावत् (दूर देश) से आता है और इसके पहिले के मंत्र में सविता को *आ कृष्णेन रजसा वर्तमान :*—कृष्ण (अँधेरे) रजस (लोक) से आवर्तमान (बारबार आने वाला) कहा गया है। इन दोनों मंत्रों को मिलाने से यह बात निकलती है कि यह अँधेरा लोक ही परावत (दूर) है, ऊपर का आकाश नहीं। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि एक जगह (ऋक ८-८, १४ में) परावत को अंबर (आकाश) से भिन्न बतलाया है। इन सब बातों को एक साथ मिलाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्र और वृत्र की लड़ाई न तो प्रतिदिन की उँजाले अँधेरे की लड़ाई है, न वर्षाकाल की, वरन् उसका क्षेत्र अन्तरिक्ष का वह भाग है जो पृथिवी के नीचे है, या यों कहिये कि क्षितिज के नीचे है। जब तक इस अन्तरिक्ष में दिव्य आप, दिव्य जल, या पुरीष (भाप) निर्बाध चलता रहता है तब तक सूर्य्य की भी गति ठीक रहती है परन्तु अवकाश पाकर वृत्र, शंबर आदि असुर इसके प्रवाह को रोक देते हैं। फिर तो सूर्य्य भी थम जाता है। कई महीने के युद्ध के बाद असुर मारा जाता है, जल उन्मुक्त होता है, सूर्य्य का भी छुटकारा होता है। यह पृथिवी के नीचे का प्रदेश वरुण और यम का भी लोक था। यह जो कहा गया है कि वृत्र को मार कर इन्द्र ने नदियों को बहाया, सातों सिन्धुओं के बहाव को मुक्त कर दिया, ओषधियों को उगाया, यह बात भी इसी के साथ घटती है। नदियों से तात्पर्य भौतिक नदियों से नहीं वरन् दिव्य जल की धाराओं से है; सप्त सिन्धुओं से तात्पर्य्य सिन्धु सरस्वती आदि से नहीं सूर्य्य की सात रश्मियों से है। शरत से आरम्भ होकर जब शिशिर के अन्त में यह युद्ध समाप्त होता था और नये वर्ष तथा वसन्त ऋतु के आरम्भ में फिर सूर्य्य के उदय होने का उपक्रम होता था तो नये पौधे भी निकलते ही होंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह सारी बातें ध्रुव प्रदेश में ही संभव थीं।

संक्षेप में तिलक के कथन का यह निचोड़ है और यदि अन्य प्रकार से आर्य्यों का ध्रुव प्रदेश में रहना सिद्ध होता हो, या उसका दृढ़

अनुमान होता हो, तो इस तर्क से उसकी पुष्टि होती है। पर हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि ध्रुवनिवास के मत के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं मिलता। मुझको दुःख है कि जलों के उद्धार के संबंध में जो कुछ उन्होंने कहा है उससे मेरा परितोष नहीं होता।

तिलक का यह कहना ठीक है कि जिन लोगों ने उनके पहिले नैरुक्त शैली से काम लिया उनको इस बात का पता नहीं था कि कभी ध्रुव प्रदेश भी मनुष्य के बसने योग्य था, अतः उन्होंने वेदमंत्रों की व्याख्या करते समय वहां के दृग्विषयों को ध्यान मे नहीं रक्खा। इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि तिलक ने प्राचीन सप्तसिन्धव देश की भौगोलिक स्थिति को ध्यान में नहीं रक्खा। उन्होंने यह खियाल नहीं किया कि आज से दस हजार वर्ष से पहिले इसके तीन ओर समुद्र था। फलतः उन दिनों यहां दूसरे ढंग की ही वर्षा होती थी। जब गर्मी में इन समुद्रों का जल तपता था तो इतनी भाप बनती थी कि तीन महीने तक घनघोर वर्षा होती थी। कभी कभी सूर्य्य देख पड़ जाता होगा परन्तु आकाश प्रायः मेघाच्छन्न रहता था। इसी लिये कहा गया है कि वृत्र के सौ पुर या गढ़ थे जिनको तोड़ कर इन्द्र पुरन्दर या पुरभिद् कहलाये। इसीलिये लगातार सौ दिन तक रात्रिसत्र होता था, जिसने इन्द्र को शतक्रतु की उपाधि दिलवायी। मंत्र उसी घोर अँधेरे को सामने देखते हुए इन्द्र और वृत्र के युद्ध का वर्णन करते हैं। यह युद्ध वर्षा में आरम्भ होता था और शरत् तक जाता था। वर्षा के दो महीने और शरत् के चालीस दिन मिलाकर ६० + ४० = १०० दिन हुए। अतः शरत् के चालीसवें दिन तक रात्रि-सत्र समाप्त हो जाना चाहिये था और वृत्र का अन्तिम गढ़ या पुर भी टूट जाना चाहिये था। इसीलिये यह कहा है कि इन्द्र ने शरत् के चालीसवें दिन शंबर को पाया। पहिली पंक्ति शंबर के पाये जाने और दूसरी उसके मारे जाने का वर्णन करती है। बीच के समय का कहीं जिक्र नहीं है। अतः यह मानना चाहिये कि इन्द्र ने शंबर को जब पाया तभी मारा और शंबर के मरते ही युद्ध समाप्त हो गया। तिलक ने जो

यह माना है कि शरत् की चालीसवीं को युद्ध आरम्भ हुआ, इसका कोई आधार नहीं है। इसमें एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि शंवर के सौ गढ़ थे। शरत् के चालीसवें दिन से यदि लड़ाई आरंभ हुई और एक एक गढ़ प्रतिदिन टूटा तो लड़ाई में सौ दिन लगने चाहियें परन्तु इस प्रकार वर्ष समाप्त होने को चालीस दिन बच रहेंगे।

इन्द्र की विजय के संबंध में कहा गया है कि वह—*परिवत्सरे*—वर्ष के अन्त में हुई। तिलक कहते हैं कि वर्ष वसन्त ऋतु से आरम्भ होता था और वृत्र का वध शिशिर के अन्त में हुआ। परन्तु प्रमाण इसके विरुद्ध है। तैत्तिरीय संहिता (७—५, १, १—२) में जहाँ गवामयनम् का वर्णन है वहाँ कहा है: *तस्मात्तूपरा वार्षिकौ मासौ पर्त्वा चरति*—इसलिये बिना सींग वाली गऊ वर्षा के दोनों महीनों में प्रसन्न होकर चलती है (या चरती है) और इसके बाद के अनुवाक् (७—५, २, १—२) में कहा है: *अर्धावा यावतीर्वाऽऽसामहा एवेमौ द्वादशौ मासौ संवत्सरं संपाद्योत्तिष्ठाम*—(उनमें से) आधी या जितनी ने भी कहा हम दोनों बारहवें महीनों (अर्थात् अन्तिम महीनों) में बैठेंगी और संवत्सर समाप्त करके उठेंगी। यह दो महीने अधिक बैठने वाली तूपरा (बिना सींग वाली) गौएं थीं। इन दोनों वाक्यों को मिलाने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्षा के दो महीने संवत्सर के अन्तिम दो महीने थे। नया वर्ष शरत् से आरम्भ होता था। इसलिये वर्षा के अन्त के लगभग वृत्र के मारे जाने को *परिवत्सरे*—वर्ष के अन्त में—कहना अनुचित नहीं था। अर्बुद का हिम से मारा जाना भी इस ऋतु में हो सकता था। हिम का अर्थ बर्फ़ भी है और ओस भी। कभी कभी वर्षा में भी हिमकण—बर्फ़ की कंकरियाँ—गिरती हैं और वर्षा के अन्त तथा शरत् के आरम्भ से खूब ओस पड़ने लगती है। यही समय वृत्रादि के अन्तिम पराजय का था। शरत् के चालीसवें दिन अर्थात् कार्तिक लगने के दस दिन बाद इन्द्र ने शंवर को मारा अर्थात् वर्षा का पूर्णान्त हो गया। उस समय सूर्य स्वाती या उसके पास के किसी नक्षत्र में रहता होगा। शंवर के सौ

गढ़ों या वृत्र के सौ पुरों के टूटने का बार बार वेदों में उल्लेख है। यदि वर्षा के प्रथम दिन से एक एक पुर या गढ़ वह नित्य तोड़ते तो शरत् के चालीसवें दिन ही अन्तिम गढ़ या पुर टूटता।

वर्ष शरत् से आरम्भ होता था इसका अनुमान इससे भी होता है कि नक्षत्रों की गणना अश्विनी से होती है। इसी नक्षत्र में पूर्णिमा के दिन शरत् के पहिले महीने में चन्द्रमा रहता है, इसी से इस महीने को आश्विन कहते हैं। यदि वर्ष का आरम्भ वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र मास से होता तो सम्भवतः नक्षत्रमाला का आरम्भ चित्रा से माना जाता।

उषा और सूर्योदय का बारंबार वर्णन और वैदिक ऋषियों का इनके उदय होने पर मुग्ध होना देखकर न तो आश्चर्य्य करने की आवश्यकता है न ध्रुवप्रदेश की लंबी रात की कल्पना करने का अवकाश है। वैदिक काल की सबसे बड़ी सामूहिक उपासना यज्ञ के रूप में होती थी। वैदिक आर्य्य के सभी कृत्य, चाहे वह वैयक्तिक हों या राष्ट्रगत, यज्ञयाग के ही चारों ओर केन्द्रीभूत होते थे। कुछ कृत्य एक या अधिक रातों में होते थे और प्रातःकाल, उषा दर्शन के पश्चात्, समाप्त होते थे; कुछ कृत्य उषा दर्शन के बाद ही आरम्भ होते थे। कुछ कृत्य महीनों चलते थे। यह या तो किसी प्रातःकाल से आरम्भ होते थे या किसी प्रातःकाल पर आकर समाप्त होते थे। अतः उन लोगों के जीवन में उषा का, प्रभात का, एक विशेष स्थान था। उसका अनुमान हम लोग, जो उस उपासनाशैली का परित्याग कर बैठे हैं, नहीं कर सकते। इसीलिये पाश्चात्य विद्वान् भी ऊबकर पूछते हैं, क्या उषा ही सब कुछ है, क्या सूर्य्य ही सब कुछ है? सूर्य्य का मनुष्य जीवन से जो सम्बन्ध है उसका प्रभाव यहाँ तक पड़ता है कि चान्द्रमास के अनुसार अपना सारा काम करने वाला सामान्य ग्रामीण भी वर्षा के दिनों में सूर्य्य की गति को नहीं भुला सकता और रोहिणी से लेकर स्वाती नक्षत्र तक सूर्य्य की चाल को याद रखता है।

तिलक के मत का खण्डन करने में दास ने कुछ पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण करके इस बात पर जोर दिया है कि आर्य्यों को पृथिवी

के नीचे के किसी लोक का पता न था। मैं समझता हूँ कि ऐसा मानना ठीक नहीं है। हाँ जहाँ वह दो रजसों का जिक्र करते हैं वहाँ द्यावा-पृथिवी मानना पर्याप्त है। इसी प्रकार कृष्ण रजस से रात्रि मानना ही, जैसा कि प्राचीन टीकाकार कहते हैं, ठीक है। दूर की कल्पना अनावश्यक है। फिर भी, जहाँ वह लोग तीन पृथिवियों या लोकों का, ऊपर के महरादि लोकों का, जिक्र करते हैं वहाँ वह इन तीन पृथिवियों के नीचे का भी नाम लेते हैं। आजकल भूर्लोक के नीचे तल, अतल आदि पाताल तक सात लोक माने जाते हैं। इतना विस्तार चाहे वेदों में न देख पड़े पर बीजरूप से यह बात उनके ध्यान में रही होगी। जहाँ पर मेव्योमन्—परम आकाश—की ओर संकेत है, वहाँ अन्ध तमस और तृतीय धाम की ओर भी संकेत है। ऐसा मानना कि जहाँ वह पृथिवी के नीचे का नाम लेते हैं वहाँ उनका तात्पर्य्य गहिरे गड्ढे से है हठमात्र है। पर इसके साथ ही यह भी भूल है कि यह सब ऊपर नीचे के लोक भौतिक ही थे। वेदों में केवल भौतिक दृश्यों का ही वर्णन है, ऐसा मान कर चलने से काम नहीं चलेगा।

ऐसे कोई लोक हों या न हों पर वह लोग उनकी सत्ता मानते थे। इसी प्रकार *दिव्य आपः*—दिव्य जल—के विषय में भी मानना चाहिये। हो सकता है कि यह प्रयोग उसी जल के लिये किया गया हो जो अन्तरिक्ष में पुरीष—भाप—के रूप में रहता है और फिर नीचे गिरता है। जिस मंत्र को हमने उद्धृत किया है उसमें इसका यही तात्पर्य्य प्रतीत होता है, क्योंकि वहां सभी प्रकार के जलों का—नदियों का, कुओं का, सोतों का—उल्लेख है पर मेघवर्ती जल का नाम नहीं है। अतः अनुमान यही होता है कि इस मेघस्थ जल को ही दिव्य जल कहा है। इसके साथ ही यह भी है कि कहीं कहीं *आपः* शब्द दूसरे अर्थ में आया है। जहां सृष्टि का प्रकरण है वहाँ आरम्भ में सब सलिल था, जल ने गर्भ धारण किया, आदि कहते समय मेघस्थ जल या पार्थिव जल से अभिप्राय नहीं हो सकता। १२९ वें सूक्त के ३ रे मंत्र में जो

सलिल शब्द आया है उसके विषय में सायण कहते हैं: *इदं दृश्यमानं सर्वं जगत्सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आसीत्*—यह सारा दृश्य जगत सलिल अर्थात अपने कारण से मिला हुआ अर्थात् अविभक्त था। शंकराचार्य्य ने भी ब्रह्मसूत्र के *आपः* (२—३, ५, ११) सूत्र के भाष्य के दिखलाया है कि सृष्टि के प्रकरण में श्रुति में आये हुए *आपः* शब्द का तेज आदि के साथ ब्रह्म में अभेद है। इसका अर्थ यह निकला कि जहां यह कहा गया है कि *आपः* ने गर्भ धारण किया या जगत् के मूल में *आपः* थे, वहां तात्पर्य्य अव्याकृत ब्रह्म से है जो अप्रतर्क्य है, जिसका किन्ही विशेषणों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। क्रमशः उसमें क्षोभ होकर जगत् का विकास हुआ। यह आपः न तो बादलों में से गिरने वाला जल है, न नदी समुद्र में वहता है और न कहीं इसके पुरीष या अन्य किसी रूप में अन्तरिक्ष में पृथिवी के चारों ओर घूमते रहने का उल्लेख मिलता है। यह वर्णन मिल सकता भी नहीं क्योंकि जब जगत् का विकास हुआ तो *आपः* का वह रूप भी नहीं रह गया। उसमें विकार उत्पन्न होकर ही तो जगत् बना। तिलक का कहना ठीक हो सकता है कि यहूदी या पारसी या कुछ और लोग भाप से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं और उनके मत में जो भाप जगत् के सृजन से बच रहा वह अब भी अन्तरिक्ष में घूम रहा है परन्तु वैदिक आर्य्यों के विचार इसकी अपेक्षा किञ्चित् सूक्ष्म थे।

एक और बात है। भाप तो नहीं पर ऐसा लोग आज कल भी मानते हैं कि सूक्ष्म प्रवह वायु सूर्य्य चन्द्र तारों को चलाता है। प्रवह का अस्तित्व हो या न हो पर ऐसा कोई नहीं मानता कि उसको कोई आसुरी शक्ति कभी रोक लेती है। मान लिया जाय कि प्रवह को या अन्तरिक्षचारी दिव्य जल को वृत्र ने रोक लिया। फिर क्या होगा ? जल तो क़ैद हो ही जायगा, सूर्य्य, चन्द्र, तारागण का चलना भी बन्द हो जायगा अर्थात् जितने दिनों तक इन्द्र और वृत्र का युद्ध होता रहेगा उतने दिनों तक न तो सूर्य्य के दर्शन होंगे, न चन्द्रमा के, न तारों के। पर न तो वेदों ने कहीं चन्द्रमा और तारों के सौ दिनों तक अदृश्य

रहने का उल्लेख किया है न आज ध्रुव प्रदेश में प्रत्यक्ष में ऐसा होता है। महीनों लंबी रात में चन्द्रमा ज्यों का त्यों घटता बढ़ता रहता है, तारे अपनी गति से चलते रहते हैं। फिर वेद मंत्र अन्तरिक्ष के जलों के क़ैद होने और क्षितिजवर्ती पर्वतों के मार्गों के अवरुद्ध होने की बात कैसे कहते? जिस मार्ग से चन्द्र आ सकता था, उसी मार्ग से सूर्य्य भी आ सकता था; यदि अन्तरिक्षव्यापी जल तारों के लिये चल रहे थे तो सूर्य्य के लिये भी चल सकते थे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्तरिक्षवर्ती जलों की कल्पना निराधार है और यहां ध्रुव प्रदेश का कोई चर्चा नहीं है। तिलक जो सिन्धु को उदञ्च करने का प्रमाण देते हैं वह भी ठीक नहीं है। वह तो इसका अर्थ यह करते हैं कि जल को (अर्थात् दिव्य जल को) इन्द्र ने उदञ्च (ऊपर आने वाला) किया अर्थात् पृथिवी के नीचे से ऊपर को चलाया परन्तु प्रसंग से यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। इससे तीन मंत्र पहिले (ऋक् २—१५, ३ में) कहा है कि इन्द्र ने *वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्*, इन्द्र ने वज्र से नदियों के जाने के द्वार खोदे। फिर दो मंत्र आगे चल कर कहा है कि इन्द्र ने *ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्*, इस बड़ी नदी परुष्णी को ऋषियों के आने जाने के लिये अल्पतोया—थोड़े जल वाली—कर दिया। फिर जब इसी प्रसंग में सिन्धु के उदञ्च किये जाने का उल्लेख है तो सायण का ही अर्थ ठीक प्रतीत होता है कि इन्द्र ने सिन्धु नदी को जो पूर्व से पश्चिम की ओर बह रही थी उत्तरमुखी कर दिया। सिन्धु पहले हिमालय के साथ साथ पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है, फिर कश्मीर पहुँच कर उत्तर की ओर चलती है, फिर घूम कर दक्षिण जाती है। इस सीधे अर्थ को, जिसका समर्थन प्रत्यक्ष होता है, छोड़ कर दिव्य जलों की यात्रा की कल्पना करना व्यर्थ है।

अठारहवां अध्याय

वैदिक आख्यान

(ख) अश्विन

वैदिक साहित्य में अश्विन शब्द नित्य द्विवचन में आता है, क्योंकि अश्विन दो हैं और सदैव साथ रहते हैं। पुराणों में इनको प्रायः अश्विनीकुमार कहा है। मेषराशि के अन्तर्गत जो अश्विनी नक्षत्र है उसमें दो तारे पास पास हैं। सम्भवतः वही अश्विनों के दृश्य रूप हैं। कुछ लोगों के मत से मिथुन राशि के दोनों तारे अश्विन हैं। अश्विनों के दर्शन उस समय होते हैं जब रात का अँधेरा और दिन का उँजाला मिलते हैं। एक मंत्र (ऋक् १०—६१, ४) कहता है :

कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् ।

हे स्वर्ग के रक्षक अश्विनो, मैं तुम्हारा आह्वान उस समय करता हूं जब कि कृष्ण गउएं लाल गउओं से मिलती हैं।

इसका यही अर्थ हो सकता है कि अश्विनों की उपासना का समय वह था जब रात का अँधेरा दिन की धुँधली लालिमा से मिलना है। स्यात् इसीलिये अश्विन दो माने जाते हैं। अश्विनों के बाद उषा और उषा के बाद सूर्य्य का उदय होता है।

अश्विनों की वेदों में बहुत महिमा गायी गयी है। इन्द्र की भाँति उनको भी वृत्रहन् और शतक्रतु की उपाधि दी गयी है। वृत्रबध में वह इन्द्र के सहायक रहे हैं। उनमें इन्द्र और मरुतों के गुणों का इतना प्राचुर्य्य है कि उनको इन्द्रतमा और मरुत्तमा कहा गया है। उनका एक नाम सिन्धुमातरा (सिन्धु-समुद्र-है माता जिनकी) है। इन्होंने युद्ध में दिवोदास, अतिथिग्व, कुत्स आदि की सहायता की और नमुचि से लड़ते समय इन्द्र तक की रक्षा की। उनका निवास [illegible]—

द्युलोक या अन्तरिक्ष के समुद्र में—है। पुराणों में जिस प्रकार मित्र, वरुण आदि अन्य वैदिक देवों का पद गिर गया और वह इन्द्र के पार्षद मात्र रह गये वैसे ही अश्विनों का भी पद गिरा, यहाँ तक कि च्यवन के उपाख्यान में यह कहा गया है कि यज्ञ के समय अश्विनों को अन्य देवों के बराबर बैठने और यज्ञभाग पाने का अधिकार नहीं था। यह अधिकार उनको च्यवन ऋषि ने दिलाया। परन्तु वेदों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के कई सूक्त उनका ही स्तव गान करते हैं और दूसरे स्थानों में भी उनकी प्रशंसा की गयी है। उनका एक विशेष नाम *नासत्य* है। नासत्य का अर्थ हुआ 'न असत्य अर्थात् सत्य'। यह देवयुगल सत्य के विशेष रूप से रक्षक और परि-पोषक हैं।

पुराणों में अश्विनीकुमारों के और किसी पराक्रम का तो विशेष उल्लेख नहीं आता पर वह हमारे सामने देवलोक के वैद्य के रूप में आते हैं। उनका यह रूप वैदिककाल से चला आता है परन्तु वेदों में वह केवल रोगियों को ही अच्छा नहीं करते थे परन्तु सभी प्रकार के दीन दुखियों के सहायक थे। उनके कुछ मुख्य वेदोक्त काम यह हैं :

उन्होंने बूढ़े च्यवन को फिर से युवा बना दिया और उनको कई स्त्रियों का पति बनाया; उन्होंने वृद्ध कलि को पुनः युवा बनाया; उन्होंने विमद के पास रथ पर बैठाकर कमद्यु नामकी पत्नी पहुँचायी; शयु की गऊ, जिसका दूध देना बन्द हो गया था, उनकी कृपा से फिर दूध देने लगी; पिता के घर में बुढ़ापे से आक्रान्त घोपा के लिये उन्होंने वर ढूंढ़ दिया; एक हिंजड़े की पत्नी को उन्होंने हिरण्यहस्त नाम का पुत्र प्रदान किया; विश्पाल की लड़ाई में कटी हुए टाँग की जगह उन्होंने लोहे की टाँग लगा दी; परावृज का अन्धापन और लँगड़ापन दूर कर दिया; एक बटेर की प्रार्थना करने पर उसे भेड़िये के मुँह से बचा लिया। ऋज्राश्व ने अपने पिता की एक सौ एक भेड़ों को मारकर एक भेड़िनी को खिला दिया था। इस पर क्रुद्ध होकर पिता ने उन्हें अन्धा कर दिया; अश्विनों ने दया करके उनकी आँखें अच्छी कर दीं। अत्रि सप्तवध्री (सप्तवध्री=

सात हिंजड़ा) को एक दैत्य ने जलते कुण्ड में डाल दिया था, उनको उसमें से निकाला। वन्दन को चमकता हुआ सोना दिया। रेभ को दुष्टों ने आहत करके हाथ पाँव बाँधकर छिपा दिया था, वह नौ दिन और दस रात पानी में पड़े रहे, अश्विनों ने उनका दुःख दूर किया, तुग्र के पुत्र भुज्यु समुद्र में गिरे, वहाँ से अश्विन उन्हें सौ डांडे के जहाज में निकाल ले गये। उन्होंने उनको अन्तरिक्ष में चलने वाले जहाजों में, उड़ने वाली नाव में, छः घोड़ेवाले उड़ने वाले तीन रथों में रखकर बचाया। उन्होंने अन्धे दीर्घतमा की आँखें ठीक कर दीं।

यह अश्विनों के वेद-वर्णित कामों की संक्षिप्त सूची है। इसमें दुहरा संक्षेप है। एक तो कुछ बातें छूट गयी हैं, दूसरे जिन बातों का उल्लेख है उनका व्योरा नहीं दिया गया है, पर इससे उनके स्वभाव और चरित्र का अनुमान हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि नैरुक्त पद्धति के अनुसार अश्विनों की और उनके कामों की क्या व्याख्या की जाय।

अभी तक इनके संबंध में जो व्याख्याक्रम चलता रहा है उसको वसन्त मत कह सकते हैं। इस मत के अनुसार अश्विनों की सब कथाओं का मूल कथानक एक है: जाड़ों में सूर्य्य की शक्ति का क्षीण होना और वसन्त में उसका फिर स्वस्थ हो जाना। कुछ कथाएँ इस प्रकार समझायी जा सकती हैं। सूर्य्य बटेर है जिसको शीतकाल रूपी भेड़िया खा जाने वाला था पर वह बचा लिया गया। च्यवन (च्यु धातु का अर्थ है क्षय होना, घटना) सूर्य्य है जो सर्दियों में बुड्ढा और शक्तिहीन हो गया था, वसन्त ने उसे फिर बलवान बना दिया। ऐसे ही कुछ और आख्यानों का अर्थ निकल सकता है। परन्तु भुज्यु की कथा का इस प्रकार कोई अर्थ नहीं निकलता। अत्रि सप्तवध्रि, रेभ, ऋज्राश्व आदि के उपाख्यान ज्यों के त्यों रह जाते हैं। पुराने और नये टीकाकार इनकी ग्रंथि को सुलझाने में असमर्थ रहे। वर्तिका (बटेरी) के आख्यान का यह भी अर्थ किया जाता है कि सूर्य्य रूपी भेड़िया उषा रूपी बटेरी को ग्रस लेना चाहता है, उसकी रक्षा की गयी। यदि यह अर्थ मान भी

लिया जाय तब भी सूर्य्य, उषा आदि की सहायता से दूसरे आख्यानों की कोई व्याख्या नहीं हो पाती।

तिलक ने दिखलाया है कि अश्विन-सम्बन्धी आख्यानों में तीन बातें ध्यान देने की हैं और इन्हीं तीन बातों को अब तक के टीकाकार नहीं समझा सके हैं।

पहिली बात तो यह है कि अश्विन अपने कृपापात्रों को प्रायः अन्धकार या अन्धेपन से बचाते हैं। दीर्घतमा अन्धे थे; च्यवन अन्धे थे; ऋज्राश्व अन्धे थे। अत्रि तमस से निकाले गये; भुज्यु जिस जल में पड़े थे वहाँ *अनारम्भणे तमसि*—निराधार (बेपेंदे के) अन्धकार—का ज़िक्र है। अब वसन्त मत से यह बात समझ में नहीं आती। जाड़े में सूर्य्य की शक्ति क्षीण हो जाती है, प्रकाश भी कम हो जाता है, इस लिये उसे लंगड़ा, काना, रोगी यह सब तो कह सकते हैं पर अन्धा नहीं कह सकते। अन्धापन तो पूर्ण अन्धकार के ही साथ आता है। यदि इन कथाओं में नित्य के दिन रात के झगड़े को ढूँढते हैं, तो भी नहीं बनता। सायंकाल तक बुड्ढा होता होता सूर्य्य रात में अन्धा हो जाता है दूसरे दिन फिर स्वस्थ हो जाता है पर यह बातें चौबीस घंटों में समाप्त हो जाती है। यहां वह बात नहीं है।

यही वह दूसरी बात है जिसकी ओर तिलक ने ध्यान आकृष्ट किया है। भुज्यु तीन दिन और तीन रात तक पानी में पड़े रहे; रेभ को दस रातें और नौ दिन बिताने पड़े। वसन्त मत के अनुसार रेभ या भुज्यु सूर्य्य का ही नाम है। जाड़ों में सूर्य्य दक्षिणायन मार्ग से चलता हुआ मकर रेखा तक जाता है। फिर वहां से उत्तर को लौटता है। पर दक्षिण यात्रा के अन्त और उत्तर यात्रा के आरम्भ में गति ऐसी धीमी हो जाती है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य्य वहां कुछ दिनों तक रुक जाता है। पञ्चागों में देखिये तो उधर दो तीन दिनों तक दिन मान प्रायः एक ही दिया रहता है। मोक्षमूलर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वान कहते हैं कि उन दिनों आर्य्यों का ज्योतिष ज्ञान इतना उन्नत नहीं था कि सूर्य्य की सूक्ष्म गति को देख सकें। कोई समझता था कि सूर्य्य तीन

दिन तक टिक जाता है, कोई दस दिन मानता होगा। इसी लिये रेभ दस दिन, भुज्यु तीन ही दिन तक आपन्न रहे। इस व्याख्या के सदोष होने का यही प्रमाण पर्य्याप्त है कि इसके अनुसार यह मानना पड़ेगा कि कुछ लोग दो महीने तक सूर्य्य की गति को नहीं देख पाते थे, नहीं तो दीर्घतमा के आख्यान का कोई अर्थ न होगा। वह तो दसवें युग अर्थात् दसवें मास में वृद्ध हुए थे। परन्तु दो मास तक तो अशिक्षित गंवार भी सूर्य्य का खड़ा होना नहीं मानता। तीन महीने में तो सूर्य्य मकर रेखा से विषुवत रेखा पर आ जाता है। अतः यह मत यहां ठीक लगता नहीं।

तीसरी ध्यान देने की बात यह है कि अश्विनों के साथ जल का संबंध है। वह सिन्धुमातरः हैं अर्थात् समुद्र उनके लिये माता समान है, वह समुद्र के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। भुज्यु को उन्होंने जल में से निकाला है। प्रथम मंडल के ११६ वें सूक्त का ९ वां मंत्र कहता है:

परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम् ।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ॥

(मरुभूमि में) सहनशील यज्ञ करने वाले गोतम की प्यास बुझाने के लिये हे नासत्य, (अश्विनो) तुमने दूर से कुआं उनके पास भेजा और उसको इस प्रकार खड़ा किया कि पेंदा ऊपर हो और मुँह नीचे की ओर हो ताकि उससे पानी गिरता रहे (और गोतम पी सकें)।

यही जिह्मबार (नीचे की ओर द्वार वाला) विशेषण उस सप्तबुध्न (सात पेंदेवाले) समुद्र के लिये आया जिसको ऋक् ८—४०, ५ के अनुसार इन्द्र और अग्नि ने खोला और जिसके इन्द्र स्वामी हुए। गोतम के प्यासे होने की कथा स्थानान्तर में भी आती है।

प्रथम मंडल के ८५ वें सूक्त का १० वां मंत्र कहता है कि गोतम की प्यास बुझाने के लिये मरुतों ने ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं—कुएं को ऊपर की ओर प्रेरित किया और ११ वां मंत्र कहता है कि जिह्मं नुनुद्रेऽवतं—कुएं को नीचा या टेढ़ा प्रेरित किया। कुँआ वही प्रतीत होता है, चाहे उसे अश्विनों ने कहीं से खोद कर भेजा हो, चाहे मरुतों ने। वह ऊपर पड़

कर आया और फिर *जिह्मबार*—मुँह नीचे करके—खड़ा हो गया ताकि गोतम अपनी प्यास बुझा लें। इसी से मिलता जुलता वरुणलोक का यह वर्णन है :

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरिबुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥

(ऋक् १—२४, ७)

शुद्ध बल वाले राजा वरुण ने अबुध्न (बिना पेंदे वाले) प्रदेश में रहते हुए तेज के स्तूप को ऊपर की ओर धारण किया। इस ऊपर पेंदेवाले (स्तूप) की किरणें जो छिपी हुई हैं नीचे की ओर फैली हुई हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि वरुण जल के अधिष्ठाता हैं। जल के स्वामी वरुण का अधोमुख तेज-स्तूप मरुतों या अश्विनों के अधोमुख कुएं से कुछ मिलता जुलता सा प्रतीत होता है और अश्विनों के जल के साथ संबंध की ओर भी पुष्टि के साथ संकेत करता है। कुछ भी हो, रेभ और भुज्यु जल से बचाये गये। जल का अर्थ अन्धकार ले लिया जाय और यह माना जाय कि यहाँ सूर्य्य के अँधेरे में छिप जाने का वर्णन है तो भी यह समझ में नहीं आता कि सूर्य को लगातार तीन अहोरात्र या दस रात और नौ दिन तक अँधेरे ने कैसे घेरा। वसन्त ऋतु के पहिले शिशिर में तो पानी बरसने का भी दिन नहीं है। उस समय सूर्य्य को निरन्तर इतने दिनों तक छिपाने वाला कोई अँधेरा नहीं होता। अतः इन मतों के अनुसार इन आख्यानों का कोई अर्थ नहीं निकलता।

ऋज्राश्व और अत्रि सप्तवध्री के आख्यानों का भी कोई अर्थ इन मतों के अनुसार नहीं निकलता। ऋज्राश्व ने अपने पिता की सौ भेड़ें एक वृकी (मादा भेड़िये) को खिला दीं। इसपर उनके पिता ने उन्हें अन्धा कर दिया। फिर अश्विनों की कृपा से उनकी आँखें अच्छी हो गयीं। यदि भेड़ का अर्थ दिन और वृकी का अर्थ रात माना जाय—वेदों में अंधेरे के लिये ऐसी उपमा अन्यत्र भी आयी है—तो आख्यान का भावार्थ यह हुआ कि एक सौ एक दिन रातों में परिवर्तित होगये

(वृकी के अँधेरे पेट में जाकर तद्रूप हो गये)। फलतः ऋज्राश्व अर्थात् सूर्य्य अंधा होगया अर्थात् छिप गया। फिर अश्विनों ने उसे दृष्टि प्रदान की अर्थात् १०१ दिन के बाद सूर्य्य फिर निकला। इस अर्थ में भी आपत्ति यही है कि एक सौ एक दिनों तक लगातार अँधेरे का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

अत्रि की कथा और भी टेढ़ी है। ऋक् १—११६, ८ के अनुसार अश्विनों ने उन्हें सौ द्वारवाले पीड़ायंत्र गृह से बचाया जिसमें वह फूस की आग से जलाये जा रहे थे; ऋक् ६—५०, १० में वह तमस्—अन्धकार से बचाये गये; और पाँचवें मंडल के ७८ वें सूक्त में वह स्वयं कहते हैं कि उनका उद्धार एक वनस्पति—पेड़ या लकड़ी के बकस—से किया गया। अब यदि इन सब आख्यानों का अर्थ यह कर लें कि सूर्य्य अँधेरे में या रात में फंस गया और फिर कुछ काल के बाद उसका छुटकारा हुआ, जैसा कि अब तक लोग अर्थ करते रहे हैं, तो दो आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। पहिली यह है कि अत्रि को सप्तवध्रि (सात हिंजड़ा) क्यों कहा गया है। रात में वह अपनी पत्नी से अलग रहते हैं अतः उसके लिये हिजड़े के समान हैं अतः यदि उनको वध्रि (हिजड़ा) कह दिया जाता तो कुछ उपयुक्तता होती, पर यह सप्त विशेषण क्यों जुड़ा, यह ठीक समझ में नहीं आता। दूसरी आपत्ति यह है कि ऋक् ५—७८ में अत्रि जहाँ अश्विनों से अपने छुटकारे की प्रार्थना कर रहे हैं वहाँ छः मंत्रों के बाद वह यकायक एक ऐसी बात कह चलते हैं जिसका वहाँ कोई प्रसंग नहीं है। उनके शब्द यह हैं:

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

जिस प्रकार वायु कमलों से मुक्त तालाब को चारों ओर से हिलाता है, उसी प्रकार तुम्हारा गर्भ हिले और दस महीने के बाद निकले।

जैसे हवा हिलती है, जैसे वन हिलता है, जैसे समुद्र हिलता है, वैसे ही तू, हे दस महीने वाले (हिल) और जरायु (झिल्ली) के साथ बाहर आ।

जो कुमार माता (के गर्भ) में दस महीने रहा है वह अपनी जीवित माता के लिये जीवित और अक्षत बाहर निकले।

इन मंत्रों को गर्भस्राविणी उपनिषत् कहते हैं पर यह चीज़ अत्रि के उद्धार की कथा के साथ कैसे मिल गयी यह कोई पुराना टीकाकार नहीं बतला सका। सायण कहते हैं कि वह अपनी पत्नी के शीघ्र प्रसव के लिये प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना तो है ही परन्तु हिंजड़े की सन्तति कैसी होगी ? और यदि उसकी पत्नी गर्भवती हो भी जाय तो भी वह उस बच्चे की भलाई क्यों चाहने लगा। वध्री का अर्थ चमड़े का तस्मा भी होता है। इससे *सप्तवध्रि* का अर्थ सात तस्मों से बँधा हुआ भी किया जाता है। पहिले तो इस अर्थ के ठीक होने में सन्देह है क्योंकि अत्रि के इस प्रकार बाँधे जाने का कहीं उल्लेख नहीं है न उनके इस बन्धन से मुक्त किये जाने का कहीं ज़िक्र मिलता है। फिर यदि यह बात भी मान ली जाय तब भी तो यह गर्भस्राव की बात इस स्थल पर अप्रासङ्गिक ही रहती है।

तिलक कहते हैं कि आर्य्यों के ध्रुवनिवास की बात ध्यान में रखने से यह सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। वहाँ सूर्य्य कहीं कहीं एक दिन-रात अदृश्य रहता है, कहीं तीन दिनरात, कहीं नौ-दस दिनरात, कहीं सौ दिन-रात। अतः सभी कथाएं घट जाती हैं। अन्तरिक्ष के दिव्य जल के समुद्र में सूर्य्य अपने अदर्शन काल में निमग्न रहता है, उसी में से उसका उद्धार होता है। अदर्शन काल में उसको अन्धा कहना अनुचित नहीं है। अत्रि की कथा भी सुबोध हो जाती है। सूर्य्य का ही नाम अत्रि है। सात किरण वाला (सप्तरश्मि), सात घोड़ों वाला (सप्ताश्व) आदि सूर्य्य के नाम हैं ही, उसी प्रकार उनको वध्रि (हिंजड़े) का रूपक देकर सप्तवध्रि कहा है। वह दस महीने तक तो गर्भ में रहता है,

उन दिनों देख पड़ता है, फिर गर्भ से निकलते ही निर्ऋति की गोद में चला जाता है, अदृश्य हो जाता है। यह ध्रुवप्रदेश के उस प्रान्त की बात है जहाँ दस महीने उँजाला और दो महीने अँधेरा रहता है। इन बातों की ओर वेद में कई जगह संकेत मिलता है, यथा :

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजानिर्ऋतिमाविवेश ॥

(ऋक् १—१६४, ३२)

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

(,, — ,, , ३३)

जिसने उसको बनाया [या उत्पन्न किया] उसको नहीं जानता, जिसने उसको देखा था, उससे वह छिपा हुआ है। माता की कुक्षि ने घिरा हुआ, बहुत सन्तान उत्पन्न करके, वह निर्ऋति को चला गया।

द्यु मेरा पिता है, मेरा उत्पत्ति स्थान यहीं है। भूनाभि मेरा बन्धु है, पृथिवी मेरी माता है। पिता ने लड़की के गर्भ को दोनों उत्तान चमुओं—चौड़े कटोरों के—बीच (पृथिवी और आकाश के बीच में) कुक्षि में धारण किया।

इसका तात्पर्य्य यह निकला कि पृथिवी और आकाश के बीच में जो अन्तरिक्ष है वह माँ की वह कोख है जिसमें सूर्य्य रूपी गर्भ रहता है। गर्भ से निकल कर वह अदृश्य हो जाता है, अतः जो उसे जानते थे वह (अब) नहीं जानते, जो देखते थे वह (अब) नहीं देखते। दूसरी जगह आया है :—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे ।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥

(ऋक् ५—२, १)

युवती माता आहत कुमार को छिपाकर रखती है, पिता को नहीं देती। लोग उसका क्षीयमाण मुँह नहीं देखते किन्तु अन्तरीक्ष स्थान में सामने रक्खा देखते हैं।

सायण ने इस मंत्र के साथ रथ की पहिया से घायल एक राजकुमार का उपाख्यान दिया है।

अस्तु, इन सब बातों में तिलक वही ध्रुवप्रदेश के सूर्य्य के छिप जाने का संकेत पाते हैं। गर्भस्राविणी उपनिषत् के बारे में वह कहते हैं कि अत्रि रूपी सूर्य्य स्वयं अपने प्रसव की बात कर रहे हैं। वह लकड़ी की पेटी में बन्द हैं या अन्तरिक्ष रूपी मातृकुक्षि में दस महीने तक रहने के बाद अर्थात् दस महीने के निरन्तर दिन के बाद अब उससे छुटकारा चाहते हैं और अदृश्य होना चाहते हैं।

अब यदि दूसरे किन्हीं प्रमाणों से आर्य्यों का ध्रुवप्रदेश में रहना सिद्ध होता तो तिलक की इन कल्पनाओं में भी कुछ तत्व होता परन्तु हम पिछले अध्यायों में देख आये हैं कि वैदिक आर्य्यों के सप्तसिन्धव के कहीं बाहर रहने का प्रमाण नहीं मिलता। अश्विनों की कथाओं के लिये भी इतनी दूर जाना अनावश्यक है। पहिले तो रेभ और भुज्यु की कथाएं ऐतिहासिक भी हो सकती हैं। किसी का समुद्र में तीन दिन रात या नौ दिन रात तक पड़े रहना और फिर छुटकारा पा जाना कोई असम्भव बात नहीं है। प्रत्येक आख्यान का दूसरा अर्थ ढूंढना जबर्दस्ती है। परन्तु यदि निरुक्ति करनी ही हो तो सप्तसिन्धव से आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ के तत्कालीन चारों ओर के समुद्र और यहाँ की तत्कालीन वर्षा सारा अर्थ समझा सकती है। कई दिनों तक बादल का घिरा रहना और फिर सूर्य्य का निकल आना यहां होता ही रहा होगा। हम पहिले देख चुके हैं कि वर्षा का पूरा मान एक सौ दिन का था। इन्हीं दिनों में रात्रिसत्र होते थे, शंवर के गढ़ तोड़े जाते थे। यही बात ऋज्राश्व की एक सौ एक भेड़ों वाली कथा में कही गयी है। अत्रि सप्तवध्रि की कथा भी इसी वातावरण में समझ में आती है। सच तो यह है कि वह यहाँ ध्रुवप्रदेश से अच्छा घटती है। ध्रुवप्रदेश में लगातार दस महीने का दिन कहीं नहीं होता। इस दस महीने में सवेरा और संध्या भी अन्तर्गत हैं। चार महीने तक यदि लगातार दिन रहा तो प्रातःकाल और सायंकाल में तो सूर्य्य का प्रकाश पूरा

नहीं रहता। सूर्य्य इस काल में लंगड़ा और रोगी भी कहला सकता है। बीच में कुछ चौबीस घंटे के भी अहोरात्र होते हैं, जब सूर्य्य कुछ काल के लिये अंधा भी हो जाता है। नीचे उतर कर, जैसे सप्तसिन्धव में, प्रति दिन सूर्य्य का रात्रि में अदर्शन होता है। दस महीने का सूर्य्य दो महीने तक घोर वर्षा में प्रायः अलक्ष्य हो जाता है।

अत्रि की कथा का अर्थ वर्षा में ही ठीक बैठता है। तिलक की व्याख्या में एक दोष है। यदि यह माना जाय कि अत्रि रूपी सूर्य्य दस महीने चमक कर अब गर्भ से छुटकारा पाना चाहते हैं तो इसका तात्पर्य्य यह होगा कि निर्ऋति में चला जाना, अदृश्य हो जाना, अंधेरे से घिर जाना, सूर्य्य को अभीष्ट था। परन्तु अंधेरे में पड़ना तो सूर्य्य के लिये वेदों में बन्धन बताया गया है जिससे इन्द्र उनका उद्धार किया करते थे। फिर यहाँ वह अपने बन्धन को ही अपनी मुक्ति कैसे कहते हैं? वर्षापरक टीका में यह दोष नहीं आता। दस महीने तक वर्षा की प्रतीक्षा की गयी है। गउओं ने, या उनके पदचिन्हानुसारी मनुष्यों ने, गवामयनम् किया है; दशग्वों का दस महीने यज्ञ हुआ है। बादल आये हैं परन्तु उन्होंने सूर्य्य को घेर कर कैद कर रक्खा है। सौ द्वार का पीड़ागृह है, इन द्वारों में से सूर्य्य की किरणें कुछ कुछ कभी कभी निकल आती हैं। उमस है, गर्मी है, तुष (भूसे की आग) की तपन है, जिसमें ताप होती है पर ज्वाला नहीं फूटती। ऐसे समय अत्रि रूपी सूर्य्य यह प्रार्थना करता है कि हे अश्विनो, जिस वर्षा के लिये दस महीने से प्रतीक्षा हो रही है, जो वर्षा दस महीने से गर्भ में है, उसे गर्भ से निकालो, वृष्टि कराओ। वृष्टि होने से वह घर या लकड़ी का बकस जिसमें सूर्य्य बन्द हो गये हैं आप से आप टूट जायगा, बादल का क्षय हो जायगा, सूर्य्य अर्थात् अत्रि का छुटकारा हो जायगा। यही गर्भ-स्राविणी उपनिषत् की प्रासङ्गिकता है।

अश्विनों ने जो वध्रिमती (हिंजड़े की पत्नी) को हिरण्यहस्त नाम का लड़का दिया वह भी सरल है। वेदों में उषा कहीं सूर्य्य की पत्नी कही गयी है, कहीं माता। पत्नी रूप से वह रात्रि में या वर्षा के अंधेरे

में अपने पति से दूर पड़ जाती है अतः उसका पति उसके लिये वध्रि-तुल्य है। परन्तु अश्विनों की कृपा से उसको पुत्र मिलता है। यह पुत्र भी सूर्य्य ही है। उषा की गोद में सूर्य्य उदय होता है। लड़के को जो हिरण्यहस्त (सोने के हाथ वाला) नाम दिया गया है यह नाम सूर्य्य का ही है। ऋक् ६—५०,८ में सविता (सूर्य्य) को हिरण्यपाणि (सोने के हाथ वाला) कहा है। पाणि और हस्त शब्द सूर्य्य की सुनहरी किरणों के लिये ही आये हैं।

गोतम का आख्यान भी यहीं घट सकता था। गोतम रूपी सूर्य्य प्यासे थे। गोतम का अर्थ हुआ प्रकाशमय। अश्विन एक कुंआ कहीं से उठा लाये। उसका पेंदा ऊपर था और मुँह नीचे। उससे पानी गिरा। गोतम की प्यास बुझ गयी। तात्पर्य्य यह है कि अश्विनों की कृपा से बादल छा गये। उनसे जल गिरा। लोगों की प्यास बुझ गयी, ठण्डक फैल गयी।

सारांश यह है कि अश्विनों से सम्बन्ध रखने वाले आख्यानों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि आर्य्य लोग कभी ध्रुवप्रदेश में रहते थे।

उन्नीसवां अध्याय

वैदिक आख्यान

(ग) सूर्य्य का पहिया और विष्णु के तीन पद

वेदों में इन्द्र प्रायः सर्वत्र ही सूर्य्य के मित्र के रूप में दिखलाये गये हैं। वह वृत्र आदि असुरों को मार कर सूर्य्य की रक्षा करते हैं। परन्तु एक आख्यान इसके विरुद्ध मिलता है। उसमें ऐसा कहा गया है कि इन्द्र ने सूर्य्य के रथ का पहिया चुरा लिया। यों तो कहीं सूर्य्य के रथ को सात पहियों वाला भी कहा है परन्तु प्रायः उसमें एक पहिया होने का ही वर्णन मिलता है। अधिक से अधिक दो पहियों के होने का संकेत है। अब यदि दो पहियों में से एक निकाल दिया जाय तो रथ की गति तो विगड़ जायगी। वह चलेगा पर लुढ़कता हुआ, बहुत धीरे और अनिश्चित चाल से। यदि एक ही पहिया हो और वह निकाल लिया जाय तब तो रथ खड़ा हो जायगा। अतः इन्द्र ने सूर्य्य को यदि रोक नहीं दिया तो उसकी चाल धीरी तो कर ही दी। ऐसा इन्द्र ने क्यों किया? यह कहा गया है कि सूर्य्य के पहिये से इन्द्र ने असुरों को मारा। ऋक ४-३०, ४ में कहा है *मुषाय इन्द्र सूर्य्यम्*—इन्द्र ने सूर्य्य को चुराया। यहाँ सूर्य्य का अर्थ भाष्यकारों ने सूर्य्यचक्र अर्थात् सूर्य्य के रथ का पहिया ही किया है। यह चोरी कब और क्यों हुई उसका वर्णन यह है :

त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राशुषं युध्य कुयवं गविष्टौ ।
दश प्रपित्वे अध सूर्य्यस्य मुषायश्चक्रमविवे रपांसि ॥

(ऋक ६—३१, ३)

हे इन्द्र, गउओं के लिये लड़ाई में तुम अशुष और कुयव शुष्ण के साथ कुत्स की ओर से लड़े। तुमने सूर्य्य का पहिया 'दश प्रपित्वे' चुराया है और आपदाओं का विनाश किया है।

इस मंत्र की व्याख्या में अशुष और कुयव को पृथक् भी ले सकते हैं। उस दशा में कुत्स के शुष्ण, अशुष और कुयव तीन विरोधी हुए। अन्यथा अशुष और कुयव शुष्ण के विशेषण माने जा सकते हैं। अशुष का अर्थ है बलवान्, सर्वग्राही और कुयव का अर्थ है खेतों में खड़े अन्न का शत्रु। शुष्णका तो कई जगह जिक्र आया है। इसका अर्थ सर्वत्र सूखा—वृष्टिका अभाव—लिया गया है। अब रही बात *दशप्रपित्वे* की। सायण ने इसका अर्थ ठीक नहीं किया है। उन्होंने *दश* का अर्थ किया है डंस लिया, काट लिया और *प्रपित्वे* का अर्थ किया है लड़ाई में। अर्थात् इन्द्र ने लड़ाई में शुष्ण को काट खाया, मार डाला। परन्तु प्रपित्वे शब्द वेद में अन्यत्र भी आया है। स्वयं सायण ने वहाँ दूसरा अर्थ किया है, जैसे,

मम त्वा सूर उदिते यम मध्यन्दिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥

(ऋ० ८—१, २९)

यहां प्रपित्वे उदिते और मध्यन्दिने के साथ आया है और इन तीनों का अर्थ किया गया है 'अन्त में', 'आदि में', और 'मध्य में'। दूसरी जगहों में भी प्रपित्वे का अर्थ 'अन्त में' होता है। अतः *दश प्रपित्वे* का अर्थ होना चाहिये दस के अन्त में। इस वाक्य का कोई तात्पर्य उनकी समझ में नहीं आया इसीलिये सायण ने तोड़फोड़कर *दश* और *प्रपित्वे* को अलग किया और *प्रपित्वे* का अर्थ युद्ध में किया। अब तिलक के अनुसार तो इस मंत्र का अर्थ यह हुआ कि इन्द्र ने शुष्ण आदि असुरों के विरुद्ध कुत्स की सहायता की और सूर्य्य के पहिये को चुराकर दस महीने के अन्त में आपदाओं को दूर किया। चूँकि कहीं कहीं सूर्य्य की पहिया और कहीं कहीं सूर्य्य का उल्लेख है अतः यह कह सकते हैं कि इन्द्र ने सूर्य्य को चुरा लिया अर्थात् अदृश्य कर दिया। यह दस महीने के अन्त में सूर्य्य का अदृश्य होना ध्रुवप्रदेश में ही हो सकता है।

परन्तु इस अर्थ में दो एक दोष हैं। माना कि सूर्य्य दस महीने में

लुप्त हो गया पर इससे शुष्ण कैसे मरा ? क्या ध्रुवप्रदेश में दो महीने की रात में फ़सल होती है ? ऐसा तो नहीं हो सकता, क्योंकि यव-फ़सल—को धूप भी चाहिये। फिर जब सूर्य्य का लोप हो गया तो कुयव नहीं मर सकता। उन दिनों वर्षा भी नहीं होगी, शुष्ण भी जीता जागता रहेगा, तब लोगों की आपदाएं कैसे दूर होंगी ? पर इसका दूसरा अर्थ यह किया जा सकता है कि दस महीने तक सूखा पड़ा था, फ़सल बिगड़ रही थी, लोग कष्ट में थे। इस दशा में इन्द्र ने सूर्य्य के रथ को चुराया या सूर्य्य को (बादलों से ढककर) अदृश्य कर दिया। इस प्रकार शुष्ण मारा गया, सूखा दूर हुआ, लोगों की आपदा दूर हुई। इस व्याख्या की पुष्टि इस बात से भी होती है कि दशम मण्डल के ४३ वें सूक्त के ५ वें मंत्र में कहा है *संवर्गं मघवा सूर्यं जयत्*—इन्द्र ने संवर्ग—वृष्टि को रोकनेवाले—सूर्य्य को जीता। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शुष्ण से जो लड़ाई हुई थी वह *गविष्टि*—गउओं के लिये—थी। गो का अर्थ जलधारा प्रसिद्ध है। यह अर्थ यहाँ घटता है। तिलक के अनुसार टीका करने से न तो यह अर्थ घट सकता है न गो का प्रकाश अर्थ घट सकता है क्योंकि सूर्य्य के अदृश्य हो जाने पर प्रकाश मिलने के स्थान में लुप्त हो जायगा।

विष्णु के तीन पदों की कथा पुराणप्रसिद्ध है। असुरराज बलि ने इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीन लिया था। बलि की दानवीरता प्रसिद्ध थी। विष्णु उनके यहां बौने ब्राह्मण के रूप में आये और उनसे तीन पद भूमि मांगी। बलि ने देना स्वीकार किया। विष्णु ने दो पांव में भूर्लोक और द्युलोक नाप लिया। तीसरे पांव में बलि को अपना शरीर देना पड़ा। फलतः वह पाताल में जा बसे और इन्द्र को फिर अपना राज्य मिल गया। विष्णु ने यह वामन रूप इन्द्र की सहायता करने के लिये धारण किया था।

यह पौराणिक कथा एक वैदिक आख्यान का विकसित संस्करण है। वह आख्यान इस प्रकार है :

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

(ऋक् १—२२,१९)

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढ़मस्य पांसुरे॥

(ऋक १—२२, १७)

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋक् १—२२, १८)

विष्णु के कर्म्मों को देखो जिनके द्वारा यजमानादि व्रतों का अनुष्ठान करते हैं। विष्णु इन्द्र के योग्य सखा हैं॥ इस (सारे जगत पर) विष्णु चले। (उन्होंने) त्रिधा पांव रक्खा। उनके धूल से भरे पाँव से (यह सारा जगत्) ढक गया। अजेय, (जगत के) रक्षक विष्णु तीन पद चले, धर्म्मों को धारण करते हुए।

विष्णु के इन्द्रसखा होने के कई उदाहरण आये हैं। गउओं के उद्धार में तथा असुरों से लड़ने में उन्होंने बराबर ्न्द्र का साथ दिया है। उन्होंने यह तीन पाँव भी इन्द्र के ही कहने से रक्खे, क्योंकि ऋक ४—१८, ११ कहता है:

अथाब्रवीद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व।

अथ वृत्र को मारते हुए इन्द्र ने कहा, हे सखे विष्णु, बड़े बड़े पांव रक्खो। *वितरं विक्रमस्व* का शब्दार्थ यही है। यहां *क्रमस्व* जो क्रिया पद आया है वह भी ऊपर के मंत्रों के विचक्रमे का सजातीय है। परन्तु सायण ने भाष्य में 'बड़े पराक्रमी हो', ऐसा अर्थ किया है। अस्तु, पर यह तीनों पद कहां रक्खे गये? एक मत तो यह है कि विष्णु ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश में पांव रक्खा; एक दूसरा मत है कि पहिला पांव समारोहण (उदयाचल) में, दूसरा मध्य आकाश (विष्णुपद) में और तीसरा गयशिरस (अस्ताचल) में रक्खा गया। तीसरा मत यह है कि विष्णु पृथिवी पर अग्नि रूप से, अन्तरिक्ष में वायु रूप से और आकाश में सूर्य्य रूप से वर्तमान हैं। इन सब मतों में यह ध्वनि निकलती है कि विष्णु सूर्य्य का ही नाम है। पुराणों में भी विष्णु की गणना बारह आदित्यों में है। अब देखना यह है कि विष्णुरूपी सूर्य्य

का यह पदसञ्चार प्रति दिन होता था या साल में एक वार। ऋक् १—१५५, ६ में कहा है—

चतुर्भिःसाकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीरवीविपत्।

इसमें विष्णु के एक चक्र घुमाने की बात कही गयी है पर उस चक्र की बनावट को कई प्रकार से समझा जा सकता है। सायण कहते हैं कि '*चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिः*' का अर्थ है चौरानवे नामों वाला और चौरानवे की संख्या यों पूरी करते हैं: १ संवत्सर, २ अयन, ५ ऋतु, १२ मास, २४ पक्ष, ३० अहोरात्र, ८ याम (पहर), १२ राशि। तिलक कहते हैं कि इसका अर्थ है 'चार नाम वाले नब्बे घोड़ों वाला' अर्थात् ३६० घोड़ों वाला। यों तो दोनों प्रकार से वर्ष और उसके विभागों का ही बोध होता है और विष्णु का सूर्य्य से अभेद पुष्ट होता है परन्तु सायण के किये हुए अर्थ में खींचातानी अधिक प्रतीत होती है। किसी प्रकार चौरानवे की संख्या ला देना दूसरी बात है पर उन दिनों तो राशियों की अपेक्षा नक्षत्रों का अधिक व्यवहार होता था। उनकी संख्या २७ का अन्तर्भाव क्यों नहीं हुआ? अस्तु, उभयतः यह बात निकली कि विष्णु ने वर्ष रूपी चक्र को घुमाया। यदि इससे यह मान लिया जाय कि यह वर्णन उनके संक्रमण का ही है तो यह मानना होगा कि उनका पदसंचार भी साल में एक बार होता था। तब एक बात यह भी निश्चित ही है कि एक पांव तो उस जगह और उस समय पड़ा होगा जहां और जब इन्द्र की असुरों से लड़ाई हुई। यह लड़ाई तिलक के अनुसार भूमंडल के नीचे उस प्रदेश में हुई थी जहां सूर्य्य ध्रुव प्रदेश से अदृश्य होकर छिप जाता है। वहां अंधेरे का स्थान था। अतः विष्णु का तीसरा पांव वहां पड़ा। यह तीसरा पांव था अर्थात् वर्ष का तीसरा भाग था। दो पांव अर्थात् आठ महीने ऊपर पड़े, एक पांव अर्थात् चार महीने पृथिवी के नीचे। यह ध्रुवप्रदेश का आठ महीने का दिन और चार महीने की रात हो गयी। तिलक अपने इस मत की पुष्टि इस बात में भी पाते हैं कि पुराणों के अनुसार विष्णु चार

महीनों तक क्षीरसागर में शेषशय्या पर सोते हैं। वृत्र को वेदों में अहि—सर्प—कहा भी है।

यदि यह बात दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होती कि वृत्र और इन्द्र का युद्ध पृथ्वी से नीचे कहीं हुआ था तो निस्सन्देह यह आख्यान भी उसी बात की पुष्टि करता पर हम देख चुके हैं कि यह लड़ाई वर्षा में हुई। अतः यही मानना ठीक जँचता है कि तीसरा पांव वर्षा में पड़ा। विष्णु का जो शयन पुराणों में बतलाया गया है वह तो वर्षा के चातुर्मास्य में होता है। कार्तिक की प्रबोधिनी एकादशी को वह उठ बैठते हैं। तिलक कहते हैं कि पहिले यह शयन हेमन्त में होता था, फिर पीछे से जब आर्य्य लोग ध्रुवप्रदेश से सप्तसिन्धव में आये तो उनको देशकाल के अनुसार अपने काल विभाग को बदलना पड़ा और उनके उत्सवों और धार्म्मिक पर्वों का समय भी बदल गया। इसी प्रकार विष्णु-शयन हेमन्त से हटकर वर्षा में और उनका प्रबोध वसन्त से शरत् में चला आया। सम्भव है यह बात ठीक हो पर किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में मैं इसे मानने में असमर्थ हूँ।

विष्णु का एक नाम शिपिविष्ट है। यह नाम कुत्सितार्थ—निन्दात्मक—माना जाता है। यास्क ने इसको अच्छा अर्थ देने का प्रयत्न किया परन्तु भाषा में व्यवहार ज्यों का त्यों रह गया। इसका अर्थ किया जाता है *शेप इव निर्वेष्टितः*—पुरुष की गुप्त इन्द्रिय की भाँति ढका हुआ। विष्णु का सूर्य्य से अभेद मानकर इसकी व्याख्या की जाती है *अप्रतिपन्नरश्मिः*—जिसकी किरणें साफ़ न हों। यह कहना अनावश्यक है कि यह अर्थ ध्रुवप्रदेश के छिपे सूर्य्य के लिये भी लग सकता है और वर्षा में बादलों से घिरे हुए सूर्य्य के लिये भी। पर वर्षा के अस्फुट—आधे प्रकट आधे छिपे—सूर्य्य के लिये कुछ अधिक ठीक जँचता है क्योंकि ध्रुवप्रदेशों में सूर्य्य ढका नहीं प्रत्युत अविद्यमान रहता है।

तिलक को कई पौराणिक कथाओं में भी वैदिक आख्यानों की ध्वनि और फलतः ध्रुवनिवास की झीनी स्मृति मिलती है। शंकर के पुत्र कुमार (स्कन्द) का माता के गर्भ के बाहर जन्म लेना, अलग फेंका रहना, फिर बड़े होने पर असुरों के विरुद्ध

देवसेना का नायकत्व करना, रावण का दशशीर्ष और राम के पिता का दशरथ होना, यह तथा कई अन्य कथाएं उनका ध्यान उसी ओर खींचती हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि बहुत सी पौराणिक कथाएं वैदिक आख्यानों को बढ़ा घटाकर बनी हैं और इनमें आर्य्यों की सैकड़ों पीढ़ियों की स्मृतियां यथासम्भव सुरक्षित हैं। पुराणों के सम्बन्ध में खोज का विशाल क्षेत्र प्रायः अछूता पड़ा है। सम्भव है एक दिन उनसे तिलक के मत की या किसी अन्य मत की पुष्टि हो जाय पर अब तक जो सामग्री प्राप्य है वह तो हमको सप्तसिन्धव से बाहर जाने की अनुमति नहीं देती। जब वैदिक उपाख्यान ही ध्रुवप्रदेश में आर्य्य निवास का समर्थन करते नहीं प्रतीत होते तो पौराणिक कथाओं के अर्थ को तोड़ मरोड़ करना व्यर्थ है।

बीसवां अध्याय

दूसरे देशों की प्राचीन गाथाओं से प्रमाण

यद्यपि वैदिक आर्य्यों के आदिम निवास का पता हम उनके मूल ग्रंथ वेद में ही ढूढ़ते हैं और जो कोई मत इस विषय में हमारे सामने आता है उसको वेदों की ही कसौटी पर कसते हैं फिर भी और जहाँ कहीं इस सम्बन्ध में कोई संकेत मिलता हो उसकी ओर से आँख नहीं वंद कर सकते। पारसियों और वैदिक आर्य्यों का तो ऐसा संवंध था कि अवेस्ता में मिलने वाले प्रमाणों का विशेष महत्त्व है। पिछले अध्यायों में वैदिक आख्यानों के साथ साथ हमने अवेस्ता में के भी कई आख्यानों को मिलाया है। वही कथाएं हैं, वही नाम हैं, हाँ देव का असुर और असुर का देव हो गया है। यह कथाएं उस समय की संस्मृतियाँ हैं जव आर्य्य उपजाति की यह दोनों शाखाएं एक साथ रहती थीं। मैं इस प्रकार की एक और कथा दूँगा जो कुछ अंशों में गउओं के उद्धार की कथा से मिलती है। तिलक ने इसको प्रमाण के रूप में पेश भी किया है।

अपौष और तिश्त्र्य की लड़ाई वुरुकश समुद्र में हुई। वेंदिदाद के २१ वें फ़र्गर्द में वुरुकश का वर्णन है। जिस प्रकार वेदों में जल और प्रकाश का गहिरा संवंध माना गया है यहाँ तक कि एक ही गो शब्द का दोनों के लिये प्रयोग होता है वैसे ही अवेस्ता में भी प्रकाश और जल का एक ही स्रोत माना गया है। जल को आह्वान करके ४ थे मन्त्र में कहा गया है : " चूंकि वुरुकश समुद्र जलों का भण्डार (एकत्र होने की जगह) है, तुम उठो, अन्तरिक्ष मार्ग (वायु मार्ग) से ऊपर जाओ और पृथिवी पर नीचे उतरो ; पृथिवी पर नीचे उतरो और अन्तरिक्ष मार्ग से ऊपर जाओ। उठो और वढ़ते चलो, तुम, जिसके उदय और वृद्धि में अहुरमज़्द ने अन्तरिक्ष मार्ग वनाया "। चूंकि प्रकाश और जल

का संबंध है और पृथिवी पर प्रकाश सूर्य्य, चन्द्र और तारों से आता है इसलिये यह मन्त्र तीन बार पढ़ा जाता है और जल का आह्वान बारी बारी सूर्य्य, चन्द्र और तारों के साथ किया जाता है। तिलक इस मंत्र में अपने इस मत की पुष्टि पाते हैं कि आर्य्य लोग पृथिवी के चारों ओर दिव्य जलधाराओं का अस्तित्व मानते थे। पारसी लोग किसी ऐसी बात को मानते हों या न हों पर इस मन्त्र से तो किसी दिव्य जल वाले समुद्र का पता नहीं चलता। इसमें वही इन्द्र और वृत्र की लड़ाई की कथा है और यह लड़ाई बादलों के बीच में हुई है। वुरुकश वहीं प्रतीत होता है। जलों का नीचे से ऊपर जाना और ऊपर से नीचे आना सामान्य भौतिक दृग्विषय है, इसको समझने के लिये दिव्य जलों की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर भौतिक जल और बादल का प्रसंग है, इस बात की पुष्टि इसी फ़र्गर्द के २२ मंत्र से होती है। वह इस प्रकार है : "हे पवित्र ज़रथुश्त्र, इस प्रकार कहो 'आओ, ऐ बादलो, चले आओ, आकाश में वायु में से, पृथिवी पर, हज़ारों बूंदों के द्वारा, लाखों बूंदों के द्वारा।" यहाँ प्रत्यक्ष ही बादलों से जल गिरने की बात है। जब वुरुकश जलों का भण्डार था तो वह भी मेघ हुआ और असुरों और देवों का संग्राम यहीं बादलों में ही हुआ होगा। अवेस्ता के अनुसार अल्बुर्ज़ या हरवर्ज़ैती नाम का एक पहाड़ पृथ्वी के चारों ओर है। हमारे यहाँ भी लोग उदयाचल और अस्ताचल नाम के पहाड़ों का ज़िक्र करते हैं। तिलक जिन दूसरे प्रमाणों को पेश करते हैं वह भी मेरी समझ में उनके मत को पुष्ट नहीं करते। फ़्रवशियों (पितरों) के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने अंग्रिमैन्यु की दुष्टता को नष्ट किया जिससे न तो जल का बहना बंद हुआ न ओषधियों का बढ़ना बंद हुआ। यहाँ भी किसी दिव्य जल के बहाव की कल्पना करना अनावश्यक है; पौधों के बढ़ने की बात से तो और भी भौतिक जल का बोध होता है। वेन्दिदाद के ५वें और ८वें फ़र्गर्द में अन्त्येष्टि करने का विधान बतलाया गया है। ज़रथुस्त्र पूछते हैं कि यदि हवा चल रही हो या बर्फ़ पड़ रही हो या पानी बरस रहा हो और उस समय कोई मर जाय तो

क्या किया जाय। ५वें फ़र्गर्द में यह प्रश्न इस प्रकार है : "हे भौतिक जगत् के स्रष्टा, पवित्रात्मन्, यदि गर्मी बीत चुकी हो और जाड़ा आ गया हो, तो मज़्द के उपासक क्या करें ?" ८वें में प्रश्न का रूप यह है : "हे भौतिक जगत् के स्रष्टा, पवित्रात्मन्, यदि मज़्द के किसी उपासक के घर में एक कुत्ता या मनुष्य मर जाय और उस समय पानी बरस रहा हो या बरफ़ पड़ रही हो या हवा बह रही हो या अंधेरा छाने वाला हो जिसमें मनुष्य और पशु मार्ग भूल जाते हैं, तो मज़्द के उपासक क्या करें ?" अहुरमज़्द ने उत्तर दिया : "प्रत्येक घर में, घरों के प्रत्येक समूह में, मुर्दों के लिये तीन छोटे घर बनाने चाहियें।" ज़रथुश्त्र ने पूछा: "हे भौतिक जगत् के स्रष्टा, पवित्रात्मन्, मुर्दों के यह घर कितने बड़े हों ?" अहुरमज़्द ने उत्तर दिया "धर्म्म के अनुसार मुर्दे के घर इतने बड़े होने चाहियें कि यदि वह पुरुष (मृतपुरुष, जीवितावस्था में) खड़ा हो और अपने हाथ पाँव फैलाये तो उसके सिर या हाथ या पाँव में चोट न लगे। और उस मृत शरीर को वहीं पड़े रहने देना चाहिये दो रात, तीन रात या एक महीने तक, जब तक कि चिड़ियां उड़ने लगें, पौधे उगने लगें, जल बहने लगे और वायु पृथिवी पर से जल को सुखा दे।" इसके बाद शव को समाधिस्थल पर ले जाने का आदेश है। अब तिलक का कहना है कि शव को एक रात, तीन रात या एक महीने तक बन्द रखना ध्रुवप्रदेश की स्मृति है जहाँ सूर्य्य कभी-कभी एक दिन के लिये और कभी इससे भी अधिक समय के लिये अदृश्य हो जाता है। मुझे यह बात नहीं जँचती। यहाँ उन सभी अवस्थाओं के लिये विधान है जो सम्भवतः लोगों पर आ सकती थीं। आँधी चलना, पानी बरसना, बरफ़ पड़ना, रात का अँधेरा छा जाना, यह सभी बातें सप्तसिन्धव और ईरान दोनों देशों में हो सकती थीं। इनमें से कोई विपत्ति तो कुछ घंटों में ही टल जाने वाली है, इसीलिये एक रात का विधान है परन्तु गहिरी से गहिरी वर्षा और घोर से घोर तुषारपात में भी एक महीने या इससे अधिक काल तक अँधेरा छाये रहने और आना जाना बन्द रहने की सम्भावना नहीं हो सकती। इसीलिये एक महीने की बात कही गयी है।

यदि ध्रुवप्रदेश के लिये विधि बनायी गयी होती तो चार पाँच महीने तक का प्रबन्ध होता। हवा के द्वारा पानी का सुखाया जाना, चिड़ियों का उड़ना, पौधों का उगना यह सब बातें भी या तो वर्षा से संबंध रखती हैं या ध्रुवप्रदेश के नीचे के देशों की सर्दियों से। जिन दिनों तिलक के अनुसार आर्य लोग ध्रुवप्रदेश में रहते थे उन दिनों तो वहाँ चिरवसन्त था। इस बारहमासी वसन्त में पौधों का उगना या चिड़ियों का उड़ना कभी काहे को बन्द होता होगा, चाहे सूर्य्य के दर्शन हों या न हों। आज जब कि वहाँ कड़ी सर्दी पड़ती है और चारों ओर बर्फ़ जमी रहती है तब भी जो चिड़ियाँ उत्तर दक्षिण के ध्रुवप्रदेशों में पायी जाती हैं वह जाड़ों के महीनों में बराबर सोती नहीं रहतीं।

अतः यह प्रमाण तो पर्य्याप्त नहीं हैं। इनसे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि आर्य्यों का मूलस्थान कहीं ध्रुवप्रदेश में था परन्तु इस बात को हमने अस्वीकार नहीं किया है कि सप्तसिन्धव छोड़ने के बाद प्रवासी आर्य्यों की एक शाखा कुछ काल के लिये स्यात् ध्रुवप्रदेश में रही हो। जब वह प्रदेश बसने के योग्य नहीं रह गया तो यह लोग घूमते फिरते ईरान पहुँचे होंगे। इसका यह तात्पर्य्य भी नहीं है कि ईरान में रहने वाले सभी आर्य्य ऐर्य्यन वीजो में रहने वालों के ही वंशज हैं। सम्भव है भारत छोड़कर एक शाखा सीधे ईरान पहुँची हो, दूसरी चक्कर काट-कर आयी हो। ऐसा इतिहास भी मिलता है कि ईरान में प्रचलित धर्म्म का संस्कार उन मग पुरोहितों के द्वारा हुआ जो वहाँ उत्तर पश्चिम से सासानी नरेशों के समय में आये। उस समय भी ईरान का धर्म्म इसी ढंग का था पर न तो उसका कर्म्मकांड ठीक था, न दार्शनिक विचारों का कुछ ठीक रूप था, न उपासनाविधि सुव्यवस्थित थी।

मग अपने साथ धर्म्म का परिष्कृत रूप लाये और वही ईरान में राजाश्रय पाकर चल गया। ईरान की प्रचलित भाषा पह्लवी थी जो आजकल की ईरानी या फ़ारसी का पूर्वरूप थी। मग अपने साथ जो भाषा लाये वह ज़ेन्द थी। ज़ेन्द, पह्लवी, संस्कृत सभी एक ही कुटुम्ब की भाषाएं हैं पर ज़ेन्द संस्कृत के अधिक निकट है। इससे यह अनु-

मान होता है कि मगों के हाथों अवेस्ता को आर्य्य उपजाति को उस शाखा के संस्मरण मिले जो ध्रुवप्रदेश में प्रवास कर चुकी थी।

पारसियों के अतिरिक्त अन्य लोगों की पुरानी गाथाओं में कई बातें ऐसी हैं जो वैदिक आख्यानों से मिलती जुलती हैं। यूनानियों में प्रभात को *इऑस* (उषस्) कहते थे। लेट लोगों में उसे *दिएवोदुक्ते* (दिवो दुहिता) कहते थे और वेदों की भाँति इस शब्द का बहुवचन में भी प्रयोग होता था। यूनानियों तथा आयरलैंड वालों में ऐसी कथाएं हैं जिनमें एक ही स्त्री के लिये दो व्यक्ति लड़ते हैं और दोनों छः छः महीने के लिये उसके शरीर के भोक्ता होते हैं। इसका अर्थ यह निकाला जाता है कभी छः महीने तक दिन और छः महीने तक रात होती थी। यूनानी ऐसा मानते थे कि *हेलिऑस* (सूर्य) के साथ ३५० बैल और ३५० भेड़ें थीं। इसका तात्पर्य्य यह निकाला जाता है कि कभी वह लोग ३५० दिनों का वर्ष मानते थे। आयरलैण्ड का एक आख्यान है कि *कॉङ्गोवर* को *फ़ेडेल्म* नाम की एक सुन्दर कन्या थी, जिसके एक से एक कमनीय नौ शरीर थे। *कुकुलेन* एक अवतारी पुरुष थे। वह पश्चिम की ओर से आक्रमण करने वाले शत्रु का सामना करने के लिये आगे बढ़े परन्तु सायंकाल के समय एक गुप्त स्थान को चले गये जहाँ *फ़ेडेल्म* पहिले ही पहुँच गयी थी। उसने वहाँ एक स्नान कुण्ड तैयार कर रक्खा था। इसमें नहाने से *कुकुलेन* भावी युद्ध में विजयी होने के योग्य हो गये। यूनानियों में *ऐथिनी* एक देवकन्या थी। उसके भी नौ शरीर थे। तिलक को इस नौ-वाली संख्या में वही कारण देख पड़ते हैं जो नवग्वों से नौ महीनों तक यज्ञ कराते थे, अर्थात् किसी समय नौ महीने का दिन होता था। रूस की एक कथा है कि एक समय एक बूढ़ा बूढ़ी रहते थे। उनके तीन लड़के थे। दो तो समझदार थे पर तीसरा जिसका नाम *आइवन* था पागल सा था। जिस देश में *आइवन* रहता था वहाँ कभी दिन न होता था। बराबर रात रहती थी। यह एक साँप की करनी थी। *आइवन* ने इस साँप को मार डाला। तब वहाँ बारह सिर वाला एक सर्प आगया। *आइवन* ने उसको भी मार डाला और सिरों को नष्ट

कर डाला। तत्काल ही सर्वत्र उँजाला हो गया। यह कथा सूर्य्य संबंधी प्रतीत होती है। तीन भाइयों में से एक के प्रदेश में अँधेरा होने से साल के तिहाई भाग अर्थात् चार महीने अँधेरा और शेष आठ महीनों में उँजाला होने की ओर संकेत है। यह अँधेरा करने वाला साँप वही वृत्र है जिसे वेद और अवेस्ता में अहि कहा है। एक दूसरो रूसी कथा में कॉश्चाइ नाम का एक दानव, जिसके शरीर में केवल हड्डियाँ थीं, एक राजकुमारी को अपने महल में उठा ले जाता है। यह महल पृथ्वी के नीचे था। एक राजकुमार उसे छुड़ाने के लिये निकलता है। सात वर्ष के वाद उसे सफलता मिलती है। यहाँ भी सात महीने के दिन का कुछ संस्मरण मिलता सा प्रतीत होता है।

ऐसी ही और भी वहुत सी कथाएं हैं जिनमें सूर्य का छिप जाना, वर्फ़ का पड़ना, अँधेरे का छाना रूपक वाँधकर दिखलाया गया है। इनमें तीन, सात, नौ आदि संख्याओं के आते ही तिलक का ध्यान उन वैदिक मंत्रों की ओर जाता है जिनमें यह संख्याएं आती हैं। वह इन सब वातों को मिलाकर यह परिणाम निकालते हैं कि किसी समय इन सब लोगों के पूर्वज ध्रुवप्रदेश में एक साथ रहते थे। मेरी समझ में यह प्रमाण पर्य्याप्त नहीं हैं। यूरोप, विशेषतः उत्तरी यूरोप, के लोग सर्दी से परिचित थे, उनके देशों में वर्फ़ पड़ती ही थी। नारवे के उत्तरी भाग से तो ध्रुवप्रदेश के कुछ दृग्विषय देखे भी जा सकते थे। यूरोप के अन्य उत्तरीय देशों से भी कोई कोई साहसी व्यक्ति उत्तर की ओर यात्रा करते थे और उनके विचित्र अनुभवों की कहानी विकृत रूप में फैलती थी। कई पुश्तों की अनुश्रुति उसके रूप में और भी उलट फेर कर देती थी। परन्तु कुछ थोड़े से ऊपरी साम्य मात्र से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि इन लोगों का यह अनुभव वैदिक आर्य्यों का भी अनुभव था। ऐसे अनुमान में कैसी भूल हो सकती है वह इसी एक वात से प्रकट होती है कि ऐसी ही कथाएं फ़िनलैण्ड वालों में भी प्रचलित थीं। स्वयं तिलक ने ही इस वात का ज़िक्र किया है। अब इससे तो यही मानना पड़ेगा कि फिन और वैदिक आर्य्य एक ही वंश

की दो शाखा थे और कभी एक ही साथ ध्रुवप्रदेश में रहते थे। पर यह अनुमान निराधार है क्योंकि यह सर्वमान्य है कि फ़िन लोग तुर्कों और चीनियों की भांति मंगोल हैं। उत्तरी यूरोप वालों को ध्रुवप्रदेश का थोड़ा सा प्रत्यक्ष ज्ञान है और अँधेरे उँजाले के दृश्य तो वर्षा और हिमपात तथा ध्रुवरात्रि में कुछ कुछ एक से ही होते हैं, इसीलिये कथाओं में कुछ कुछ समता है।

इक्कीसवां अध्याय

महेंजोदरो और हरप्पा के खंडहरों का सन्देश

जो लोग भारतीय सभ्यता की प्राचीनता को स्वीकार नहीं करते उनका एक बहुत बड़ा तर्क यह है कि इस देश में बहुत पुराने स्मारक नहीं मिलते। न तो मूर्तियाँ मिलती हैं, न मन्दिर मिलते हैं, न प्रासादों के भग्नावशेष मिलते हैं, न नगरों के खंडहर मिलते हैं। जो कुछ मिलता है वह मौर्य्यकाल का, जिसको लगभग २२०० वर्ष हुए। इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता था कि यहाँ की नदियाँ अपनी धारा बदलती रहती हैं और प्रतिवर्ष नयी मिट्टी डालती रहती हैं, और यहाँ की गर्मी और वर्षा ईंट पत्थर की वस्तुओं को बहुत दिनों तक रहने नहीं देते। यह कारण अंशतः ठीक हैं पर ऐसी ही परिस्थिति अन्यत्र भी है, फिर भी मिश्र और इराक़ में ४००० से ६००० वर्ष तक की पुरानी चीज़ें मिली हैं। फिर भारत में ही २०००-२२०० वर्ष के पहिले का कुछ क्यों नहीं मिलता? इसके साथ ही यह भी देखा जाता है कि मौर्यकाल की कला प्रौढ़ है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन कारीगरों के हाथों उन चीज़ों का निर्माण हुआ था वह नौसिखुए न थे वरन् उनके पीछे सहस्रों वर्ष का अनुभव था। भारत में पुरानी चीज़ें मिलतीं ही नहीं, इससे पाश्चात्य विद्वानों ने यह निर्धारित किया कि भारतीयों ने यह विद्या ईरानियों से सीखी।

यह आरोप अच्छा न लगता हो पर इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं था और भारतीयों को यह लाञ्छन स्वीकार करना ही पड़ता था कि उनकी कला बहुत प्राचीन नहीं है। अकस्मात् ही इस लाञ्छन का परिहार हो गया। सिन्ध के लारकाना ज़िले में महेंजोदरो नाम की एक जगह है। इसका अर्थ है मुर्दों का टीला। यहाँ कई ऊँचे ऊँचे टीले थे जिनमें बौद्ध अवशेष थे। सं० १९७८ में श्री बैनर्जी इन अवशेषों को

खुदाई कर रहे थे। एकाएक उनको कुछ ऐसी चीजें मिलीं जो बौद्धकाल से बहुत पुरानी थीं। फिर तो १९७९ से १९८४ तक वहाँ खुदाई हुई। भूगर्भ में से एक के नीचे एक सात बस्तियाँ निकलीं। सम्भवतः अभी नीचे एकाध तह और मिलेगी।

सबसे नीचे एक नगर मिला है। इसमें ईंट के पक्के घर हैं, अच्छी सड़कें हैं, पानी निकलने के लिये नीचे नालियाँ बनी हैं। मन्दिर हैं, मूर्तियाँ हैं। बहुत से मुहरें भी मिली हैं। इनपर लोगों के नाम खुदे हैं। इनसे दस्तावेजों और दूसरे कागजों पर मुहर किया जाता था। इसी प्रकार की चीज़ें उत्तरी सिंध में हरप्पा में, जो मुल्तान ज़िले में है, मिली हैं।

यहाँ महेंजोदरो और हरप्पा की खुदाई और उसके फलस्वरूप जो वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं उनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। जिन लोगों को इस विषय में रस हो उन्हें मारशल की सचित्र पुस्तकों को देखना चाहिये। इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि महेंजोदरो की कला बड़े ऊंचे कोटि की है। इस विषय के विशेषज्ञों का कहना है कि यह चीज़ें ४५०० से ५५०० वर्ष पुरानी हैं। अतः इनके द्वारा भारतीय कला का इतिहास कम से कम तीन हज़ार वर्ष और पुराना हो जाता है। मैंने 'कम से कम' इसलिये कहा है कि महेंजोदरो की कला की प्रौढ़ता इस बात की साक्षी है कि उसके भी पीछे कम से कम पाँच सौ वर्ष का अनुभव था।

सिन्ध के जलवायु में उस समय से आज बहुत परिवर्तन हो गया है। भौगोलिक रूप भी बदल गया है। महेंजोदरो इस समय समुद्र से ९५ कोस दूर है पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों वह समुद्र तट पर था। धीरे धीरे सिन्धु ने मिट्टी डाल कर इतना समुद्र पाट दिया है। हरप्पा महेंजोदरो से लगभग १९० कोस उत्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहिले यहाँ बहुत बड़ी नदी बहती थी। आजकल मुल्तान में वर्षा बहुत कम होती थी, पर आज से दो-ढाई सौ वर्ष पहिले बहुत वर्षा होती थी। आज से लगभग चार सौ वर्ष पहिले तक सिन्ध में बड़ी मेह-

रान नाम की नदी सिन्धु के प्रायः बराबर बराबर बहती थी। अब यह बहुत छोटी नदी हो गयी है। सतलज जो आजकल व्यास में गिरती है पहिले इसी में गिरती थी। इसकी एक शाखा हकरा सूख ही गयी है। इन सब बातों से अनुमान होता है कि जिन दिनों महेंजोदरो और हरप्पा आवाद थे, उन दिनों यह प्रान्त आज की भांति मरुप्राय न था।

इस खुदाई से यह बात तो सिद्ध हो गयी कि यदि सारे भारत में नहीं तो कम से कम सिन्धु नदी के किनारे बसे हुए इस प्रान्त में तो आज से पाँच हज़ार वर्ष पहिले भी बड़े बड़े नगर बसे थे, पक्के घर होते थे, कला का विकास हो चुका था। उन दिनों भी यहाँ का प्रभाव दूसरे प्रदेशों पर पड़ता ही होगा क्योंकि यहाँ के लोगों का व्यापारिक संबंध तो दूसरे प्रदेशों से रहा ही होगा। अतः यह अनुमान निराधार न होगा कि आज से ४०००-४५०० वर्ष पहिले इस प्रकार की कला और वास्तु-विद्या दूसरे प्रान्तों में भी थोड़ी बहुत फैल चुकी होगी। इस प्रकार मौर्यकाल और उसके बाद की कला का पितृत्व खोजने हमको ईरान जाने की आवश्यकता नहीं है, वह भारत में ही मिल जाता है।

परन्तु महेंजोदरो की खोज ने एक और विलक्षण बात दिखलायी। ईरान के पश्चिम दजला और फ़रात नदियों के, जिनको अंग्रेज़ी नक़्शों में टाइग्रिस और यूफ्रेटीज़ लिखा जाता है, अन्तर्वेद का प्रान्त सभ्यता के इतिहास में एक विशेष महत्त्व का स्थान रखता है। हज़ारों वर्ष तक यहाँ बलवान राष्ट्र रहे हैं जिनकी कीर्तियाँ आज भी खंडहरों के रूप में मिलती हैं। किसी समय यूरोपवाले ऐसा मानते थे कि सभ्यता का विकास सबसे पहिले मिश्र में हुआ पर आज यह बात प्रायः सर्वमान्य हो गयी है कि इराक़ के इस प्रदेश में उसकी नींव मिश्र से भी पहिले पड़ी थी। यहाँ की सबसे पुरानी सभ्यता वह है जिसे सुमेर-अक्काद की सभ्यता कहते हैं। इसके बाद चैल्डिया, फिर बैबिलन का काल आता है। इसी समय यहूदी भी रंगमंच पर आये और उनसे इस देश की सांस्कृतिक सम्पत्ति का प्रसाद यूरोपवालों को मिला। पृथिवी के इति-हास का यह बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद अंश है। वह राष्ट्र लुप्त हो

गये, उनकी बोली आज कहीं सुनायी नहीं पड़ती परन्तु उनके आविष्कार, उनके विचार आज भी हैं और उस संस्कृति और सभ्यता के अविच्छेद्य अंग हैं जिससे सारा सभ्य जगत् लाभ उठा रहा है।

मैंने ऊपर कहा है कि इस प्रदेश की लुप्त सभ्यताओं में सुमेर-अक्काद सबसे पुरानी थी। यह आज से ६००० वर्ष पुरानी बतलायी जाती है। इसके दो केन्द्र थे। एक तो अक्काद और दूसरा उससे दक्षिण शुमीर (या सुमेर)। पीछे से यह दोनों नगर या राज एक हो गये। इनके भग्नावशेष आजकल खोदे गये हैं और इनकी उत्कृष्ट कला का, जो सैकड़ों वर्षों में उन्नति की उस सीमा तक पहुँची होगी, परिचय देते हैं। अब जो विलक्षण बात देखने में आयी वह यह है कि महेंजोदरो में जिस सभ्यता का परिचय मिलता है वह उसी ढंग की है जैसी कि सुमेर की सभ्यता थी। मकानों की बनावट का ढंग वही है, मूर्तियाँ वैसी ही हैं, मुहरों पर तथा दूसरी जगह उसी प्रकार के अक्षर खुदे हैं, दोनों जगहों की भाषा एक ही है और कई व्यक्तियों के नाम भी दोनों जगहों में मिलते हैं। इतना गहिरा साम्य है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हम दोनों जगहों में एक ही सभ्यता और संस्कृति के प्रदर्शन देख रहे हैं। मूर्तियों के आकार से यह लोग तूरानी अर्थात् मंगोल उपजाति की शाखा से प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा का ठीक ठीक स्वरूप क्या था यह नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि वह द्राविड़ थी परन्तु कुछ दूसरे विद्वान उसे संस्कृत से मिलती जुलती मानते हैं।

भारतीय संस्कृति से भी कई बातें मिलती जुलती हैं पर कुछ बातों में बड़ा अन्तर भी है। इनके एक उपास्य इन्दुरु (वैदिक इन्द्र ?) थे। इनके दूसरे उपास्य सूर्य्य थे। उनका नाम *शमस* था। सूर्य्य को यह लोग मछली से उपमा देते थे। कभी कभी सूर्य्य को *शु-खा*—परदार मछली—और कभी *वि-इ-एश*—बड़ी मछली—कहते थे। इसके साथ *न*—मनुष्य—जोड़ने से *वि-इ-एश-न*—महा-नर-मत्स्य—बनता है। इस देव की जो मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें आधा शरीर मनुष्य का है,

आधा मछली का, या आगे का भाग मनुष्य का, पीठ मछली की। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि यह *बि-इ-एश-न* विष्णु का ही रूपान्तर है। यह भी याद रहना चाहिये कि विष्णु सूर्य का एक नाम है और विष्णु का पहिला अवतार आधा मनुष्य आधा मछली के रूप में हुआ था। महेंजोदरो तथा सुमेर में एक देवी की मूर्तियाँ बहुत मिलती हैं। इनको मातृदेवी का नाम दिया गया है। इनके अतिरिक्त शिव की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। वेदों में इन्द्र, वरुण, विष्णु, सूर्य आदि के नाम आते हैं, उनको यज्ञभाग दिये जाते हैं परन्तु मंदिर और मूर्ति का पता नहीं चलता। परन्तु महेंजोदरो में जो मूर्तियाँ मिली हैं वह कई बातों में आज कल जैसी हैं। शिव की मूर्ति योगी की मुद्रा में है। तीन मुख हैं, सिंहासन के ऊपर नासाग्र ध्यान लगाये सिद्धासन से बैठे हैं। गले में बहुत सी मालाएँ पड़ी हैं, हाथों में भी कई आभूषण या माला पहिने हुए हैं। शिव का नाम पशुपति भी है। स्यात् इसी लिये मूर्ति के चारों ओर चार पशु हैं: हाथी, व्याघ्र, महिष और गैंडा। सिंहासन के नीचे दो हिरण हैं। मस्तक के ऊपर दो सींगें बनी हुई हैं। सम्भवतः इन्होंने ही आगे चल कर त्रिशूल का रूप धारण किया। अब तक इससे प्राचीन प्रतिमा भारत में नहीं मिली है। इस मूर्ति के सिवाय कई शिवलिंग भी पाये गये हैं। वृष की भी बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं, यद्यपि यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वृष और शिव में कोई संबंध था या नहीं।

परन्तु सादृश्य यहीं समाप्त नहीं होता, कई विद्वानों के मत में इससे कहीं आगे जाता है। वेदों में कई ऐसे शब्द हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। जर्भरी, तुर्फरी, इसके उदाहरण हैं। इन विद्वानों की सम्मति है कि हम इन शब्दों का अर्थ लगाने में इसलिये असमर्थ होते हैं कि हम भारत के बाहर दृष्टि नहीं डालना चाहते। यह शब्द इराक़ की नदियों, पहाड़ों और नगरों के प्राचीन नाम हैं। इसी प्रकार जिन नरेशों के नाम वेदों में आये हैं उनमें से कई भारत में शासन नहीं करते थे वरन् तत्कालीन इराक़ के राजा थे। इनके नाम अब भी इराक़ में प्राप्त

पत्थरों, ईंटों और मूर्तियों पर खुदे मिलते हैं। यदि आर्य्यों की एक शाखा भारत में थी तो उसी समय दूसरी शाखा इराक़ में थी। दोनों में सम्पर्क था, इसलिये वेदों में दोनों का इतिहास है। जिन विद्वानों ने इस क्षेत्र में काम किया है उनमें एक भारतीय, अध्यापक प्राणनाथ विद्यालंकार, भी हैं।

दूसरे लोगों का, और इनमें ही वह सब भारतीय हैं जो बिना किसी प्रमाण ढूंढ़ने का कष्ट उठाये यह माने बैठे हैं कि प्राचीन भारत सभ्यता और संस्कृति में जगद्गुरु था, यह मत है कि यह सादृश्य कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। इराक़ के लोगों ने भारत से ही तो सभ्यता सीखी थी। हमारे देश के चक्रवर्तियों ने समय समय पर सारी पृथ्वी को जीता था। इराक़ में भी आर्य्य गये ही होंगे और वहाँ राज भी किया होगा। इसलिये वहाँ भारतीय ढंग के चिन्ह मिलने ही चाहियें। ऐसा माना जा सकता है कि महेंजोदरो से ही वह लोग गये होंगे जिन्होंने सुमेर, अक्काद, चैल्डिया आदि को बसाया। इसीलिये वहाँ सिन्ध प्रदेश की छाप अधिक देख पड़ती है। महेंजोदरो का समय वैदिक काल के पीछे का है अतः स्पष्ट ही यह सभ्यता वैदिक आर्य्य सभ्यता का एक विकसित रूप है।

एक तीसरा पक्ष भी है जो इसका ठीक उलटा है। इसके मुख्य प्रवर्तक डाक्टर वैडेल हैं। इसके अनुसार सुमेरनिवासी ही प्राचीन आर्य्य थे और सुमेर की सभ्यता ही प्राचीन आर्य्य सभ्यता थी। सुमेरवालों की एक शाखा ने सिन्ध प्रान्त को जीतकर महेंजोदरो बसाया और बाद में उसकी धाराएं सप्तसिन्धव और उसके पीछे भारत के कोने कोने में पहुँचीं। दूसरी लहर पश्चिम की ओर गयी। उसने यूरोप बसाया। इस मत की पुष्टि में वह कई प्रमाण पेश करते हैं। उन सब पर यहाँ विस्तृत विचार करना अनावश्यक है परन्तु उनका स्वरूप तो देखना ही चाहिये।

वैडेल कहते हैं कि वेदों में कई जगह सिन्धुप्रदेश और वहाँ के रहनेवालों की ओर संकेत है। जैसे, मरुतों के द्वारा सिन्धु की रक्षा का कई

जगह उल्लेख है। उनका कहना है कि यह मरुत् वस्तुतः सुमेरियों की वह शाखा है जो इराक़ में ऐमेराइत नाम से प्रसिद्ध हुई। क्षत्रिय वह लोग थे जो सिकन्दर के समय तक सिन्ध के आस पास के प्रदेश में खत्ती नाम से और प्राचीन काल में इराक़ में हत्ती या हित्ती (हिट्टाइट) कहलाते थे। इन हत्तियों में नासत्यों --अश्विनों—की पूजा नस्साति नाम से होती थी और यह लोग मित्रावरुण को भी पूजते थे। सुमेरियों की ऐसी मुहरें मिली हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि इन लोगों में पुरोहित को बरगु कहते थे। वैडेल की राय में प्रसिद्ध पुरोहित भृगुवंश का नाम इसी बरगु से निकला है। इसी प्रकार कण्व नामक बरम का भी पता चलता है। बरम का अर्थ था विद्वान। इसका तात्पर्य यह निकाला जाता है कि यह बरम ही ब्राह्मण शब्द का पूर्वरूप है। इन्होंने कई राजवंशों तथा तत्कालीन प्रमुख पुरुषों की वंशावलियाँ उनकी मुहरों से निकाली हैं और उनको पुराणों में दी हुई तथा वेदों से निर्गत वंशावलियों से मिलाकर दोनों की समता दिखलायी है। उदाहरण के लिये यह तालिका लीजिये :—

इसमें अन्तिम नाम नहीं मिलता। इसी प्रकार गाधिवंश की भी वंशावलि तैयार हुई है। इस वंश को सुमेरिअन में गुदिअ वंश कहते थे :—

(= का अर्थ है, विवाह हुआ)

हम दीर्घतमा ऋषि की कथा पहिले दे आये हैं। जब वह नदी में डाल दिये गये तो बहते-बहते अंग देश जा निकले। वहाँ के राजा ने उनको जल में से निकाला। उसको लड़का न था। उसने उनसे कहा कि आप मेरी पत्नी में पुत्र उत्पन्न करें। उन्होंने स्वीकार कर लिया। परन्तु रानी ने उनके पास आप न जाकर उषित् नाम की एक दासी भेज दी। ऋषि सर्वज्ञ थे। इस छल को जान गये पर उन्होंने अपने तपोवल से उस दासी को पवित्र करके ऋषिपत्नी बनाया। उससे उनको एक लड़का हुआ जिसका नाम औषिज कक्षिवान् रक्खा गया। यही अंग का युवराज हुआ। यह लड़का भी ऋषि हुआ। इन्द्र ने प्रसन्न होकर इसको वृचया नाम की एक सुन्दर स्त्री प्रदान की। यह कथा वेद में भी दी है :

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते

(ऋक् १—५१, १३)

हे इन्द्र, तुमने बुड्ढे, स्तुति करने वाले, सोमरस निकालने वाले, कक्षिवान् को युवति वृचया दी।

अब महेंजोदरो में एक मुहर मिली है जो उरिकि (या उरुकि) की रहने वाली दासी उशिज की है। वृचया का नाम वृच, वृक, उरिक, उरिच, उरिकि, उरुचि, इनमें से किसी भी जगह की रहने वाली स्त्री को दिया जा सकता है। जो कथा ऊपर दी गयी है उसके अनुसार वृचया कच्चिवान् की पत्नी थी और दासी उषित् उनकी माता थी। सम्भव है हज़ारों वर्ष के इतिहास में कुछ भूल पड़ गयी हो और वृचया ही उषित नाम की दासी रही हो। जो कुछ हो 'उरिकि की रहने वाली दासी उषिज' और 'दासो उषित्' तथा 'वृचया' के नामों में बहुत सादृश्य है।

इतने संकेत ही पर्य्याप्त हैं। इतना और कह देना आवश्यक है कि वैडेल का यह मत विशेषज्ञों में सर्वमान्य नहीं है। कई लोग इन मुहरों पर खुदे नामों को दूसरे प्रकार से पढ़ते हैं। उदाहरण के लिये पहली तालिका को ही लीजिये :—

वैडेल के अनुसार	दूसरे विशेषज्ञों के अनुसार
उरुअश्	उर निना
मद्गल	अकुरगल
विश्रशनदि	इअन्नतुम
एने तर्षि	एनलि तर्जि

फिर भी जितना सादृश्य निर्विवाद है उतना ही विचारणीय है। अभी इसके संबंध में कोई बात निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती। न हम यही ठीक ठीक कह सकते हैं कि सिन्ध से लोग जाकर इराक में बसे, न इसी का कोई पुष्ट प्रमाण है कि सुमेर से कुछ लोगों ने भारत में उपनिवेश बसाया। वैदिक सभ्यता और महेंजोदरो की सभ्यता का क्या संबंध है यह भी अनिश्चित है। यों तो वेदों में नगरों और क़िलों का भी ज़िक्र आता है परन्तु वैदिक आर्य्यों की सभ्यता कृषिप्रधान ही प्रतीत होती है। महेंजोदरो जैसे सुव्यवस्थित नगरों का पता नहीं चलता। इससे यह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता प्राचीन है और महेंजोदरो काल से कम से कम चार पाँच हज़ार वर्ष पुरानी है। धीरे धीरे उसका विकास हुआ और बड़े बड़े नगर बसने लगे। यह हो सकता है पर इसको मानने में दो तीन बड़ी अड़चनें पड़ती हैं। वेदों में

सोना, चांदी ताँवा के साथ साथ लोहे का बराबर उल्लेख है। वैदिक आर्य्य लोहे से काम लेते थे। परन्तु महेंजोदरो में और धातु मिलते हैं, लोहा नहीं मिलता। वैदिक आर्य्य शस्त्र तो चलाते ही थे, अपने शरीरों की रक्षा के लिये कवच भी पहिनते थे। परन्तु महेंजोदरो या सुमेर में कवच का कोई पता नहीं चलता। यदि इस सभ्यता का विकास वैदिक सभ्यता से हुआ होता तो यह असम्भव था कि यह लोग ऐसी उपयोगी चीज़ों को भूल जाते। वैदिक उपासना में यज्ञों का ही मुख्य स्थान है पर इनके मन्दिरों में उपयुक्त यज्ञकुण्ड या वेदियां नहीं मिलतीं। वेदों में गऊ का महत्त्व है, इनके यहां वृष को प्राधान्य है। यह समझ में नहीं आता कि यह बातें कैसे हुईं। हम यह भी देखते हैं कि वैदिक आर्य्यों के वंशजों में आज भी गऊ का वही, वरन् उससे भी ऊँचा, स्थान है। महेंजोदरो के निवासी घोड़े से भी अपरिचित प्रतीत होते हैं।

यह मानने में भी कठिनाई है कि सुमेरिअन सभ्यता से वैदिक सभ्यता निकली। पहिले तो नगरों में केन्द्रीभूत व्यापारप्रधान सभ्यता ग्रामों में केन्द्रीभूत कृषिप्रधान सभ्यता में कैसे बदल गयी, यह आश्चर्य्य की बात है। सुमेरिअन सभ्यता में लिखने का प्रचार है पर वेदों में लिखने का कहीं स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। यह भी सन्देहजनक है। उन सब देव देवियों और उनके मन्दिरों को छोड़ कर यज्ञयागादि का प्रचार होना भी समझ में नहीं आता।

बात यह है कि यदि यह खोज जारी रही तो इससे न केवल भारत या पश्चिमी एशिया वरन् समस्त मानव सभ्यता के इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ने वाला है। सम्भवतः बहुत से विचार जो आज रूढ़ियों की भाँति पकड़े जाते हैं छोड़ने होंगे। कोई आश्चर्य्य की बात न होगी यदि आर्य्यों के आदि निवास के प्रश्न को निबटाने में भी सहायता मिले। पर अभी तक जो सामग्री मिली है वह अपर्य्याप्त है। जो खुदे हुए लेख मिले हैं उनका क्या अर्थ है, इस संबंध में सब विद्वानों का मत एक नहीं है। अतः उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।

———

बाईसवां अध्याय

आर्य्य संस्कृति का भारत के बाहर प्रभाव

आजकल संस्कृति और सभ्यता नाम लेने से उस संस्कृति और सभ्यता का बोध होता है जिसका सम्बन्ध पाश्चात्य यूरोप और अमेरिका के संयुक्त राज से है। यही देश सभ्यता के रक्षक पोषक माने जाते हैं, यही अपने को जगद्गुरु मानकर दूसरे लोगों को सभ्य और संस्कृत बनाने का दम भरते हैं। यदि इनपर कोई विपत्ति आती है तो कहा जाता है कि पृथिवीतल से सभ्यता और संस्कृति का ही लोप होने जा रहा है।

इस सभ्यता का उद्गम यूनान और तत्पश्चात् रोम से हुआ, इसलिये यह स्वाभाविक है कि यूरोपनिवासी यूनान और रोमवालों का अपने को चिरऋणी मानें। पर इतना तो वह प्रत्यक्ष देखते हैं कि इन देशों की सभ्यता पर कुछ और देशों का प्रभाव पड़ा था। इन देशों में पहिला स्थान मिश्र का है। मिश्र का कई हजार वर्षों का इतिहास प्रायः अविच्छिन्न रूप से मिलता है। उसके खँडहर आज भी उसकी पुरानी संस्कृति का साक्ष्य दे रहे हैं। उसकी सभ्यता यूनान से बहुत पुरानी थी। पाश्चात्य विद्वान ऐसा मानते रहे हैं कि इस पृथिवी पर सभ्यता का उदय पहिले पहिल नील के किनारे मिश्र में ही हुआ।

कुछ थोड़ा सा उपकार फ़िनीशियन लोगों का भी माना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह लोग पहिले ईरान में, फिर शाम में, फिर उत्तरी अफ्रीका में आ बसे पर जहाँ रहे समुद्र के किनारे ही रहे। यह लोग दूर दूर तक समुद्र यात्रा करते थे। ऐसा माना जाता है कि यूरोप ही नहीं प्रत्युत मिश्र को भी इन्होंने कई बातों में सभ्यता का पाठ पढ़ाया है।

इनके अतिरिक्त यूरोपवाले यूरोप के बाहर के दो ही राष्ट्रों को सचमुच जानते हैं या यों कहिये कि दो का ही प्रभाव यूरोप पर थोड़ा बहुत मानते हैं। पहिले तो यहूदी हैं। इन्होंने ही यूरोप को ईसाई धर्म्म दिया है क्योंकि ईसा जन्मना यहूदी थे। दूसरे ईरानी थे। इनकी मिश्रियों, यहूदियों, तथा इराक़ के दूसरे प्रान्त वालों से कई बार लड़ाइयाँ हुईं, दो दो बार इन्होंने यूनान पर आक्रमण किया, फिर सिकन्दर ने ईरान को जीता। इस प्रकार ईरान का अपने पश्चिम के देशों से सैकड़ों वर्षों तक सम्पर्क रहा और एक का दूसरे पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा।

एशिया महाद्वीप के दो और देशों, चीन और भारत, को भी अपनी संस्कृति और सभ्यता पर गर्व है। पश्चिमी एशिया के लोग इनके नामों से तो परिचित थे पर अभी तक पाश्चात्य विद्वानों की यही धारणा रही है कि इनका प्रभाव दूसरे देशों पर बहुत कम पड़ा है। भारत से निकलकर बौद्ध धर्म्म ने समस्त पृथिवी को प्रभावित किया है पर यह बहुत पीछे की बात है।

सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में भारत को कोई विशेष महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया। इसके कई कारण हैं पर इनमें से मुख्य कारण यह है कि भारत का अपने पश्चिमी पड़ोसियों से राजनीतिक संबंध नहीं के बराबर था। ईरानी, यहूदी, यूनानी, मिश्री, इराक़ के दूसरे राज्यों के रहने वाले, जैसे सुमेरी, चैल्डी, हित्ती आदि, आये दिन एक दूसरे से लड़ते और सन्धि करते रहते थे। एक का राज दूसरे पर होता था, एक की सेना दूसरे के देश में जाती थी, एक के सेनापतियों और नरेशों के नाम दूसरे के इतिहास में जगह पाते थे। भारत सबसे अलग था। गुप्त साम्राज्य के समय में तो भारत की सीमा मध्य एशिया तक पहुँचायी गयी पर इसके पहिले किसी भी योद्धा का ध्यान भारत के बाहर नहीं गया। जो महत्वाकांक्षी राजा हुआ, उसने भारत के विभिन्न प्रान्तों के नरेशों को हराया, अश्वमेध या राजसूय यज्ञ किया, चक्रवर्ती कहलाया। कहा जाता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहिले अर्जुन आदि सारी पृथिवी जीत लाये थे। उन्होंने चाहे जो किया

अब ऐतिहासिक सामग्री बहुत मिली है। उसने हमको मिश्रियों और यहूदियों से भी पुराने राष्ट्रों का पता बताया है और इतिहास को कई हज़ार वर्ष पीछे ले गयी है। आठ हज़ार वर्ष पुराने अवशेष यह संकेत करते हैं कि उनके पहिले कई हज़ार वर्षों तक कला की उन्नति होती रही थी।

यह सामग्री एक दूसरी बात का भी प्रमाण देती है। उस प्राचीन काल में भारत इन देशों से सर्वथा अलग नहीं था। भारतीय नरेशों ने जाकर वहाँ अपना शासन स्थापित न किया हो परन्तु भारत का प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा था, यह बात स्पष्ट है। भारतीयों की तो यह धारणा है कि किसी समय भारत से ही सारी पृथिवी ने सभ्यता सीखी। इसका कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु मैं संक्षेप में कुछ बातों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझता हूँ जिनसे तत्कालीन जगत् पर जो आर्य्य छाप थी उसका कुछ पता चल सके। इस पुस्तक के मूल विषय से इसका भी संबंध है।

इराक़ की सबसे प्राचीन सभ्यता तो अक्काद—सुमेर की थी। उसके साथ वैदिक सभ्यता के संबंध के विषय में कौन कौन से मत हैं इसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस संबंध में हॉल के एंशेएट हिस्टरी आव दि नियर ईस्ट से दास के ऋग्वेदिक इण्डिया में उद्धृत यह बात विचारणीय है कि उनकी मूर्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सुमेरिअन लोग दक्षिण भारत के निवासियों से मिलते जुलते थे और सम्भवतः भारत से ही वहाँ गये थे। सुमेर पहुँचने के पहिले ही उनकी संस्कृति बहुत कुछ उन्नति कर चुकी थी।

सुमेर के बाद उस प्रदेश में चैल्डिया—बैबिलोनिया का ज़ोर बढ़ा। इन लोगों का भारत से, विशेषतः दक्षिण भारत से, व्यापारी संबंध था, इसके तो कई प्रमाण मिलते हैं। एक छः हज़ार वर्ष पुराने खँडहर में भारतीय साल लकड़ी का एक टुकड़ा मिला है। यह लकड़ी दक्षिण भारत के सिवाय कहीं और होती ही नहीं। पर उत्तरी भारत से भी संबंध था, इसके भी प्रमाण हैं। उनकी भाषा में मलमल को सिन्धु

कहते थे। यह शब्द बतलाता है कि वह लोग रुई का बना कपड़ा सिन्धु के किनारे से मँगाते थे। उन लोगों में एक प्रकार की एक तौल थी, जिसे मना कहते थे। यह शब्द ऋग्वेद में भी इसी अर्थ में आता है। इनके देवों में सबसे बड़ा स्थान अन का था। कुछ लोगों का मत है कि यह शब्द अहिहन (इन्द्र) का अपभ्रंश है। यह बात हो या न हो, यह लोग अन को असुर या अस्शुर भी कहते थे। अन के बाद बल या बल थे। संभवतः यह वही बल नामक असुर था जिससे वैदिक इन्द्र का युद्ध हुआ था। तीसरे देव का नाम अनु (अग्नि ?) या दगनु (दहन ?) था। इनके एक और देव का नाम विन था। ऋग्वेद के दशम मंडल में वेन नामक देव का ज़िक्र आता है। वायु के अधिष्ठाता देव को यह लोग मतु या मर्तु कहते थे जो मरुत् का ही रूप प्रतीत होता है। सूर्य्य के लिये इनका दिअनिसु नाम दिनेश से ही निकला दीखता है। इनके यहाँ सृष्टि की कथा में बतलाया गया है कि आदि में अप्सु और तिअमत नाम के दो देव थे। यह तो प्रायः शब्दशः उस वैदिक सृष्टिक्रम से लिया जान पड़ता है जिसमें कहा गया है कि आदि में केवल आपः और तम था। आपः का सप्तम्यन्त रूप अप्सु है। कई चैलडियन नरेशों के नाम सुनने में भारतीय से लगते हैं, जैसे सार्गन, अमरपाल, असुरवनिपाल।

इसी प्रदेश में और इसके आस पास मितन्नी, हित्ती, फ़्रिजियन, आदि कई राष्ट्र हो गये हैं। इन सबको विनष्ट हुए तीन हज़ार वर्ष से ऊपर हो गये, अतः इनका विकास इसके बहुत पहिले आरम्भ हुआ होगा। मितन्नियों में इन्द्र, मित्रा-वरुण और नासत्यों (अश्विनों) की पूजा होती थी। इनके नरेशों के नाम जैसे अर्ततन, अर्तसुम, सुतर्न (या सुतर्ण) और दशरत्त (या दशरथ) शुद्ध आर्य्य ढंग के हैं।

वहीं कासियों (या काश्यों) का भी राज्य था। हॉल कहते हैं कि इन लोगों की भाषा आर्य्य थी। यह लोग देवों को बग-अश कहते थे। इनके सबसे बड़े उपास्य सूर्य्य थे। इनको यह लोग सूर्य्य-अश कहते

थे। यह 'अश' प्रथमा विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय है। इसका संस्कृत रूप सु या अस् है। जैसे राम + सु या राम + अस् या रामः। फ्रिजियन लोगों के मुख्य देव बगै-अस और उनकी मुख्य देवी अम्मा थीं। अम्मा अम्ब का और बग भग का बिगड़ा रूप है। यह वैदिक नाम भग यूरोप की भी कई भाषाओं में बग के रूप में आया है।

यहाँ पर इतना अवकाश नहीं है कि हम उन सब राष्ट्रों का, जो आज से चार-पाँच हज़ार वर्ष पहिले विद्यमान थे, वर्णन करें और उनकी संस्कृति की आर्य्य संस्कृति से तुलना करें। इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि मिश्र की सभ्यता में भी कई बातें आर्य्य सभ्यता से मिलती प्रतीत होती हैं। पौराणिक काल और उसके बाद तो आर्य्य सभ्यता मध्य एशिया, चीन, जापान, कम्बोज, स्याम, जावा और लंका तक पहुँची। इतना ही नहीं, मध्य और दक्षिणी अमेरिका के खँडहरों को देख कर कुछ लोगों को भारतीय संस्कृति का आभास देख पड़ता है। पर यह सब पीछे की चीज़ें हैं। हम यहाँ प्रागैतिहासिक काल की विवेचना कर रहे हैं।

उस समय के राष्ट्रों में फ़िनीशियन लोगों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। यह लोग उस समय के व्यापारी तो थे ही, पशु चुरा ले जाना, मनुष्यों को पकड़कर या मोल लेकर दूसरे देशों में बेच देना, डाका डालना—यह सब इनके काम थे। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिणी यूरोप के लोग इनसे घबराते थे। समुद्राटन करने में यह लोग उस समय सबसे आगे थे। इनके मुख्य देवों के नाम बल और उरेन (वरुण)—अस थे। बल के मन्दिर में भीषण नरमेध होता था। मूर्ति के हाथों के बीच में अग्निकुंड होता था। राष्ट्रीय आपत्तियों के समय उसमें सैकड़ों बच्चे डाल दिये जाते थे। युद्ध में पकड़े हुए शत्रु भी जीते जला दिये जाते थे। इनकी अन्तिम बस्ती कार्थेज को कई लड़ाइयों के बाद, जिनको प्युनिक युद्ध कहते हैं, रोम ने नष्ट कर दिया। सैकड़ों दोपों के साथ इन प्युनिकों ने (फ़िनिशियन का ठीक रूप्युप निक

या फ़िणिक ही हैं) सभ्यता के विकास में बड़ी सहायता दी है। भूमध्यसागर के तटवर्तियों ने इन्हीं से जहाज़ चलाना, व्यापार करना, गणित, ज्योतिष, और लेखन कला का ज्ञान प्राप्त किया था। सप्तसिन्धव से इनका जो संबंध प्रतीत होता है उसका अगले अध्याय में सविस्तर वर्णन होगा।

तेईसवां अध्याय

वैदिक सभ्यता का भारत के बाहर प्रचार

(क) पणि

इस पुस्तक में हमने इस मतको स्वीकार नहीं किया है कि आर्य्य-लोग भारत में कहीं बाहर से आये। हमने यह भी नहीं माना है कि वैदिक आर्य्य और यूरोप के निवासी एक ही उपजाति में हैं। फिर भी यह बात तो सर्वमान्य है कि प्राचीन यूरोप की ही नहीं अन्य कई देशों की भी प्राचीन संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति की झलक है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो दोनों किसी एक स्रोत से निकली हों और वहां से इन विभिन्न देशों में स्वतंत्र रूप से फैली हों और समय पाकर विकसित हुई हों या इनमें से एक प्रमुख हो और दूसरी सब उससे निकली हों। मैं इस दूसरे मत को ही मानता हूं। मेरा विश्वास है कि न तो आर्य्यलोग ध्रुव प्रदेश में रहते थे, न मध्यएशिया में, न पश्चिमोत्तर यूरोप में। उनका घर तो सप्तसिन्धव में ही था। यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गयी।

परन्तु यदि यह मत ठीक है तो इस संस्कृति के वाहक कौन थे, अर्थात् किन लोगों ने और किस प्रकार इसे भारत के बाहर के देशों में फैलाया? इस संबंध में पहिला नाम जो ध्यान में आता है वह फिनि-शियनों (प्युनिकों) का है। इतना तो पता चलता है कि इनकी एक बस्ती किसी समय अरब के पूर्वीय या ईरान के दक्षिणी भाग में अरब सागर के तट पर थी। वहीं से यह लोग धीरे धीरे चारों ओर फैले। जैसा कि पिछले अध्याय में दिखलाया गया है इनकी प्रसिद्धि यह थी कि यह लोग पशु चुराते थे, डाका मारते थे, व्यापार करते थे, निर्दयता से हर प्रकार से धन संग्रह करते थे।

वेदों में पणियों का बहुत जगह उल्लेख है। इनका नाम पणि या पणिक व्यापारी के लिये रूढ़ि सा हो गया। कोष के अनुसार

वैश्यस्तु व्यवहर्ता, विट्, वार्त्तिकः, पणिको, वणिक्

अर्थात् वैश्य को व्यवहर्ता, विट्, वार्त्तिक, पणिक और वणिक कहते हैं। इसी पणिक शब्द से पण्य (बिक्री की सामग्री), पण्यवीथिका (छोटे बाजार या पैठ, हाट), आपण (बड़ा बाजार) आदि शब्द निकले हैं। इन पणिकों का जो वर्णन वेदों में आया है उससे प्रतीत होता है कि यह लोग धन कमाने के किसी भी साधन को नहीं छोड़ते थे। ऋक् ६-५१,१४ में सोम से प्रार्थना की गयी है कि वह पणि को नाश करे। वहां पणि को अत्रि और वृक-भक्षक और भेड़िया कहा है। इसी प्रकार ६—६१,१ में सरस्वती को प्रशंसा में कहा गया है कि उन्होंने *आचखादावसं पणिम्*—केवल अपना तर्पण करने वाले पणियों का विनाश किया। 'अपना तर्पण करने वाले' का अर्थ स्वार्थी भी हो सकता है और देवों का तर्पण न करने वाला, उनको यज्ञ भाग न देने वाला, भी हो सकता है। इस दूसरे अर्थ की पुष्टि में प्रमाण भी मिलते हैं। ऋक ६—२०,४ में कहा है

शतैरपद्रन्पणाय इन्द्रात्रदशोणाये कवयेऽर्कसातौ

हे इन्द्र, कुत्स से लड़ाई में डर कर सौ वल के साथ (बड़ी सेना के साथ) पणि लोग भाग गये।

इस मंत्र की दूसरी पंक्ति में महा असुर मायावी शुष्ण का नाम आया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि पणि लोग इन्द्र आदि के उपासक न थे। ऋग्वेद के १० म मंडल के १०८ वें सूक्त में यह कथा आई है कि वल के भट पणि लोग बृहस्पति की गउओं को चुरा ले गये। इन्द्र ने सरमा को पता लगाने के लिये भेजा। किसी प्रकार घूमती फिरती सरमा वहाँ पहुँची जहां गउएं थीं। उसने पणियों से गउओं को छोड़ देने को कहा और यह बतलाया कि मुझे इन्द्र ने भेजा है। इस पर पणियों ने उससे पूछा—

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे कादृशीका यस्येदं दूती रसरः पराकात्

हे सरमा, तुम जिस इन्द्र की दूती बनकर दूर से आयी हो वह इन्द्र कैसा है उसकी सेना कितनी है।

इस से भी यह पता चलता है कि पणि लोग वल के अनुयायी या उपासक थे और इन्द्र के विरोधी। परन्तु कभी कभी इनमें कोई भला-मानस निकल आता है। ऋक् ६—४६ में तीन मंत्रों में बृबु नाम के किसी पणि की प्रशंसा की गयी है जिसने भरद्वाज ऋषि को बहुत सा दान दिया था। यह कुछ ऐसी अनहोनी सी बात थी कि इसका विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझा गया।

यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह पणि आर्य्य थे या नहीं। सम्भव है अनार्य्य रहे हों या अधिक सम्भावना इसी बात की है कि यह लोग आर्य्य थे। न तो इनको म्लेच्छादि के नाम से पुकारा गया है, न इनकी वेषभूषा या भाषा का कोई पृथक् वर्णन है। ऐसा देख पड़ता है कि ये आर्य्यों में बराबर घूमते थे, व्यापार करते थे, व्याज पर रुपया देते थे। परंतु इन्द्र के नहीं वल के उपासक थे,देवपूजक नहीं असुर-पूजक थे। ऐसा भी कुछ अनुमान होता है कि इनकी वस्तियां सप्तसिन्धव के पूर्वी छोर पर कहीं थीं। वहीं यह लोग पशुओं को उठा ले जाते रहे होंगे, वहीं से व्यापार करने निकलते रहे होंगे। सरमा से पणियों ने कहा है कि तुम दूर से आयी हो, अतः जहां वह रहते थे वह जगह आर्य्यों को मुख्य वस्तियों से कुछ दूर रही होगी। जिस बृबु ने भरद्वाज को दान दिया था, उसके लिये कहा है कि वह उच्च स्थान पर अधिष्ठित हुआ, 'कक्षोन गाङ्ग्यः', गंगा के ऊँचे किनारे की भांति। यहां सिन्धु या सरस्वती के कछारों का नाम न लेकर गंगा के कछार का जो नाम लिया गया है उससे यह संकेत निकलता है कि भरद्वाज से बृबु से कहीं गंगा के आस पास भेंट हुई होगी और भरद्वाज ने उसको गंगा के कछार से जो पास में ही था उपमा दी होगी। बृबु का घर, और अनुमानतः दूसरे पणियों की वस्ती, भी वहीं रही होगी, नहीं तो वह विपुल दान देने के

लिये धन कहां से लाता। पणि व्यापारी तो थे ही, पूर्वीय समुद्र के किनारे इनकी वस्तियां रही होंगी।

पणियों का क्या हुआ, इसका कोइ स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण तो नहीं मिलता परन्तु अनुमान करने के लिये तो सामग्री है। पणियों में से बहुत से तो साधारण आर्य्य समाज में क्रमशः मिल गये होंगे। इन्होंने अपनी आसुरी उपासना का परित्याग करके वैदिक और तत्पश्चात् पौराणिक उपासना को अपनाया होगा। इनके वंशज ही आज हमारे समाज में विभिन्न पंक्तियों के वैश्यों, वणिकों, बनियों, बोहरों के रूप में विद्यमान हैं।

कुछ पणियों ने समुद्र के दक्षिणी और पश्चिमी तटों पर भी बस्तियाँ बसायी होंगी। सप्तसिन्धव का व्यापारी माल इधर लाने और इधर का माल वहां ले जाने में इससे सुगमता होती होगी। जब बीच का समुद्र सूख गया तो उनका सप्तसिन्धव से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया होगा। आर्य्य सभ्यता जैसी यह अपने साथ लाये थे वह तो रह गयी पर अब मूल स्रोत से पृथक् पड़ जाने से इनके विकास की धारा स्वतंत्र हो गयी। इस राजपुताना समुद्र के दक्षिणी या पश्चिमी तट पर इनको वह द्रविड़ लोग मिले होंगे जो यहां पहिले से बसे थे। उनके साथ मिलकर रक्त में भी संकरता आयी होगी और संस्कृति में भी। फिर भी अधिक उन्नत होने के कारण पणियों ने न तो अपना नाम छोड़ा न उपासना पद्धति। कुछ संमिश्रण हुआ होगा परन्तु इन्होंने उन लोगों का उपकार ही किया होगा जिनके साथ इनका सम्पर्क हुआ होगा।

अब दास इनको उन फिनिशियनों से मिलाते हैं जिन्होंने सभ्यता की ज्योति पश्चिमी एशिया से लेकर पश्चिमोत्तर यूरोप तक जगायी थी। पणिक, प्युनिक, फिनिक नाम एक दूसरे से बिलकुल ही मिलते हैं। स्वभाव में भी समता देख पड़ती है। वही समुद्र यात्रा का प्रेम, वही धन का लोभ, वही निर्ममता—भेड़ियापन, वही लुटेरापन, वही पशु चुराने की प्रवृत्ति। दोनों ही सभ्य थे। दोनों ही बल आदि असुरों के उपासक थे। बल की मूर्ति के सामने जो नरमेध होता था वह प्युनिक धर्म में दूसरों

के सम्पर्क से आया होगा पर यह भी याद रखना चाहिये कि किसी समय आर्य्यों में भी नरमेध होता था। धीरे धीरे यह प्रथा उठ गयी। शतपथ ब्राह्मण में यह बात इस प्रकार बतलायी गयी है कि आदि में बलि के लिये पुरुष (या ईश्वर) मनुष्य के शरीर में गया परन्तु तन्नारोचत—वह उसको अच्छा नहीं लगा। फिर वह गऊ के शरीर में गया। वह भी अच्छा नहीं लगा। इसके बाद घोड़े फिर भेड़ बकरी के शरीरों को छोड़ा। अन्त में उसने ओषधियों में प्रवेश किया। यह उसे अच्छा लगा। इस छोटे से आख्यान में उन सैकड़ों या हज़ारों वर्षों का इतिहास बन्द है जिनमें नरमेध से आर्य्य याजक फल, फूल, पत्तियों की बलि या हवि तक पहुँचे। पणिकों में यह पुरानी प्रथा प्रचलित रह गयी हो तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। इसी प्रकार वल और इन्द्र की लड़ाई की कथा की स्मृति तो इनमें रही होगी पर यह लोग वलोपासक रह गये।

इन बातों को मिलाने से यह अनुमान होता है कि पणि ही प्युनिक हो गये। सप्तसिन्धव से चलकर इन्होंने तत्कालीन पश्चिमी तट पर अपनी बस्तियां बसायी होंगी, फिर वहां से इनके उपनिवेश ईरान के दक्षिणी और अरब के पूर्वीय किनारे पर बसे होंगे। यह स्वयं अपने इतिहास को दस हज़ार वर्ष पुराना बताते थे। इसमें अतिशयोक्ति होगी, क्योंकि इसका आधार जनस्मृति ही थी परन्तु यदि इनका आदिस्थान कहीं सप्तसिन्धव में था तो इराक़ और शाम पहुँचने में लंबा समय लगना आश्चर्य्य की बात नहीं है। यदि यह अनुमान सत्य है तो समुद्र तट के निवासियों में ही नहीं, वरन् उन सब राष्ट्रों में जिनके साथ इनका व्यापारादि के द्वारा सम्पर्क हुआ होगा पणियों ने आर्य्य संस्कृति फैलायी होगी। इनकी संस्कृति शुद्ध आर्य्य संस्कृति का बिगड़ा हुआ रूप तो पहिले ही थी, सप्तसिन्धव से दूर पड़ जाने पर और भी विकृत हो गयी होगी परन्तु इतने पर भी उसने इन देशों पर आर्य्य सभ्यता की असन्दिग्ध छाप डाल दी।

———

चौबीसवां अध्याय

वैदिक सभ्यता का भारत के बाहर प्रचार

(ख) दस्यु और दास

वेदों में दस्युओं और दासों का वहुत जिक्र आता है। इनको कृष्ण-योनि, काले रंग का, कहा गया है। वैदिक आर्य्यों से इनकी बराबर लड़ाई रहती थी।

त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि

(ऋक ७—५, ३)

हे अग्नि, तुम्हारे डर से काले रंग वाले अपने भोजनों को छोड़ कर भाग गये।

यह काले कौन थे, इसका परिचय इसी से तीन मंत्र आगे मिलता है।

त्वं दस्यूँ रोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय

(ऋक् ७—५, ६)

हे अग्नि, तुमने आर्य्य के लिये अधिक तेज उत्पन्न करके दस्युओं को (उनके) स्थान से निकाल दिया।

ऋक् ४—१६, १३ में इन्द्र को याद दिलाया गया है कि:—

पञ्चाशत्कृष्णानिवप:सहस्रात् ।

तुमने पचास हजार कालों को मारा।

ऋक् १—१०१,१ में इन्द्र की प्रशंसा में कहा गया है :

य: कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना

जिन्होंने ऋजिश्वान् राजा के साथ मिल कर कृष्ण की स्त्रियों को मार डाला (ताकि उनके सन्तान न हो।)

यह कृष्ण एक बलवान दस्यु या असुर था, जिसके साथ दस हजार सिपाही थे।

अब प्रश्न होता है कि यह काले दास और दस्यु कौन थे। पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि यह लोग इस प्रदेश के आदिम निवासी थे जिनसे आक्रमणकारी आर्य्यों की मुठभेड़ हुई। यह बात असम्भव नहीं है। आर्य्य लोग सप्तसिंधव में ही रहते रहे फिर भी यह हो सकता है कि उसके कुछ भागों में अनार्य्य दास और दस्यु भी बसते हों। परन्तु जैसा कि म्योर और रॉथ ने लिखा है दस्यु शब्द का प्रयोग अनार्य्यों के लिये स्यात् ही हुआ प्रतीत होता है और दस्युओं के जितने नाम दिये हैं वह सब आर्य्य व्युत्पत्ति वाले हैं। इससे ऐसा अनुमान हो सकता है कि यह लोग भी आर्य्य थे परन्तु दूसरे आर्य्यों की भाँति नगरों और गाँवों में बस कर खेतीबारी और व्यापार न करके जंगलों पहाड़ों में फिरते थे और शिकार तथा लूट मार से पेट भरते थे। यह वह आर्य्य थे जो अभी आधे असभ्य थे। यदि त्रेता काल में किष्किन्धा-निवासी वन्दर और भालू कहला सकते थे तो दस्युओं का काला कहा जाना भी विशेष आश्चर्य्य की बात नहीं है। इनकी काली करतूतों ने इनको यह उपाधि दिलायी होगी। यह भी हो सकता है कि जंगल जंगल घूमते रहने के कारण इनका रंग कुछ सांवला पड़ गया हो।

इस अनुमान की पुष्टि में कई प्रमाण मिलते हैं। दास को आर्य से पहिचानना कुछ कठिन पड़ता होगा। इस लिये इन्द्र कहते हैं:—

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्

यह मैं आ रहा हूँ देखता हुआ, दास और आर्य्य को चुनता हुआ।

ऋक् १०—४९ में इन्द्र ने आत्मस्तुति की है। वहाँ अपने किये हुए और कामों के साथ उन्होंने यह भी गिनाया है:

न यो रर आर्य्यनामदस्यवे

मैं वह हूँ जिसने दस्यु को आर्य्य नाम नहीं दिया।

दस्यु को आर्य्य कहने का प्रसंग तो तभी आ सकता था जब उसकी आकृति आर्य्यों से मिलती जुलती रही हो।

दास और दस्यु सम्भवतः एक ही समूह के दो नाम हैं। कई जगह इनका एक ही साथ प्रयोग है, जैसे।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।

त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्यदम्भय ॥

(ऋक् १०—२२, ८)

दस्यु अकर्मा, हमारा अपमान करने वाला, अन्यव्रत, अमानुष है। हे शत्रुहन्ता इन्द्र, तुम उसका वध करने वाले हो, दास का भेदन करो।

सम्भवतः अकर्मा और अन्यव्रत का यह तात्पर्य्य है कि यह लोग दूसरे आर्य्यों की भाँति यज्ञयागादि नहीं करते थे और अमानुष का अर्थ यह होगा कि यह दूसरे लोगों से अलग रहते थे। इनको अमानुष मानने का प्रधान कारण इनका वैदिक उपासना मार्ग से दूर पड़ जाना था, इसका संकेत इस मंत्र से मिलता है।

न ते त इन्द्राभ्य स्मदृष्वायुक्तासो अब्रह्मता यदसन्।

(ऋक् ५—३३, ३)

हे इन्द्र, जो लोग हमसे अलग हो गये और ब्रह्म अर्थात् वैदिक कर्म से दूर गये वह तुम्हारे नहीं हैं।

इसका एक और प्रमाण देना पर्य्याप्त होगा। यदु और तुर्वश क्षत्रिय-वर्गीय थे। यह कहीं समुद्र के पार जाकर बस गये थे। वहाँ यह लोग संस्कारों से च्युत हो गये थे। फिर इन्द्र इनको वहां से लाये और लाकर पवित्र किया। इनकी कथा विशेष रूप से ऋक् ४ ३०, १७, ऋक् १—५४, ६ और ऋक् १०—६२, १० में मिलती है, यों उल्लेख तो कई जगह आता है। ऋक् १०—४९,८ में इनको अपना विशेष कृपापात्र बतलाया है परन्तु उल्लेख्य बात यह है कि संस्कारच्युत होने के कारण ऋक् १०—६२, १० में इनको स्पष्ट शब्दों में 'दासा' कहा गया है।

इन सब बातों से यह अनुमान होता है कि दास और दस्यु अर्ध-सभ्य आर्य्य थे। इनकी दो ही गति हो सकती थी। इनमें से कुछ तो धीरे धीरे गाँवों और नगरों में बस गये होंगे और समाज के स्थायी अंग बन गये होंगे। सम्भवतः यही लोग पीछे से शूद्रों में परिगणित हुए

होंगे। शूद्रों के नाम के आगे स्मृतिकारों ने 'दास' शब्द जोड़ने की जो व्यवस्था की है सम्भवतः उसका मूल यही है। परन्तु कुछ दस्यु सप्त-सिन्धव छोड़ कर चले गये होंगे। उनमें कुछ तो समुद्र सूखने पर दक्षिण की ओर गये होंगे और वहाँ के द्रविड़ निवासियों से मिल गये होंगे, कुछ पश्चिम और उत्तर की ओर निकल गये होंगे। भण्डारकर ने 'अर्ली हिस्टरी आव दि डेकन' (दक्षिण का प्राचीन इतिहास) में लिखा है 'ऐतरेय ब्राह्मण में दिखलाया गया है कि विश्वामित्र ने अपने पचास लड़कों की सन्तति को यह शाप दे दिया कि वह आर्य्य बस्तियों के छोरों (सीमाओं) पर रहें। कहा जाता है कि यही आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, और मुतिम हुए। दस्युओं में एक बड़ा भाग विश्वामित्र की सन्तति था।' हरिवंश में कहा है कि वशिष्ठ के कहने से राजा सगर ने शक, यवन, काम्बोज, पारद, पह्लव, कोलि, सर्प, महीशक, दर्व, चोल और केवल क्षत्रियों का वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार छीन लिया और उनको देश के बाहर निकाल दिया। कुछ इसी प्रकार की बात मनुस्मृति के दशम अध्याय में दी हुई है :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेनच॥ (४३)
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवना शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः (४४)
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो वहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः (४५)

यह क्षत्रिय जातियां (जिनके नाम आगे दिये जायंगे) क्रिया लोप से (यज्ञ यागादि क्रिया छोड़ देने से) तथा ब्राह्मणों के अदर्शन से धीरे धीरे वृषलत्व को प्राप्त हो गयीं (वृषल = शूद्र) ॥ पौण्ड्र, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण से जो जातियां बाहर हैं वह चाहे म्लेच्छ भाषा बोलती हों चाहे आर्य्य भाषा बोलती हों, उनको दस्यु कहते हैं।

इन अवतरणों में दो तीन बातें विचारणीय हैं। जिन संस्कारपतित

जातियों के नाम गिनाये गये हैं उनमें कुछ तो दक्षिण भारत की रहने वाली हैं जैसे पौण्ड्र (या पुण्ड्र), चोल (या चौड्र) और केरल, कुछ भारत के पश्चिमोत्तर किनारे या उससे भी पार की रहनेवाली हैं जैसे पारद, पह्लव और शक। यवन तो सबसे दूर के हैं क्योंकि यह नाम यूनानियों का है, जो अपने को आयोनिअन कहते थे। दूसरी बात यह है कि यह स्पष्ट ही कहा है कि दस्युओं में आर्य्यभाषाभाषी भी परिगणित थे। यह बात भी निकलती है कि यह लोग आर्य्य वस्तियों से दूर पड़ गये थे। यदि ऐसा न होता तो चाहे यह स्वयं क्रियालोप कर देते परन्तु 'ब्राह्मणादर्शन' न होने पाता।

इन सब बातों को एकत्र करके ऐसा अनुमान होता है कि जो दस्यु शनैः शनैः दस्युता छोड़ कर व्यवस्थित समाज में शूद्रादि निम्न कोटियों में नहीं आ गये वह या तो लड़ कर निकाल दिये गये या स्वतः देश छोड़ कर चले गये। उनमें कुछ तो दक्षिण गये और वहां के निवासियों से मिल कर संकर संस्कृतियों की सृष्टि में योगदान दिया। वहुत सम्भव है कि सुमेर-महेंजोदरो की सभ्यता किसी ऐसे ही संमिश्रण का परिणाम हो। दूसरे वरावर पश्चिम की ओर बढ़ते गये। जो जितना ही पश्चिम अर्थात् सप्तसिन्धव से दूर होता गया वह उतना ही अपनी पुरानी स्मृतियों को भुलाता गया। कुछ लोग अनुकूल परिस्थिति पाकर इराक़ में ही रुक गये। यहाँ उन्होंने एतद्देशीय सेमेटिक निवासियों से थोड़ा या बहुत मिलकर मितन्नी आदि राज्यों को नींव डाली। जो लोग और पश्चिम बढ़ते गये उनके वंशज यूरोप पहुँचे। सब एक साथ तो आये नहीं, एक के बाद दूसरा प्रवाह आया। पहिले आये हुए पश्चिम की ओर हटते गये। जो सबसे पीछे आये वह यूनान आदि पूर्वीय देशों में बसे। उन दिनों यूरोप निर्जन नहीं था। इन आर्य्यों के पहिले भी दूसरी उपजातियों के मनुष्य रहते थे। यह आर्य्य उनके साथ मिल गये। इसी मेल से आज के यूरोपियनों का जन्म हुआ। यह आर्य्य स्वयं भी आधे जंगली थे पर तत्कालीन यूरोपियनों की अपेक्षा इनकी संस्कृति फिर भी ऊँची थी। इसी लिये इनकी बोलियाँ

प्रधान हो गयीं और संमिश्रण होने पर भी भाषा की रूपरेखा बहुत कुछ आर्य्य भाषा के ढंग की रह गयी। इसी प्रकार जातीय अनुश्रुति तथा उपासना में भी प्राचीन स्मृतियां रह गयीं। जो लोग पीछे आये तथा अपेक्षया अनुकूल प्रदेशों में बस कर अपनी संस्कृति का विकास जल्दी कर पाये उनमें पुरानी भाषा और संस्कृति की झलक अधिक मिलना स्वभाविक है। यही कारण है कि यूनान और रोम की भाषाओं का संस्कृत से बहुत साम्य है और उनकी अनुश्रुतियों में बहुत से वैदिक संस्मरण मिलते हैं। यदि यह अनुमान ठीक है तो स्वदेश में गर्हित दस्युओं ने सप्तसिन्धव के बाहर आर्य्य सभ्यता के प्रचार का काम किया। इसके अतिरिक्त भारत छोड़ने पर ईरानी आर्य्यों का भी अपनी इतस्ततः लंबी यात्राओं में बहुत सी अनार्य्य जातियों से सम्पर्क हुआ होगा जिनको उन्होंने आर्य्य संस्कृति दी होगी।

इससे एक बात और भी समझ में आती है। प्राचीन आर्य्यों में बल आदि असुरों के मारे जाने की भी कथा चली आती थी, वरुण, सूर्य्य, भग, द्यौष्पति, नासत्य, अग्नि, विष्णु, रुद्र आदि देवों की भी उपासना होती थी। जो आर्य्य पूर्ण सभ्य होकर बस्तियों में रहे उनके धार्म्मिक विचारों ने तो दो मुख्य रूप धारण किये। एक रूप वह है जो ईरान में पनपा, दूसरा भारत में प्रौढ़ हुआ। पर जो टुकड़ियाँ कि मूल देश से दूर पड़ गयी थीं और सभ्य आर्य्यों की विचारधाराओं में निष्णात न हो सकीं उनके पास पुरानी कथाएं और पुराने संस्मरण विकृत रूप में रह गये। ईरान में सूर्य्य और अग्नि ईश्वर के सर्वोपरि प्रतीक हो गये, भारत में इन्द्र ने देवराज का स्थान प्राप्त किया जो हज़ारों वर्ष पीछे भी अब तक चला आता है यद्यपि अब भारत में शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना प्रधान है। वेदों में जो विनायक विघ्नकर्त्ता और शमन के योग्य समझे जाते थे वह आज घर घर पुज रहे हैं। पर भारत और ईरान के बाहर यह सब विकास न पहुँचा। कहीं भग की उपासना होती रही, कहीं नासत्य की, कहीं वरुण की, कहीं द्यौष्पति की, यहाँ तक कि किसी किसी जगह बल भी पुजने लगा।

भाषा के विषय में भी मैं यह नहीं कह सकता कि जो भाषाएं यह लोग ले गये वह लौकिक या वैदिक संस्कृत थीं। वह उस मूल भाषा की ही विभिन्न शाखाएं रही होंगीं जिसकी एक शाखा ज़ेन्द और दूसरी संस्कृत हुई।

पचीसवां अध्याय

उपसंहार

अब यह पुस्तक समाप्त हुई। मेरी सफलता असफलता का निर्णय तो विद्वन्मंडली करेगी पर मेरा प्रयत्न यही था कि इस विषय से संबंध रखनेवाली जो कुछ सामग्री प्राप्य है उसका अनुशीलन किया जाय और सभी मतों का यथान्याय प्रतिपादन करके ही अपने मत की पुष्टि की जाय। जिसे मैं अपना मत कहता हूँ वह इस देश का परम प्राचीन मत है। हम लोग बराबर यही मानते आये हैं कि आर्य्य लोग भारत में कहीं बाहर से नहीं आये, यही देश उनका आदि निवास है। इस पुस्तक को पढ़ने से यह सिद्ध होगा कि अब तक जो कुछ अनुसन्धान हुआ है उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो हमको मतपरिवर्तन के लिये बाध्य करे। भारत ही आर्य्य संस्कृति के विकास का क्षेत्र है, यहीं उस संस्कृति का उदय हुआ ऐसा विश्वास इस पुनीत देश के प्रति हमारी श्रद्धा को और भी बढ़ा देता है। मेरी यह अभिलाषा है कि हममें यह श्रद्धा प्रबुद्ध और प्रवृद्ध हो और हम सच्चे अर्थों में आर्य्य कहलाने के अधिकारी हों।

इति शम्

परिशिष्ट (क)

व्रात्य

दासों और दस्युओं का विचार करते समय व्रात्यों की ओर भी ध्यान जाता है। इनका भी वेदों में बहुत जिक्र है। सामान्यतः तो इस शब्द का वही अर्थ लिया जाता है जो मनुस्मृति के दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक में दिया है :

अतऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥

ब्राह्मण का उपनयन संस्कार सोलह, क्षत्रिय का बाईस और वैश्य का चौबीस वर्ष तक हो ही जाना चाहिये। यदि यह वय बीत जाय तो यह तीनों व्रात्य हो जाते हैं और आर्यों में गर्हित गिने जाते हैं। इनके साथ किसी प्रकार का संसर्ग रखना मना है। परन्तु कई ऐसे प्रायश्चित्तों का भी विधान है जिनसे व्रात्य फिर शुद्ध हो सकता है। इनको व्रात्यष्टोम कहते हैं।

पर इस शब्द के कुछ और भी अर्थ होते हैं। वाचस्पत्य कोष में कहा है कि व्रात्य वह है जो *व्रातात् समूहाच्च्यवति*—समूह से गिर जाता है। रामाश्रमी के अनुसार *शरीरायासजीवीव्याधादिर्व्रातः। तद्वयद्वा व्रातमर्हति*—व्याधा आदि शरीर श्रम से जीविका चलाने वाले को व्रात कहते हैं। जो उसके ऐसा हो वह व्रात्य है। अथवा व्रात्य वह है जो व्रात अर्थात् नियमन के योग्य है, दबा कर रखने के योग्य है।

इन सब व्याख्याओं के अनुसार व्रात्य एक व्यक्ति हुआ। जिस किसी का समय से संस्कार नहीं हुआ या जो कोई व्याधा आदि के भांति रहने लगा वह व्रात्य हुआ। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का व्यवहार कुछ अन्य अर्थों में भी होता था। व्रात्य कुछ व्यक्तियों को भी कहते हों परन्तु व्रात्यों के समूह भी होते थे। अथर्ववेद के १५वें काण्ड में व्रात्य महिमा है। पहिला मंत्र है :

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्

व्रात्य घूम रहा था। उसने प्रजापति को प्रेरित किया।

फिर इसके आगे व्रात्य से ही सारे जगत् की सृष्टि बतलायी गयी है। व्रात्य ब्राह्मणादि से ही नहीं सारे देवों से ऊँचा और पूज्य कहा गया है। बीच बीच में यह भी कहा गया है: *कीर्तिश्च यशश्चपुरःसरावैनं कीर्तिगच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद*—जो ऐसा जानता वह कीर्ति और यश को प्राप्त होता है। काण्ड के अंतिम मंत्र का अन्तिम पद है *नमोव्रात्याय* । इस काण्ड का ठीक ठीक अर्थ समझने में लोग असमर्थ रहे हैं। बहुधा पाश्चात्य विद्वानों ने यह मान लिया है कि यह निरर्थक अनर्गल प्रलाप है। सायण ने अपने भाष्य में कहा है: *न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम् अपितु कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्यवचनमिति मन्तव्यम्* ।

यह सब व्रात्यों के लिये प्रतिपादन नहीं है वरन् किसी परम विद्वान् महाधिकारी पुण्यशील विश्वसंमान्य व्रात्य को लक्षित करके कहा गया है जिससे वैदिक यज्ञयागादि कर्म्म करने वाले ब्राह्मण विद्वेष करते रहे होंगे।

जर्मनी के ट्युबिंगेन विद्यापीठ के डा० हावर ने इस विषय का गहिरा अध्ययन किया है। उनका एक लेख हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित भारतीय अनुशीलन में छपा है। उसमें वह कहते हैं कि व्रात्य शब्द व्रात से निकला है। व्रात का अर्थ है व्रत में दीक्षित। व्रात्य लोग आर्य्य थे परन्तु प्रचलित यज्ञयागप्रधान वैदिक धर्म्म को नहीं मानते थे। यह एक प्रकार के साधु या सन्यासी होते थे। एक विशेष प्रकार की वेष भूषा धारण किये घूमा करते थे। इनके उपास्य रुद्र थे। उपासना की विधि योगाभ्यास-मूलक थी और उसके साथ अपना पृथक् ज्ञान काण्ड भी था। हावर के अनुसार अथर्ववेद में व्रात्य रूप से उस महाव्रात्य महादेव रुद्र की ही महिमा गायी गयी है। उनका कहना है कि जो दार्शनिक विचार पीछे से सांख्य योग के रूप में विस्तृत हुए

उनका मूल स्रोत व्रात्यों का उपासना तथा ज्ञान काण्ड था और व्रात्य सम्प्रदाय ही परवर्ती काल के साधु सन्यासियों का पूर्व रूप था।

नगेन्द्र नाथ घोष ने *इण्डोआर्य्यन लिटरेचर ऐण्ड कल्चर* में व्रात्यों के सम्बन्ध में एक दूसरा ही मत प्रतिपादित किया है। उनका कहना है है कि जिन दिनों आर्य्यों ने भारत पर आक्रमण किया—यह बात उनके अनुसार आज से ३०००-३४०० वर्ष पूर्व की है—उन दिनों पूर्वीय भारत में कई प्रबल अनार्य्य राज्य थे। आर्य्यों की छोटी छोटी बस्तियां चारों ओर शत्रुओं से घिरी थीं। उनको इनसे तो लड़ना पड़ता ही था, आपस में भी तकरार मची रहती थी। ऐसी दशा में रक्षा का एक मात्र उपाय यही था कि अनार्य्यों को अपने में मिलाकर अपनी जनसंख्या बढ़ायी जाय। जो अनार्य्य इस प्रकार मिलाये जाते थे वह व्रात्य कहलाते थे और जिन प्रक्रियाओं के अनुसार उनकी शुद्धि होती थी उनको व्रात्य-ष्टोम कहते थे। इस प्रकार एक दो नहीं सैकड़ों व्रात्य एक साथ आर्य्य बना लिये जाते थे।

इस जगह इतना ही कहा जा सकता है कि यह मत बिल्कुल नये ढंग का है। अभी तक तो यही माना जाता रहा है कि जरासन्ध आदि के साम्राज्य वैदिक काल से बहुत पीछे के थे परन्तु घोष महोदय उनको वैदिक युग के समकालीन बताते हैं। दूसरी नयी बात यह है कि यह पूर्वीय नरेश अनार्य्य थे और तीसरी नयी बात यह है कि वैदिक आर्य्यों को रक्तशुद्धि का कुछ भी ख़ियाल न था, उलटे वह धड़ाधड़ अनार्य्यों को अपने समाज में मिला लेते थे। सम्भव है यह अनुसन्धान ही ठीक हो पर अभी इसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

एक तीसरा मत यह है कि व्रात्य शब्द उन आर्य्यों के लिये आता था जिनके लिये व्यवस्थित समाज में स्थान नहीं था। यह लोग इधर उधर घूमा करते थे और अवसर पाकर लूट पाट करते थे, आग लगाते थे, लोगों को विष दे दिया करते थे। अभी न तो यह गावों में कोई व्यवसाय करते थे न नगरों में। यदि इनकी कोई जीविका भी थी तो व्याधा की, जिसका संबंध जंगलों से है। इन बातों को देखकर ऐसा

अनुमान होता है कि व्रात्यों के समूहों की गणना भी स्यात् दस्युओं में होती रही होगी। भेद इतना प्रतीत होता है कि दस्युओं की अपेक्षा यह लोग सभ्य आर्य्यों के अधिक सन्निकट थे। यदि अन्य दस्युओं की भांति व्रात्यों के झुंड भी भारत से बाहर गये तो यह लोग आर्य्य संस्कृति को दूसरों की अपेक्षा अधिक शुद्ध रूप में ले गये होंगे।

परिशिष्ट (ख)

श्री चोकलिङ्गम् पिल्ले का मत

हमने पुस्तक में उन्हीं मतों की आलोचना की है जो लब्धख्याति हो चुके हैं और जिनके मानने वालों की संख्या भी पर्याप्त है। पर इन आलोच्य मतों के सिवाय भी कई ऐसे मत हैं जो आगे चलकर महत्त्व लाभ कर सकते हैं। उदाहरण के लिये अभी पाँच वर्ष हुए श्री वी० चोकलिङ्गम् पिल्ले ने *'दि ओरिजिन आव दि इण्डो-यूरोपियन रेसेज ऐण्ड पीपुल्स'* नामक वृहत् ग्रंथ लिखा है। उनका कहना है कि जिनको यूरोपियन विद्वान् इण्डो-यूरोपियन नाम से पुकार कर एक उपजाति मानते रहे हैं वह लोग वस्तुतः दो उपजातियों के हैं जिनके नाम सुरन और वेलन थे। यह लोग आज से लगभग १०,००० वर्ष पहिले उस महाद्वीप में रहते थे जो किसी समय पूर्वी अफ्रीका से लेकर मलय तक उस जगह था जहाँ आज भारत महासागर है। भूगर्भवेत्ता इसे गोंडवाना महाद्वीप कहते हैं। यहाँ सुरनों और वेलनों में बहुत दिनों तक घोर युद्ध हुआ। लगभग ७,५०० वर्ष हुए गोंडवाना समुद्र के गर्भ में चला गया। विवश होकर दोनों उसे छोड़कर भारत की ओर भागे। पहिले सुरन आये पर वह यहाँ ठहरे नहीं। जल्दी ही भारत के बाहर जाकर यूरोपियन रूस में जा बसे। उनके पीछे पीछे वेलन थे। वह भी रूस पहुँचे पर उनकी एक शाखा भारत में रह गयी और धीरे धीरे चारों ओर फैली। यही लोग भारतीय द्रविड़ों के पूर्वज थे। रूस पहुँच कर दोनों उपजातियों में फिर लड़ाई छिड़ी और २,००० वर्ष तक होती रही। सुरन वेलनों के सामने ठहर न सके। वह घबराकर चारों ओर यूरोप और एशिया में छिटक गये पर जहाँ जहाँ वह गये वेलनों ने उनका पीछा किया। इस संघर्ष काल में दोनों के रहनसहन, विचार, भाषा आदि में, जो प्रारम्भ में सर्वथा भिन्न थीं, सम्मिश्रण हो गया।

वेलनों के बंशजों में केल्ट, ट्यूटन, लेट और वेण्ड तथा सुरनों के वंशजों में लैटिन, यूनानी, ईरानी और आर्य्य (भारतीय) हैं। सुरन उपजाति वेलन से तो हीन थी ही उसकी आर्य शाखा तो सबसे निकृष्ट थी। यह दैवदुर्विपाक है कि उसका नाम भ्रमवशात् इतने गौरव से लिया जाता है। इस मत के अनुसार आर्य लोग पहिले तो गोंडवाना महाद्वीप के डूबने पर भारत के मार्ग से रूस गये और फिर वेलनों के सामने भाग-कर रूस से भारत आये।

बहुत ही मोटे शब्दों में यह कह सकते हैं कि सुरनों की भाषा संस्कृत से और वेलनों की मद्रास की तमिळ से मिलती रही होगी। यह मत अभी नया है पर इसकी पुष्टि में कुछ प्रमाणों का संग्रह किया जा रहा है। ऐसी बात नहीं है कि निराधार कल्पना कह कर इसकी उपेक्षा की जाय।

परिशिष्ट (ग)

वेदों का निर्माणकाल

मैं पहिले भी लिख चुका हूँ कि आस्तिक हिन्दू वेदों को अपौरुपेय, अथच नित्य, मानता है। उसके लिये वेदों के निर्माणकाल का प्रश्न निरर्थक है। वह ऐसा मानता है कि भिन्न भिन्न समयों पर कुछ तपोधनों के अन्तःकरण में समाधि की दशा में मंत्र प्रकट हुए। इन लोगों को ऋषि कहते हैं। ऋषि की व्याख्या है मंत्रद्रष्टा। जिस व्यक्ति पर मंत्र नहीं उतरा वह चाहे कितना बड़ा महात्मा हो ऋषि नहीं कहला सकता। अस्तु। तो इस दृष्टि से वेदनिर्माण का अर्थ हुआ, वेद मंत्रों का अवतरित होना। दूसरे लोग, जो वेदों को अन्य पुस्तकों की भाँति मनुष्यकृत मानते हैं, निर्माण का सीधा अर्थ 'मंत्रों की रचना' करते हैं। मैंने दिखलाया है कि कुछ वेद मंत्र १५,००० वर्ष से भी पहिले के प्रतीत होते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि मंत्रों का आदिकाल इससे बहुत पहिले जाता है। श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने 'वेदकाल निर्णय' नाम का ग्रंथ लिखा है जिसमें एतत्सम्बन्धी ज्यौतिप प्रमाणों का अनुशीलन करके यह कहा गया है कि वेद आज से तीन लाख वर्ष पुराना है।

इन्हीं के चिरञ्जीव श्री गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने 'युग परिवर्तन' नाम की एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें युगों के परिमाण पर व्यापक विचार किया गया है। शास्त्री जी के मत के अनुसार इस कल्प के २८ वें कलियुग को समाप्त हुए सोलह वर्ष हो गये और सं० १९८१ में २९ वां सतयुग लग गया। उनका कथन है कि चतुर्युगी ४३,२०,००० वर्ष में नहीं वरन् १२,००० वर्ष में पूरी होती है।

परिशिष्ट (घ)

यमाख्यान

हमने पुस्तक में उन प्रमाणों की आलोचना की है जिन के आधार पर लोकमान्य तिलक यह सिद्ध करते हैं कि आर्य्य लोग ध्रुव प्रदेश के मूल निवासी थे। कई लोग ऐसे हैं जो इस बात को पूर्णतया सिद्ध नहीं मानते पर उनका ऐसा विचार है कि आर्य्यों को ध्रुव प्रदेश का प्रत्यक्ष ज्ञान था। या तो वह घूमते फिरते कभी वहाँ रहे थे या उनकी कोई टुकड़ी कभी वहां जा बसी थी और फिर बड़ी बस्ती में आ मिली। वह अपने साथ वहां की स्मृतियां ले आयी। इस विचार के आधार में कुछ ऐसी कथाएं हैं जो ध्रुव-निवासवाद की सहायता से कुछ सुबोध सी प्रतीत होती हैं। इन में यम का आख्यान मुख्य है और उसे हम यहां उदाहरण रूप लेते हैं।

उत्तरीय यूरोप वालों में ईसाई होने के पहिले यमीर की कथा प्रचलित थी। उन लोगों का विश्वास था कि दक्षिण की ओर मस्पेलहाइम—अग्नि देश—नामक भूखण्ड था और उत्तर में नाइल्फ़हाइम, बरफ़ का देश। जब दक्षिण की ओर से सूर्य्य का प्रकाश आता था तभी नाइल्फ़हा-इम मनुष्य के बसने योग्य होता था। सृष्टि के आरम्भ में जब दक्षिण की प्रकाश की गरम लपटें बरफ़ पर पड़ीं तो वह गला और उस से मनुष्य की एक आकृति बन गयी। उसका नाम यमीर था। इस कथा का एक रूपान्तर भी है। घर्घर कर के बहते हुए जल को यमीर कहते हैं। वह जब सो जाता है और विस्तृत बरफ़ के व्यूह का रूप धारण करता है तो उसे औग्र्लमीर कहते हैं। वही हिमपुरुर है। उससे पाले के भीमकाय असुर उत्पन्न होते हैं। सोये हुए औग्र्लमीर के शरीर से स्वेद छूटता है और बायें हाथ के नीचे के पसीने से एक स्त्री और एक पुरुष उत्पन्न होते हैं। इस असुर को औधुम्ल-प्रभात गऊ (उषा)—के बार-बार चाटने

से बुरि (सूर्य्य) उत्पन्न होता है जो इसको मार डालता है। इन कथाओं से यह बात निकली कि जिन लोगों में यह प्रचलित थीं उनको उत्तरीय ध्रुव प्रदेश के दृश्विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव था। विशालकाय दैत्य औग्र्लमीर, हिमपर्सर (हिम पुरुष) वर्फ़ के रूप में फैला है। उसको औधुम्ल—उषारूपी गऊ—अर्थात् सूर्य्य की प्रभा चाट चाट कर मार डालती है अर्थात् गला डालती है। जब नाइल्फ़हाइम पर सुर्ट (सूर्य्य) का प्रकाश दक्षिण की ओर से पड़ता है तो उसके गलने से यमीर उत्पन्न हुआ। इस शब्द की व्युत्पत्ति टिमृआ धातु से है जिसका अर्थ है दौड़ना, गरजना। वरफ़ के गलने पर जो प्रबल वेग से जल बह निकलता है वह यमीर है। यमीर पहिला मनुष्य था और वही सबसे पहिले मरा। इस प्रकार ध्रुव प्रदेश के प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर मनुष्य की सृष्टि की कल्पना की गयी, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अवेस्ता में यिम की जो कथा दी है उसका उल्लेख हम कर चुके हैं। यिम के राज्य में प्रकाश और गर्मी है, लोग सम्पन्न हैं। उनको राजचिन्ह के रूप में अहुरमज्द ने एक सुनहरी अंगूठी और एक सोने का काम किया हुआ खड्ग दिया था। यह अंगूठी सूर्य्य और खड्ग सूर्य्य की किरण है। जब जब प्रजा बढ़ी, यम पृथ्वी को बढ़ाते गये, अर्थात् बरफ़ गलती गयी और भूमि निकलती आयी। अन्त में सर्दी बढ़ी और यिम को बाड़े में जाना पड़ा जहां सूर्य्य न होने पर भी अरोरा बोरिआलिस से प्रकाश मिलता रहा। जिस प्रकार यूरोपियन आख्यान में औग्र्लमीर के पसीने से एक स्त्री और पुरुष निकले, इसी प्रकार अवेस्ता में भी यिम के साथ पत्नी रूप से यमिक का उल्लेख है।

अब वेदों में दिये हुए यमाख्यान को लीजिये। पहिले तो इतना स्मरण रखना चाहिये कि वेदों में भी यम अकेले नहीं आते। उनके साथ ही उनकी बहिन यमी का जन्म हुआ। यम शब्द जिस धातु से निकला है उसका उल्लेख पाणिनि के धातुपाठ में इस प्रकार मिलता है: यमोऽपरिवेषणे, यम उपरमे। अर्थात् इसका अर्थ हुआ हटना, घेर लेना, व्याप लेना। यम के पिता विवस्वान् थे। उनका दूसरा नाम गन्धर्व

था। गन्धर्व शब्द या तो धृ धातु से निकला है या ध्रु से या ध्वृ से। इस लिये इसका अर्थ हुआ गति को धारण करने वाला, स्थिर करने वाला या हानि पहुँचाने वाला। तीनों दृष्टियों से यह शब्द आकाश-वाची हो सकता है। अतः यम के पिता का नाम हुआ सूर्य्य या आकाश। माता का नाम था सरण्यु या आप्या योषित। सरण्यु सृ धातु से निकला है अतः उसका अर्थ है दौड़ने वाली। आप्या का अर्थ है व्याप लेने वाली। दोनों प्रकार से यह शब्द उषा या सायंकालीन धुँधले प्रकाश का वाचक हो सकता है।

ऊपर को तीनों कथाओं में संज्ञाओं की निरुक्ति उन लोगों के मत के अनुसार की गयी है जो यह मानते हैं कि यम, यिम और यमीर के आख्यान ध्रुव प्रदेश के अनुभव पर बने हैं और रूपक द्वारा पानी का सर्दियों में जम जाना, उषा की प्रभा के साथ ही जल का बह निकलना सूर्य्य के दक्षिणायन जाने और संध्या होने पर पानी का फिर जमने लगना, इन्हीं सब बातों का वर्णन करते हैं। इनकी सम्मति में यम और यमी प्रकाश और जल हैं।

मैं यहाँ बहुत विस्तार से इस की आलोचना करना अनावश्यक समझता हूँ। ईरानियों की एक शाखा को ध्रुव प्रदेश का प्रत्यक्ष अनुभव रहा होगा, ऐसा मैं पहिले स्वीकार कर चुका हूँ। उत्तरीय यूरोप वालों को तो इस प्रदेश का ज्ञान अवश्य ही रहा होगा। पर वेद के भाष्यकारों ने तो यमयमी की निरुक्ति दिन रात से की है। यम यमी की कथाओं में ऐसी कोई बात नहीं है जो कि भारत के प्रत्यक्ष ऋतुओं और तज्जनित दृश्यविषयों के आधार पर न समझायी जा सके। मुझको तो ऐसा प्रतीत होता है कि यमाख्यान भारतीय है। इसकी स्मृति लेकर ही ईरानियों की एक शाखा ऐर्य्यनवीज गयी और फिर वहाँ के संस्मरणों के साथ मिल जुलकर उनके यहाँ कथा का रूप परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार उत्तरीय यूरोप पहुँचते पहुँचते इसका रूप यों ही विकृत हो चुका रहा होगा, वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति और प्राकृतिक दृश्यों के साँचे में ढल कर और भी विकृत हो गया। इतनी बात तो बनी रही कि

यम किसी न किसी प्रकार का पहिला मनुष्य था, उसके साथ एक स्त्री भी थी, यम और उस स्त्री के जीवन के साथ सूर्य्य, प्रकाश, जल और अँधेरे का कुछ न कुछ संबंध था पर दूसरी बातें यथास्थान बदलती रहीं। दिन, रात, वर्षा के बाद का उजाला, ध्रुवप्रदेश की लंबी रात के बाद का लंबा दिन, यह सभी अनुभव इस एक आख्यान को उलटफेर कर व्यक्त होते चले गये।

ऋग्वेद से ऐसे मत की पुष्टि नहीं होती कि यम की कथा ध्रुवप्रदेश में उदित हुई। जो तर्क वेदों के बल पर इसके पक्ष में दिये जाते हैं उनके दो उदाहरण देता हूँ। '*बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल*' के १९३९ के संख्या ४—१ में एक विद्वान् का एतद्विषयक लेख है। उसमें ऋग्वेद के दशम मंडल के ११७ वें सूक्त के ८ वें मंत्र का इस प्रकार अर्थ किया है : 'प्रथम पाद दो क़दम चलता है; दूसरा तीन क़दम घूमता है; (तीसरा) चार-क़दम वाला सूर्य्योदय के समय पास की खड़ी (तारों की) पंक्तियों को देखता हुआ दो-क़दम-वाले (अर्थात् प्रथम पाद) के पास जाता है' और इससे यह तात्पर्य्य निकाला है कि यम का जन्म उषाकाल में, जब प्रातः प्रभात की किरणें बर्फ़ पर पड़ने लगीं, हुआ। मैं नहीं कह सकता कि यह अर्थ कैसे निकला। वह मंत्र यह है :

> *एक पाद्भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।*
> *चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पंक्तीरुपतिष्ठमानः ॥*

इस सारे सूक्त में अन्नदाता की प्रशंसा की गई है। इसके ऋषि का नाम है आङ्गिरस भिक्षु। इसका सरल अर्थ वही प्रतीत होता है जो पुराने भाष्य और टीकाकारों ने किया है अर्थात्, जिसके पास एक भाग धन होता है वह दो भाग वाले के पास, दो भाग वाला तीन भाग वाले के पास जाता है। जिसके पास चार भाग है वह उससे अधिक वाले के पास जाता है। यों ही श्रेणी बँधी है। एक से एक अधिक धनवाले हैं। यहां कहीं यम का तो प्रसङ्ग नहीं मिलता।

इसी प्रकार कहा जाता है कि यमयमी के प्रसिद्ध कथोपकथन का प्रथम दिन होना भी यह सिद्ध करता है कि इनका जन्म प्रथम दिन—जब लम्बी रात के बाद ध्रुव प्रदेश में बर्फ पर उषा की पहिली किरण पड़ी—हुआ। पहिले तो इस कथोपकथन का रूप ऐसा है कि वह जन्म के दिन हो नहीं सकता था। यमी यम से कहती है कि तुम मुझसे यौन सम्बन्ध करो और यम धर्म्म की दुहाई देकर मना करता है। यह बात सद्योजात शिशुओं की नहीं हो सकती। फिर इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि यह बातचीत प्रथम दिन हुई। जिस मंत्र के सहारे पर यह बात कही जाती है वह इस प्रकार है :

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो विच्यानृन ॥

प्रथम दिन की बात कौन जानता है ? किसने उसे देखा है ? किसने उसका प्रकाश किया है ? मित्र और वरुण का यह जो महान् धाम है उसके विषय में, हे मोक्षबन्ध कर्ता यम, तुम क्या कहते हो ?

इसके पहिले का प्रसंग यह है कि जब यमी ने यम से आग्रह किया तो यम ने कहा कि हम तुम भाई बहिन हैं, असुर प्रजापति के वीर पुत्र, देवचर, सर्वत्र सब कुछ देखते रहते हैं, मैंने ऐसा काम कभी नहीं किया, अतः यह पाप नहीं करूंगा। इसी पर रुष्ट होकर यमी ने यह प्रश्न किया है। तुम नित्यधर्म्म की लम्बी डींग मारते हो पर वस्तुतः सृष्टि के आदि में क्या था, धर्म्म का स्वरूप कैसा था, इत्यादि बातों के विषय में तुम कुछ नही कह सकते। यमी के प्रश्न से यह बात नहीं निकलती कि यह प्रश्न जन्म लेते ही उषाकाल में किया गया। इतना ही नहीं, सूक्त के प्रथम मंत्र में यमी कहती है कि मैं समुद्र के मध्य में, इस निर्जन प्रदेश में, तुम्हारा सहवास चाहती हूँ, प्रातःकाल तथा सायंकाल तो तारे रहते हैं अतः निर्जन स्थान नहीं मिलता। मध्याह्न में जब सूर्य्य आकाशरूपी समुद्र के मध्य में होता है निर्जनता प्राप्त होती है। इससे तो यह अनुमान होता है कि यमी यम से दोपहर को मिली होगी। उस समय दोनों की युवावस्था माननी चाहिये।

परिशिष्ट (ङ)

ऋग्वेद काल का सप्तसिन्धव

पुस्तक के आरम्भ में ऋग्वेद काल के सप्तसिन्धव और तत्कालीन भारत का जो मानचित्र दिया गया है वह श्री अविनाश चन्द्र दास के मत के, जिसको ही मुख्यशः मैंने भी माना है, प्रायः अनुरूप है। उसके सम्बन्ध में कुछ बातों को समझ लेना चाहिये। गङ्गा और यमुना के नाम के साथ मैंने प्रश्नचिन्ह (?) लगा दिया है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में इन नदियों का नाम केवल एक जगह दशम मंडल के ७५वें सूक्त में आता है। वहां सप्तसिन्धव की नदियों के नाम गिनाये गये हैं। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि उस सूची में दी हुई गङ्गा यमुना सप्तसिन्धव की ही कोई छोटी नदियां होंगी। उस सूची में गोमती का भी नाम है पर यह नाम उस गोमती का नहीं हो सकता जो आज लखनऊ जौनपुर होती हुई काशी के पास गङ्गा में गिरती है। सम्भव है कि इन नामों की नदियां उस समय सप्तसिन्धव में रही हों। जब आर्य्य लोग धीरे धीरे पूर्व की ओर बढ़े हों तो उन्होंने अपनी नयी बस्तियों में जिन नदियों को देखा उनको अपने पुराने प्यारे नाम दे दिये हों। नये उपनिवेश बसाने वाले आज भी ऐसा करते हैं। गङ्गा के भगीरथ द्वारा लाये जाने की कथा से भी कुछ ऐसा संकेत निकलता है कि यह नदी पीछे की है।

किसी समय पूर्वी अफ्रीका से लेकर पश्चिमी मलय द्वीपसमूह तक एक महाद्वीप था। वह जलमग्न हो गया है। उसके कुछ बहुत ऊंचे भाग ही बाहर रह गये हैं जो द्वीपों के रूप में अफ्रीका से मलय तक फैले हुये हैं। निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता पर सम्भव है कि ऋग्वेद काल में यह जलमग्न न रहा हो। इसी लिये इसके नाम—गोंडवाना महाद्वीप—के साथ प्रश्नचिन्ह लगा दिया है।

सारा प्रश्न तो इसी बात पर आकर रुकता है कि ऋग्वेद काल था कब। जैसा कि मैंने पुस्तक में दिखलाया है, ऋग्वेद से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी आर्य्यों के निवास स्थान के तीन ओर समुद्र था। सरस्वती समुद्र में गिरती थी। उनको भारत के उस भाग का पता न था जो गङ्गा से पूर्व की ओर है क्योंकि वहां समुद्र था। इसी आधार पर मानचित्र बना है। अर्वली और विन्ध्य पर्वत मालाएँ बहुत पुरानी हैं। भूगर्भ शास्त्र के वेत्ताओं के अनुसार हिमालय इनकी अपेत्ता बहुत नया पहाड़ है और अब भी दृढ़ नहीं है, धीरे धीरे उठ रहा है। दक्षिण की भूमि भी उत्तर भारत की भूमि की अपेत्ता पुरानी है। उत्तर में युक्तप्रान्त से लेकर बंगाल तक की भूमि नदियों द्वारा पहाड़ों से लायी गयी सामग्री से बनी है और अब तक बनती ही जा रही है। वैज्ञानिक तो ऐसा कहते ही हैं कि हिमालय को समुद्र में से निकले अभी बहुत दिन नहीं हुए, पुराणों में भी उसके नये होने की बात मिलती है। सम्भव है कुछ ऐसी स्मृति रही हो। एक आख्यान है कि विन्ध्य को एक बार यह दुःख हुआ कि मैं पहाड़ों में सबसे वृद्ध और श्रेष्ठ हूँ और यह हिमालय सब से छोटा है परन्तु देवगण ने इस पर निवास करके इसको महत्ता दे दी है। क्रोध के मारे उसने अपने शरीर को उठाते उठाते इतना ऊँचा किया कि सूर्य्य का मार्ग अवरुद्ध हो गया परन्तु अपने गुरु अगस्त्य मुनि के कहने से फिर झुक गया। इस कथा में से हिमालय के नये और छोटे होने, विन्ध्य के पुराने होने और मध्य भारत में किसी प्रकार के बड़े भौगर्भिक उपद्रव होने की ध्वनि निकलती है।

विद्वानों की अब तक की खोज के अनुसार प्राचीन काल में उत्तर भारत की जो भौगर्भिक अवस्था थी उसका वर्णन डी० एन० वाडिया ने 'जिऑलोजी आव इण्डिया' में किया है। इस सम्बन्ध में डाक्टर बीरबल साहनी का 'करेण्ट सायन्स' के अगस्त १९३६ के अंक में 'दि हिमालयन अपलिफ्ट सिंस दि ऐड्वेण्ट आव मैन: इट्स कल्ट—हिस्टोरिकल सिग्निफिकेंस' शीर्षक लेख और 'दि कार्टरली जनरल आव दि जिओलोजिकल माइनिंग ऐण्ड मेटालर्जिकल सोसाइटी आव इण्डिया' के

दिसम्बर १९३२ के अंक में वाडिया का 'दि टर्शियरी जिओ सिंक्लाइन आव नार्थ वेस्ट पञ्जाब एण्ड दि हिस्टरी आफ क्वाटर्नरी अर्थ मूवमेण्ट्स एण्ड ड्रेनेज आव दि गैञ्जेटिक ट्रफ़' शीर्षक लेख बहुत प्रकाश डालते हैं । जो लोग इस विषय का विशेष अध्ययन करना चाहते हों उन्हें यह चीजें तथा एतद्विषयक दूसरी पुस्तकें देखनी चाहिये । यहां हम खोज के निचोड़ का संक्षिप्त ज़िक्र ही कर सकते हैं।

बहुत प्राचीन काल में मध्य एशिया के उस भाग में जहाँ आज हिमालय पर्वतमाला है एक समुद्र था । इसकी चौड़ाई कम से कम ४५० कोस थी । इसको टेथिस सागर कहा जाता है । इसके दक्षिणी तट पर कुछ ऊंची भूमि थी । आसाम और काश्मीर में उन दिनों भी भूमि थी, यद्यपि काश्मीर के बीच में एक बड़ी झील थी । धीरे धीरे इस समुद्र का तल ऊपर उठने लगा । यही उठा हुआ समुद्रतल हिमालय पहाड़ है । पहाड़ के उठने के साथ ही उसके दक्षिण ओर की भूमि दबती गयी । इस भूमि पर एक समुद्र लहरें मार रहा था । यह समुद्र आसाम की तलहटी से लेकर सिन्ध तक जाता था । इसके उत्तर की ओर इसके और पहाड़ के बीच में जो भूमि थी उसमें एक महानदी बहती थी । यह आसाम की ओर से आती थी । इसका बहाव उत्तर-पश्चिम की ओर था । मखद के पास यह उस जलधारा में मिलती थी जो आज सिन्धु कहलाती है और यह संयुक्त जल सिन्ध प्रान्त के उत्तरी भाग में कहीं समुद्र में गिरता था । बीच में जो समुद्र पड़ता था उस में कुछ तो उत्तर की ओर से मिट्टी पड़ती थी, कुछ दक्षिण के उस भूभाग से जो गोंडवाना महाद्वीप का उत्तरीय भाग था बह कर आती थी । दक्षिण की कई नदियाँ उन दिनों उत्तरवाहिनी थीं । धीरे धीरे यह समुद्र भर चला । पहिले तो इसमें से कई बड़ी बड़ी झीलें बन गयीं, जिनके चारों ओर ऊँची भूमि थी । क्रमशः यह झीलें भी भर गयीं और उत्तर भारत का [illegible] से पूर्वीय बंगाल तक का मैदान निकल आया । इस बीच में हिमालय का उठना जारी था । राजपुताने का समुद्र अपनी स्मृतिस्वरूप सांभर झील को छोड़ कर मरुस्थल बन गया । जो महानदी पूर्व से उत्तर-

पश्चिम की ओर बह रही थी उसका भी स्वरूप बदला। पहिले तो ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक एक नदीमाल बना हुआ था। इसी से भूगर्भ पण्डित इसको इण्डोब्रह्म (सिन्धुब्रह्म) कहते हैं। अब बीच की भूमि के उठने से यह माला टूट गयी। सप्तसिन्धव या पञ्जाब की नदियाँ सिन्धु में मिलीं, पूर्व की नदियाँ प्रवाह की दिशा बदल कर पूर्ववाहिनी हो गयीं। ज्यों ज्यों पानी हटता गया और भूमि पटती गयी त्यों त्यों इनकी लंबाई भी बढ़ती गयी यहाँ तक कि गङ्गा जी अपने स्रोत से निकलने के थोड़ी ही दूर बाद पश्चिम की ओर घूम जाती थी आज कई सौ कोस चल कर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।

थोड़ा बहुत परिवर्तन अब भी जारी है। हिमालय का उत्थान अभी समाप्त नहीं हुआ। नदियाँ अब भी मिट्टी कंकर का ढेर लाकर अपने किनारे की भूमि को उठा रही हैं परन्तु आज जैसा नक़शा उत्तर भारत का है वैसा आज से लगभग २५-३० हज़ार वर्ष पहिले बन चुका था। इस बीच में ऋतु की तीव्रता में कुछ हेरफेर हुआ, भूमि की उर्वरता में परिवर्तन हुए, कुछ नदियों के मार्ग बदले, पर यह सब छोटी बातें हैं। मुख्य रूप से भारत के पृष्ठ का स्वरूप पिछले २५-३० हज़ार वर्षों से प्रायः ज्यों का त्यों है। अतः हमने जो सप्त-सिन्धव का मान चित्र दिया है वह न्यूनाधिक उस परिस्थिति के अनुकूल है जो २५-५० हज़ार वर्ष के बीच में रही होगी।

इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि जिन दिनों उत्तर का समुद्र भर रहा था और गढ़ा पट कर वहां भूमि बन रही थी उन दिनों काश्मीर और पश्चिमोत्तर पञ्जाब की ओर मनुष्य बसते थे। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य को पृथिवी पर आये ३ लाख वर्ष से ऊपर नहीं हुए। आदिम मनुष्य तो वानर थे। इन किम्पुरुषों की आकृति मनुष्य की आकृति का पूर्व रूप थी, बुद्धि में भी मानव बुद्धि का बीज विद्यमान था पर इतनी योग्यता इनमें नहीं थी कि सिवाय अपनी हड्डियों के कोई और निशानी छोड़ जाते। पचासों हज़ार वर्ष में चट्टानों को खोद कर उन पर चित्र अंकित करने, पशु पालने या पत्थर के शस्त्र बनाने की कला

आयी होगी। जिन लोगों ने ऐसी चीज़ें तय्यार कीं वह अपने पूर्वजों से वर्ष संख्या में ही नहीं संस्कृति और सभ्यता में कई हज़ार, वर्ष आगे थे। इन लोगों के बनाये पत्थर के औज़ार, जिनके कुछ नमूने मिल चुके हैं, हमको मानव इतिहास के उन पृष्ठों की ओर ले जाते हैं जो आज से लाख, डेढ़ लाख वर्ष पहिले लिखा गया था।

क्या आर्य्य लोग इन्हीं आदिम मनुष्यों के वंशज थे ? हम नहीं कह सकते। संभव है, वह कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गये हों पर यदि ऐसा हुआ तो इस बात को इतने दिन हो गये कि उनको अपने पुराने घर और वहाँ से भारत तक की यात्रा की कोई स्मृति नहीं रह गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सप्तसिन्धव के सिवाय कोई दूसरा देश देखा ही नहीं। कभी पत्थर के शस्त्र भी चलाये जाते थे इसका संकेत नीचे के मंत्र में है पर यह प्रस्तरयुग भी सप्तसिन्धव में ही बीता प्रतीत होता है :

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥

(ऋक ७—१०४, ५)

इन्द्र और सोम अन्तरिक्ष से चारो ओर आयुध भेजो। अग्नि से तपाये हुए, तापक प्रहार वाले, अजर और पत्थर के बने अस्त्रों से राक्षसों के पार्श्व-स्थान को फाड़ो। वह चुपचाप भाग जायं।

जब तक कोई पुष्टतर प्रमाण इसके विरुद्ध न मिले तब तक हम यह मानने को बाध्य हैं कि इन लोगों ने सप्तसिन्धव में रहते हुये अपने पूर्व और दक्षिण की ओर समुद्र देखा था, इनके सामने ही गङ्गा की धारा पूर्व की ओर मुड़ी और धीरे धीरे समुद्र की जगह मनुष्य के बसने के योग्य भूमि पड़ी।

इसका तात्पर्य्य यह निकला कि ऋग्वेद काल २५—५० हज़ार वर्ष पुराना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऋग्वेद का प्रत्येक मंत्र २५-५० हज़ार वर्ष पुराना है। सम्भवतः इन में से एक भी इतना प्राचीन नहीं

है। सभी वहुत पीछे के हैं। परम आस्तिक लोग भी ऐसा मानते हैं कि श्रुति का वहुत सा भाग लुप्त हो गया है तथा समय समय पर *श्रुतिरन्या विधीयते* —नया श्रुति प्रकट होती है। पुरानी बातें नये मंत्रों के द्वारा व्यक्त की गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने मंत्रों की भाषा भी परिवर्तित की गयी है। परन्तु पुरानी स्मृतियों की यथा सम्भव रक्षा की गयी है। वह लुप्त नहीं होने पायी हैं। 'यथासम्भव' इस लिये कहता हूँ कि सब प्रयत्नों के होते हुए भी सब बातें याद नहीं रह सकती थीं। इस मंत्र को लीजिये, जो दशम मंडल के ८५ वें सूक्त की १३ वां ऋचा है :

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

इसका अर्थ तो यह है कि सूर्य्या के विवाह में बिदाई के समय सूर्य्य ने जो चादर दिया था वह आगे आगे चला। उसके साथ गउएं भी दी गयी थीं। वह गउएं मघा नक्षत्र में डंडों से पीटी जाती हैं और दोनों फाल्गुनी नक्षत्रों में चादर रथ पर ले जाया जाता है। अब इस शव्दार्थ से तो कुछ समझ में नहीं आता। प्राचीन टीकाकारों ने कोई भावार्थ निकालने का यत्न भी नहीं किया। पर आजकल इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि सूर्य्य की गोरूप किरणें मघा में डंडे से पिटती थीं अर्थात् उनकी गति बड़ी धीमी पड़ जाती थी। फाल्गुनी आने पर उनके साथ का चादर अर्थात् प्रकाश रथ पर ले जाया जाता था अर्थात् तेज़ चलने लगता था। इस का अर्थ यह निकाला जाता है कि उन दिनों सूर्य्य की दक्षिणायन यात्रा मघा में पूरी होती थी और फाल्गुनी से उत्तर यात्रा आरम्भ होती थी। ज्योतिषी कहते हैं कि यह वात आज से लग-भग १६,००० वर्ष पहिले की है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जिन लोगों को ज्योतिष का इतना ज्ञान था उनकी संस्कृति उस समय भी कई हज़ार वर्ष पुरानी रही होगी। एक एक नक्षत्र १३ अंश २० कला का होता है। इतना सूक्ष्म नाप कर लेना जल्दी नहीं आ सकता। पर यह १६—१७ हज़ार वर्ष पुराने मंत्र अपने

समय से बहुत पहिले का संकेत करते हैं। उदाहरण के लिये दशम मण्डल के १४ वें सूक्त को लीजिये। इसमें पितरों का वर्णन है। यह आर्य्यों के पूर्वपितर हैं जिनको मरे इतने दिन हो गये थे कि उनको प्रणाम करते समय

नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः

कहा जाता है। यह लोग पूर्वज तो थे ही, पथिकृत् भी थे, इन्होंने ही वह पथ बनाया था जिस पर चल कर अन्य सब लोग यम के यहां जाते हैं। यह पितृगण देवों के समकक्ष हैं। तीसरा मंत्र कहता है :

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।

याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्

इन्द्र कव्याद पितरों की सहायता से, यम अङ्गिरों की, बृहस्पति ऋक्कों की सहायता से बढ़ते हैं। जिनको देवगण बढ़ाते हैं और जो देवों को बढ़ाते हैं।

यहां ऐसे पितरों का स्पष्ट ही जिक्र है जिनको शरीर छोड़े इतने दिन हो गये थे कि उसकी कोई याद अवशिष्ट नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वह देवों के साथ ही उत्पन्न हुए और उन्हीं के चले मार्ग पर चल कर दूसरे मनुष्य यमसदन जाते हैं। अनुमान यह होता है कि जब यह मंत्र बने उससे १० हज़ार वर्ष से कम पहिले की यह बात न होगी। इससे भी ऋग्वेद काल २५ हज़ार वर्ष से पहिले की ही ओर जाता है। कितना पहिले, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। दास ने वेल्स के *आउटलाइंस आव हिस्टरी* से अवतरण देकर दिखलाया है कि कई विद्वानों का ऐसा मत है कि आज से १०—१२ हज़ार वर्ष पहिले ऐसे अर्धसभ्य मनुष्य जो खेती करना और पशु पालना जानते थे ईरान, भारत या एशिया के दक्षिण पश्चिम के किसी अन्य भाग से जा कर यूरोप में फैले। यही यूरोप की गोरी जातियों के पूर्वज थे। हमारा अनुमान है कि यह अर्धसभ्य लोग आर्य्यों की ही शाखा थे। इससे भी अनुमान होता है कि सभ्यता

[illegible] उस अवस्था तक पहुँचने में उनको अपने मूलदेश में कई हज़ार वर्ष लगे होंगे।

इन सारी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज से २५ हज़ार वर्ष से भी पूर्व आर्य्य लोग सप्तसिन्धव में बसे हुए थे तथा ऋग्वेद में उस समय की स्मृति और झलक है। सब के सब मंत्र उसी ज़माने का चर्चा नहीं करते पर ऋग्वेद काल तभी से आरम्भ हुआ और ऋग्वेदीय आर्य्य संस्कृति का विकास सप्तसिन्धव में तब से ही शुरू हुआ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति		के स्थान में		पढ़िये
३९	२५	ह्न्याभूत	,,	ह्न्याभूत्	,,
४०	४	भितज्ञु	,,	मितज्ञु	,,
४३	१०	ईखया	,,	ईंखया	,,
४५	८	मत्कणोद	,,	मत्तणोद	,,
५६	११	मीळ	,,	मीळ	,,
९२	६	सत्कदे	,,	सत्तदे	,,
९६	१०	ज्योतीर्षि	,,	ज्योतींपि	,,
११२	१५	तासामविश्नौ	,,	तासामश्विनौ	,,
१२३	१२	व्योमापरो	,,	व्योमापरा	,,
१२९	१६	क्रर्मात	,,	क्रमीत्	,,
१३४	१	१२०	,,	१२७	,,
१३४	११	यवस्तेन	,,	यवयस्तेन	,,
१५४	९	नदयो	,,	नद्यो	,,
१६४	१२	उपसेचे	,,	उपसेच	,,